

प्राक्कथन

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम, त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति तच्चाग्रचारू कलिका निकरैक हेतुः॥

आदिब्रह्मा आदिनाथ की इसी प्रकार मरणपर्यन्त स्तुति करता रहूँ, ऐसी भावना है। शोधकार्य सदैव से ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं श्रमसाध्य कार्य रहा है। जयपुर के दिगम्बर जैन कॉलेज में पढ़ते हुए और सांगानेर के आचार्य ज्ञानसागर छात्रावास में निवास करते हुए जब मैंने जैनदर्शन से आचार्य करके बी.एड. किया तब मेरे परम मित्र डॉ. आनन्द कुमार जैन ने मुझे शोधकार्य करने की प्रेरणा दी। उससे प्रेरित होकर मैंने भी इसके लिए मन बनाया। मित्र की निरन्तर प्रेरणा एवं उत्साह ने मुझे और अधिक मजबूती और दृढ़ता प्रदान की। उसने जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ का नाम प्रस्तावित किया और अवलोकन करने का सुझाव दिया।

जैन विश्वभारती और विशाल वर्द्धमान ग्रन्थालय को देखकर मन प्रसन्न हो गया और निश्चय किया कि शोधकार्य यहीं करना है। डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन, सह आचार्य, प्राकृत एवं जैनागम विभाग से मिलने पर ज्ञात हुआ कि आचार्य देवसेन स्वामी की कृतियों पर कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ। जब डॉ. जैन ने इनकी कृतियों में 'दार्शनिक दृष्टि' विषय का सुझाव दिया तो मैंने भी उसमें सहमति प्रकट की। इसप्रकार मैं जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय में प्राकृत एवं जैनागम विभाग जिसका अब संस्कृत एवं प्राकृत विभाग नाम हो गया है, में शोधकार्य से जुड़ा, जिसे आज पूर्ण करके शोध उपाधि हेतु विश्वविद्यालय को सौंपते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त हैं। जो क्रमशः -

- प्रथम अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में तात्त्विक विवेचन
- द्वितीय अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में नयात्मक दृष्टि
- तृतीय अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में गुणस्थान विवेचन
- चतुर्थ अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में साधनापरक दृष्टि

पञ्चम अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में विभिन्न मतों की समीक्षा
षष्ठ अध्याय : आचार्य देवसेन की कृतियों में अध्यात्मपरक दृष्टि

आभार

सर्वप्रथम आर्ष परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणी काल के युगप्रवर्तक श्री आदिनाथ भगवान् से लेकर वर्तमान शासन नायक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर, श्री गौतम स्वामी आदि गणधर तथा परम्परा को निरन्तर प्रवाहमान रखने में श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी, आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि, सर्वमंगल स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आदि आचार्यों को नमन करता हूँ जिनके कारण हम आज उनके वंशज और उनकी परम्परा में होने का गर्व महसूस कर रहे हैं। परम श्रद्धेय सन्त शिरोमणी आचार्य श्री विद्यासागर महाराज और उनके परम शिष्य मुनि पुंगव श्री सुधासागर महाराज के चरणों में कोटि-कोटि नमन करता हूँ जिनके आशीर्वाद और प्रेरणा से यह शोधकार्य करने में सक्षम हो सका हूँ।

मेरे शोधकार्य के प्रेरणाप्रदाता, सरल, सहज, उदारमना व्यक्तित्व के धनी, जैनदर्शन एवं प्राकृत भाषा के तलस्पर्शी ज्ञाता श्रद्धेय डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन, अध्यक्ष एवं सह-आचार्य, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर, (राजस्थान), जिन्होंने मुझे शोधकार्य करने का आत्म-विश्वास, उत्साह प्रदान किया, मैं आपके प्रति हृदय से अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ। शोधकार्य की पृष्ठभूमि, क्रियान्विति एवं परिणति इन सबमें आपकी प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सम्बल प्राप्त है। शोधकार्य में जो योग्य कार्य बन सका आपका है एवं शिथिलता में हमारा अज्ञान तथा प्रमाद कारण है। इसी प्रकार की सत्प्रेरणा एवं मार्गदर्शन सदैव मिलता रहे, ऐसी कामना रहता हूँ।

आचार्य ज्ञानसागर छात्रावास सांगानेर के अधिष्ठाता पद को सुशोभित करने वाले आदरणीय पं. श्री रतनलाल जी बैनाड़ा, छात्रावास के निदेशक एवं दिगम्बर जैन कॉलेज जयपुर के प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द्र जैन, प्रो. कमलेश कुमार जैन, डॉ. अशोक कुमार जैन वाराणसी, प्रो. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित करने वाले प्रो. जगतराम भट्टाचार्य की निरन्तर शोधकार्य करते रहने

की प्रेरणा तथा विषय एवं भाषागत सुझावों ने शोध को सुगम और गौरवमय बनाया है। आप सभी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

विश्वविद्यालय प्रमुख कुलपति महोदया डॉ. समणी चारित्रप्रज्ञा, पूर्व कुलपति महोदया डॉ. समणी मंगलप्रज्ञा, शोध निदेशक प्रो. बच्छराज दूगड़, प्राध्यापक, समणी वर्ग की प्रेरणा तथा सुझावों ने शोध को सुगम एवं गौरवमय बनाया। अतः आपका हृदय से उपकार मानते हुए आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री शरद जैन एवं श्रीमती मनीषा जैन, जिन्होंने अपने छोटे भाई की तरह स्नेह दिया और शोधकार्य में आगत समस्त बाधाओं को दूर करते हुए प्रेरित करते रहे। श्रीमती सीमा जैन एवं श्रीमती मीना जैन धर्मपति डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन का भी ससम्मान आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी प्रेरणा से मुझे शोध में गति प्राप्त हुई। श्री राजेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती मीना जैन का भी सहयोग रहा। विश्वविद्यालय के अन्य समस्त अधिकारीगण तथा पुस्तकालय की श्रीमती महिमा जैन एवं अन्य सभी कर्मचारीगण का यथोचित सहयोग मिला। अतः इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने पूज्य पिताजी श्रीमान् शीलचन्द जैन को स्मरण करके भाव विह्वल हूँ, जिनकी प्रेरणा हमेशा श्रमसाधना के लिये रहती है एवं श्रद्धेया पूज्य माताजी श्रीमती सुधा जैन के चरणों में नतमस्तक हूँ, जिनकी प्रेरणा सदैव धर्ममार्ग एवं साहित्य साधना के लिये रहती है। ताऊजी, ताईजी - श्री कोमलचन्द जैन, श्रीमती सरोज जैन, चाचाजी चाचीजी - श्री कैलाशचन्द जैन, श्रीमती राजकुमारी जैन, अग्रज श्री विजय जैन, आनन्द जैन एवं अनुज सौरभ जैन, शुभम जैन, राहुल जैन तथा प्रिया अनुजा दीपिका जैन के प्रति हृदय आह्लादित है, जिनके आशीर्वाद एवं स्नेह से शोधकार्य में प्रेरणा मिली। इष्ट मित्रों एवं विद्वान् साथियों में डॉ. आनन्द कुमार जैन, वीरेन्द्र जैन, विकास सिंघई, श्री संजीव जैन, श्री मुकेश जैन, अनन्त बल्ले, डॉ. मुकेश जैन, डॉ. पुलक गोयल, सतेन्द्र जैन, अभिषेक जैन, नवीन जैन, रामनरेश जैन, प्रशान्त भारिल्ल, डॉ. सुमत जैन आदि सभी का आभार व्यक्त करता हूँ जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमें मार्गदर्शन या सहयोग मिला।

अन्त में श्री सुधीर कुमार झा एवं श्री घनश्याम तिवारी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने कड़ी मेहनत, लगन एवं निष्ठापूर्वक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को टङ्कण-कार्य कर पूर्णता प्रदान की।

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क
प्रमाणपत्र	
प्राक्कथन	i-iii
प्रस्तावना	1-16
❖ विषय प्रवेश	2-8
❖ आचार्य देवसेन स्वामी का व्यक्तित्व	8-10
❖ समय एवं कृति निर्धारण	10-16
❖ समकालीन आचार्य	16
प्रथम अध्याय	17-68
आचार्य देवसेन की कृतियों में तात्त्विक विवेचन	
❖ प्रथम परिच्छेद : सत् का स्वरूप	18-19
❖ द्वितीय परिच्छेद : तत्त्व का स्वरूप एवं भेद	20-47
❖ तृतीय परिच्छेद : द्रव्य का स्वरूप एवं भेद	48-58
❖ चतुर्थ परिच्छेद : द्रव्य के सामान्य एवं विशेष गुण	59-62
❖ पञ्चम परिच्छेद : पर्याय का स्वरूप एवं भेद	63-66
❖ निष्कर्ष	67-68
द्वितीय अध्याय	69-99
आचार्य देवसेन की कृतियों में नयात्मक दृष्टि	
❖ प्रथम परिच्छेद : नय का स्वरूप एवं भेद	70-87

❖ द्वितीय परिच्छेद : उपनय का स्वरूप एवं भेद	88-93
❖ तृतीय परिच्छेद : नय की अपेक्षा स्वभाव वर्णन	94-96
❖ चतुर्थ परिच्छेद : प्रमाण का स्वरूप एवं भेद	97
❖ निष्कर्ष	98-99

तृतीय अध्याय 100-201

आचार्य देवसेन की कृतियों में गुणस्थान विवेचन (आत्मविकास की अवस्थायें)

❖ प्रथम परिच्छेद : गुणस्थान का स्वरूप एवं भेद	101-193
❖ द्वितीय परिच्छेद : भाव एवं गुणस्थान	194-195
❖ तृतीय परिच्छेद : ध्यान एवं गुणस्थान	196
❖ चतुर्थ परिच्छेद : लेश्या एवं गुणस्थान	197-199
❖ निष्कर्ष	200-201

चतुर्थ अध्याय 202-362

आचार्य देवसेन की कृतियों में साधनापरक दृष्टि

❖ प्रथम परिच्छेद : आराधना का स्वरूप एवं भेद	203-239
❖ द्वितीय परिच्छेद : ध्यान का स्वरूप एवं भेद	240-291
❖ तृतीय परिच्छेद : श्रावक के अष्ट मूलगुण और बारह व्रत	292-321
❖ चतुर्थ परिच्छेद : दान का स्वरूप, भेद एवं फल	322-345
❖ पञ्चम परिच्छेद : पुण्य का मुख्य कारण - पूजा	346-360
❖ निष्कर्ष	361-362

पञ्चम अध्याय 363-390

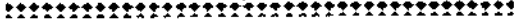
आचार्य देवसेन की कृतियों में विभिन्न मतों की समीक्षा

❖ प्रथम परिच्छेद : विभिन्न मतों की उत्पत्ति, कारण और समय	364-365
--	---------

❖ द्वितीय परिच्छेद : पाँच मिथ्यात्वी मतों का खण्डन	366-379
❖ तृतीय परिच्छेद : सृष्टि सम्बन्धी समीक्षा	380-384
❖ चतुर्थ परिच्छेद : चार्वाक मत की समीक्षा	385-386
❖ पञ्चम परिच्छेद : सांख्यमत की समीक्षा	387-389
❖ निष्कर्ष	390
षष्ठ अध्याय	391-414
आचार्य देवसेन की कृतियों में अध्यात्मपरक दृष्टि	
❖ प्रथम परिच्छेद : स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्व	392-397
❖ द्वितीय परिच्छेद : विभिन्न उपमाओं वाला आत्मा	398-403
❖ तृतीय परिच्छेद : स्वशुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय	404-406
❖ चतुर्थ परिच्छेद : परम लक्ष्य शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी	407-408
❖ पञ्चम परिच्छेद : अन्य दर्शनों में आत्मतत्त्व	409-413
❖ निष्कर्ष	414
उपसंहार	415-424
परिशिष्ट	425-433
❖ प्रथम परिच्छेद : जिनकल्प और स्थविरकल्प	426-428
❖ द्वितीय परिच्छेद : विभिन्न संघों की उत्पत्ति	429-433
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	434-441



प्रस्तावना



विषय प्रवेश

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर प्राचीन भारत में दो श्रमण परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। जिसमें जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समान रूप से प्रथम परम्परा में सम्मिलित हैं एवं द्वितीय वैदिक परम्परा। इन दोनों परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र चिन्तन, अस्तित्व, आचार संहिता और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है।

जैन मान्यतानुसार प्रवर्तमान पंचमकाल के प्रारम्भ होने में जब 3 वर्ष 8-माह 15 दिन शेष रह गए थे, तब भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण की प्राप्ति हुई। उससे पूर्व महावीर स्वामी ने केवलज्ञान रूपी ज्योति के द्वारा 30 वर्ष तक लोक के समस्त प्राणियों का कल्याण किया। तीर्थंकर प्रदत्त भावों को हृदयङ्गम किये हुए जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है जिसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि को हृदयङ्गम कर उनके प्रधान एवं प्रथम शिष्य गौतम गणधर ने बारह अंगों में निबद्ध किया। वह भावश्रुत और अर्थपदों के कर्त्ता तीर्थंकर हैं, श्रुतपर्याय में निमित्त होने से गौतमस्वामी द्रव्यश्रुत के कर्त्ता हैं। आशय यह है कि इस युग के प्रथम सूत्रकर्त्ता गौतम गणधर हैं। इस प्रकार श्रुत का मूलकर्त्ता तीर्थंकर को माना गया है, उत्तरसूत्रकर्त्ता गणधर एवं उत्तरोत्तर सूत्रकर्त्ता अन्य आचार्य हैं। अतः समस्त वाङ्मय अनुभूति, ज्ञान और चिन्तन इन तीनों के समन्वय का प्रतिफल है। शब्द और अर्थ के योग में स्वानुभूति के सत्य की स्थापना कर आचार्य अभिव्यक्ति को एक नया परिवेश प्रदान करते हैं। जिस सूत्रार्थ ज्ञान को आचार्यों ने परम्परा से प्राप्त किया है उसी ज्ञान को जनमानस में सहजरूप से व्यक्त कर उद्बोधन का कार्य करते हैं। आचार्य परम्परा का कार्य श्रुतज्ञान का संरक्षण और प्रवर्तन है। तीर्थंकर के मुख से निस्सृत वाणी को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का कार्य आचार्य परम्परा का विशिष्ट कार्य है। दिगम्बराचार्यों ने महावीर की परम्परा को जीवित रखने के लिए अगणित ग्रन्थों का प्रणयन कर अपनी साधना में गुणात्मक परिवर्तन कर परम्परा को जीवन्त रखा है।

महावीर स्वामी के निर्वाणोपरान्त 12 वर्षों तक गौतम स्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त करके श्रुतज्ञान को गति प्रदान की। इनके पश्चात् 12 वर्षों तक सुधर्माचार्य केवली रहे तत्पश्चात् 38 वर्षों तक जम्बूस्वामी केवली रहकर श्रुतपरम्परा को प्रवाहित करते रहे। इस

प्रकार 62 वर्षों तक इन तीनों केवलियों की ज्ञानज्योति प्रकाशित रही। तत्पश्चात् विष्णुमुनि को आदि लेकर भद्रबाहु स्वामी तक पाँच श्रुतिकेवलियों ने 100 वर्षों तक ज्ञानदीप को प्रज्वलित रखा। तदुपरान्त विशाखाचार्य को आदि लेकर धर्मसेन तक 11 दशपूर्वधारी आचार्यों ने 183 वर्ष तक श्रुत का प्रवाह निरन्तर बनाये रखा। तत्पश्चात् आचार्य नक्षत्र को आदि लेकर आचार्य कंस तक ग्यारह अंग के धारक आचार्यों ने 123 वर्ष तक श्रुत की परम्परा को निरन्तर प्रवहमान रखा। तत्पश्चात् एकांगधारी आचार्य अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन और पुष्पदन्त-भूतबलि ने 118 वर्ष तक जिनशासन प्रकाशित किया। परन्तु कालदोष के प्रभाव से जनसामान्य में क्षयोपशम की मन्दता प्रकटित होने लगी तब जिनशासन का हास न हो इसलिए आचार्य गुणधरस्वामी ने 'कसायपाहुड' नामक शास्त्र की रचना की। यह 15 अध्यायों से परिपूर्ण है। आचार्य गुणधरस्वामी 'महाकम्मियपाहुड' और 'पेज्जपाहुड' के ज्ञाता थे। फिर इनके बाद आचार्य धरसेन स्वामी ने दक्षिण से आचार्य अर्हद्बलि द्वारा भेजे गये दो मुनियों को सिद्धांत का उपदेश दिया और उनसे 'षट्खण्डागम' नामक शास्त्र की रचना करवाई। इस प्रकार आचार्य धरसेन स्वामी अर्धदृष्टि से तथा आचार्य पुष्पदन्त, भूतबलि सूत्र दृष्टि से षट्खण्डागम के रचयिता कहलाये। अतः आचार्य गुणधर स्वामी का 'कसायपाहुड' और इनका 'षट्खण्डागम' जैन श्रुतरूपी भवन के निर्माण में नींव के पत्थर के समान अधिष्ठित हुए।

आगम साहित्य की परम्परा

अर्द्धमागधी जैनागम -

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर की वाणी को गणधरों ने आगम के रूप में निबद्ध किया। कालदोष के प्रभाव से वह आगम धीरे-धीरे हास को प्राप्त होता गया एवं श्रुतधारा में प्रवाह निरन्तर नहीं रह सका इसलिए उसको व्यवस्थित करने के लिए आचार्यों ने संगीतियाँ आयोजित कीं जिन्हें 'आगम वाचना' कहा जाता है। वीर निर्वाण से 980 या 993 वर्ष के मध्य में पाँच आगम वाचनाएँ हुईं जिनसे श्रुत का संवर्द्धन हुआ।

प्रथम वाचना - वीर निर्वाण के लगभग 160 वर्ष पश्चात् 12 वर्षों का दुर्भिक्ष पड़ा, जिसमें समस्त श्रमण संघ पाटलिपुत्र में पुनः एकत्रित हुआ। 11 अंगों को एकत्र करके

12वें अंग का संकलन करने के लिए स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में सम्पूर्ण श्रमण संघ आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास नेपाल पहुँचे, जहाँ पर वह महाप्राण ध्यान की साधना के लिए पहुँचे थे। वाचना प्रारम्भ हुई तो सिर्फ स्थूलभद्र ही 10 पूर्वों को ग्रहण कर सके। तभी प्रमादवशात् अपनी ऋद्धि प्रदर्शित करने के लिए स्थूलभद्राचार्य ने सिंह का रूप बनाया जिसकी सूचना आचार्य भद्रबाहु को मिल गई और उन्होंने वाचना देने से मना कर दिया। बहुत अनुनय-विनय करने पर शेष चार पूर्वों की वाचना तो दी परन्तु अर्थ नहीं बताया। अतएव अर्थ की दृष्टि से आचार्य भद्रबाहु ही 14 पूर्वों के ज्ञाता थे, स्थूलभद्राचार्य 10 पूर्वों के ज्ञाता ही हो पाये। आचार्य भद्रबाहु की सल्लेखना के बाद चार पूर्वों का विच्छेद हो गया। 'आवश्यक चूर्णि' के अनुसार स्थूलभद्राचार्य सूत्र रूप से 14 पूर्वों का विच्छेद हो गया। 'आवश्यक चूर्णि' के अनुसार स्थूलभद्राचार्य सूत्र रूप से 14 पूर्वों के धारी थे, परन्तु अन्य किसी को वाचना देने का अधिकार नहीं था।

द्वितीय वाचना - 'नन्दीसूत्र' की भूमिका पृष्ठ 16 में उल्लिखित है कि श्रुत संरक्षण का द्वितीय प्रयास सम्राट खारवेल ने ई. पू. दूसरी शताब्दी में उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर समस्त श्रमण संघ को बुलाकर किया था।

तृतीय वाचना - आगम का संकलन करने के लिए वीर निर्वाण 825-840 के मध्य में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में वाचना हुई। जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना श्रुत स्मरण में था उतना एकत्रित किया गया। इस वाचना में कालिकसूत्र एवं पूर्वगतों का कुछ अंश संकलित हुआ। मथुरा में होने से 'माथुरी वाचना' एवं आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने से 'स्कन्दिली वाचना' कहलायी। हर्मन जैकोबी ने जैनसूत्र में, मौरिस विण्टरनिट्ज ने 'History of Indian Literature' पेज नं 417 में और दलसुख मालवणिया ने 'आगम युग का जैनदर्शन' पृ. 19 में एवं अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि इस वाचना में आगम लिपिबद्ध भी किए गये थे।

चतुर्थ वाचना - 'नवसुत्ताणि' नदी गाथा 36 में उल्लिखित है कि तृतीय वाचना के ही काल में बल्लभी नगर में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में एक वाचना हुई और समस्त श्रमण संघ के सहयोग से आगम को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया। जिन श्रमणों को जो स्मरण था उसे लिपिबद्ध किया गया एवं जो विषय विस्मृत लगे उनका पूर्वापर

विचार करके लेखन किया गया। इस वाचना की अध्यक्षता नागार्जुन ने की इसलिए यह 'नागार्जुनीय वाचना' एवं बल्लभी में होने से 'बालभी वाचना' कहलायी।

पञ्चम वाचना - वीर निर्वाण की 10 वीं शताब्दी में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में बल्लभी नगर में समस्त श्रमणसंघ के समक्ष यह वाचना हुई। यह वाचना नागार्जुनी एवं माथुरी वाचना के संकलन के आधार पर हुई जिसमें दोनों वाचनाओं का समन्वय किया गया तथा जो विषय दोनों में स्वतन्त्र था उसको वैसा ही ग्रहण किया एवं जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें पाठान्तर के रूप में टीका, चूर्णियों में संगृहीत किया गया। वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के वाचना के हैं। 'जैन आगम में दर्शन' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. समणी मंगलप्रज्ञा जी ने लिखा है कि उसके पश्चात् उनमें संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन नहीं हुआ है। श्वेताम्बर परम्परानुसार 11 अंग तो आंशिक रूप से विद्यमान हैं, परन्तु 12वाँ अंग का लोप हो गया है। वहीं दिगम्बर परम्परा के अनुसार 11 अंगों का तो लोप हो गया है और 12वाँ अंग आंशिक रूप से विद्यमान है।

आचार्य हरिषेणकृत 'बृहत् कथा कोष' पृ. 317-319 में यह उल्लेख है कि 'श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय जो 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा उसमें सभी संघ तितर-बितर हो गया और भद्रबाहु स्वामी कुछ शिष्यों को लेकर दक्षिण चले गये। 12 वर्ष बाद जब आये तब साधुवर्ग में शिथिलता देखकर पुनः दीक्षित होने को कहा, क्योंकि उन्होंने आधा वस्त्र धारण कर लिया था। उन्होंने दीक्षा नहीं ली और 'अर्द्धफालक' के नाम से अपना सम्प्रदाय बना लिया, जिसके समर्थक आचार्य स्थूलभद्र थे। वही सम्प्रदाय आगे चलकर 'श्वेताम्बर' कहलाया। श्वेताम्बर की आचार्य परम्परा का प्रारम्भ आचार्य भद्रबाहु से न होकर स्थूलभद्राचार्य से हुआ जो इनके ही शिष्य थे।

जैन साहित्य की परम्परा (शौरसैनी प्राकृत साहित्य)

'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' की रचना के बाद आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति हुए जो दोनों सम्प्रदायों में मान्य हैं और दोनों आचार्य गुणधर स्वामी के शिष्य एवं यतिवृषभाचार्य के गुरु थे। ये कर्मसिद्धांत के वेत्ता एवं आगम के पारगामी थे। इनको 'कसाय पाहुड' की गाथायें अर्थ सहित स्पष्ट थीं। तत्पश्चात् यतिवृषभाचार्य ने इन दोनों

आचार्यों से 'कसायपाहुड' की गाथाओं का अर्थ सम्यक् प्रकार ग्रहण करके चूर्णिसूत्रों की रचना की। इन्होंने ही 'तिलोयण्णत्ति' की भी रचना की। इनके बाद उच्चारणाचार्य हुए इन्होंने जिन सुगम तथ्यों की विवरणवृत्ति 'चूर्णिसूत्रों' में नहीं लिखी थी, उनका स्पष्टीकरण किया। इनके बाद आचार्य शुभनन्दि एवं रविनन्दि आचार्यों से समस्त सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन करके वप्पदेवाचार्य ने 'षट्खण्डागम' के पाँच भागों पर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामक टीका लिखी और छठे भाग की संक्षिप्त टीका भी लिखी। तदुपरान्त सभी आचार्यों में श्रेष्ठ आचार्य शिरोमणि कुन्दकुन्दस्वामी ने पहली शताब्दी में 84 पाहुडों की रचना की जिनमें कुछ ही अष्टपाहुड, पंचागम आदि उपलब्ध हैं। इनका पूर्व नाम पद्मनन्दि है और गुरु का नाम आचार्य जिनचन्द्र तथा दादागुरु का नाम माघनन्दि है। तत्पश्चात् 'मूलाचार' के रचनाकार आचार्य वट्टकेर स्वामी हुए। 'मूलाचार' से मिलती-जुलती गाथायें श्वेताम्बर मत के 'दशवैकालिक' ग्रंथ में भी उपलब्ध हैं। तदुपरान्त आचार्य शिवार्य हुए जिन्होंने 'भगवती आराधना' नामक ग्रंथ रचा। इनके गुरु का नाम सर्वगुप्त बताया गया है। इनके पश्चात् आचार्य उमास्वामी हुए जिनका दूसरा नाम 'गृद्धपिच्छाचार्य' है। इनका संस्कृत भाषा में निबद्ध एकमात्र सूत्रग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' है जो किसी आचार्य द्वारा लिखित प्रथम संस्कृत ग्रंथ है। यह वर्तमान में भी जनसामान्य में सबसे अधिक प्रचलित है। तत्पश्चात् आचार्य कार्तिकेय स्वामी हुए जिन्होंने द्वादश-अनुप्रेक्षा लिखी।

इन आचार्यों में लगभग समस्त आचार्यों ने अधिकतर शास्त्र, पूर्व में लिखित शास्त्रों की टीका के रूप में लिखे एवं स्वतंत्र शास्त्रों का भी निर्माण किया। उनमें सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रस्वामी सर्वप्रमुख हैं। ये जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम संस्कृत कवि, स्तुतिकार, चिन्तक, दार्शनिक, महाकवीश्वर, सुतर्कशास्त्रामृतसागर, बज्रांकुश आदि नामों से प्रसिद्ध थे। सर्वप्रथम श्रावकाचार भी आपने ही रचा। ये संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में पारंगत, छन्द, व्याकरण, अलंकार एवं काव्यकोषादि विषयों में निष्णात थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था। इन्होंने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार', देवागम-स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र आदि की रचना की। इनके पश्चात् आचार्य सिद्धसेन स्वामी हुए जो दार्शनिक और कवि के रूप में बहुत प्रचलित हैं। ये वादिगजकेशरी तथा श्रेष्ठ वैयाकरण भी थे। इनका दीक्षा नाम 'कुमुदचन्द्र' था। 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' जो भक्तामर की तरह प्रसिद्ध

है, की रचना की। सन्मत्तिसूत्र भी इनकी रचना है। श्वेताम्बर मत में भी ये मान्य है। उनके अनुसार द्वात्रिंशकायें, न्यायावतार आदि इनकी कृतियाँ हैं। इनके बाद आचार्य पूज्यपाद स्वामी हुए। इनका मूलनाम देवनन्दि था। सर्वार्थसिद्धी, जैनेन्द्रव्याकरण, इष्टोपदेश, समाधितंत्र आदि शास्त्रों की रचना की। इनके बाद पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नामक आचार्य हुए जो महान् दार्शनिक एवं कवि थे। इन्होंने 'त्रिलक्षणकदर्शन' तथा 'पात्रकेशरी स्तोत्र' नामक ग्रंथ रचित किए। इनके बाद आचार्य योगीन्दु 'जोइन्दु' हुए जो एक अध्यात्मवेत्ता आचार्य थे। इन्होंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में परमात्मप्रकाश, तत्त्वार्थटीका, निजात्माष्टक आदि ग्रन्थों की रचना की। तत्पश्चात् आचार्य विमलसूरी हुए जो दोनों परम्पराओं में मान्य हैं। प्राकृतभाषा के चरितकाव्य के प्रथम रचयिता हैं। 'पठमचरियं' इनकी रचना है। तत्पश्चात् आचार्य ऋषिपुत्र हुए जो ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनकी 'पाशकेवली' एवं 'निमित्तशास्त्र' कृतियाँ हैं। भक्तिकाव्य के स्रष्टा कवि के रूप में आचार्य मानतुङ्ग प्रसिद्ध हैं। इनका 'भक्तामरस्तोत्र' दोनों ही परम्पराओं में प्रसिद्ध है। आचार्य रविषेण स्वामी का पौराणिक पुराणकाव्य रचयिता के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये आचार्य लक्ष्मणसेन के शिष्य हैं। इनकी प्रमुख रचना 'पद्मपुराण' है। तदुपरान्त चरितकाव्य के निर्माता के रूप में जटासिंहनन्दी आचार्य प्रसिद्ध हैं। इनकी प्रमुख रचना 'वरांगचरित' है। तत्पश्चात् आचार्य अकलंक हुए जो न्याय में पारंगत, प्रखर तार्किक एवं दार्शनिक थे। इन्होंने तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य, अष्टशती आदि ग्रन्थों की रचना की। तत्पश्चात् एलाचार्य हुए जो आचार्य वीरसेन स्वामी के विद्यागुरु थे। इनका सैद्धान्तिक पाण्डित्य असाधारण था। इनके पश्चात् आचार्य वीरसेन स्वामी हुए जिन्होंने 'षट्खण्डागम' की टीका 'धवला', 'जयधवला', 'महाधवला' नाम से परिचित हैं। इन्हें सिद्धान्त में महारत, गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों का तलस्पर्शी पाण्डित्य प्राप्त था। धवला टीका प्राकृत और संस्कृत भाषा में मिश्रित भाषा में 'मणिप्रवालन्याय' से लिखी है। मूलतः सैद्धान्तिक, दार्शनिक और कवि थे। इनके शिष्य आचार्य जिनसेन द्वितीय थे, जिन्होंने इनकी शेष धवला टीका पूरी की थी। इन्होंने आदिपुराण, पार्श्वभ्युदय और जयधवला का निर्माण किया। आदिपुराण के 42 पर्व जिनसेनाचार्य ने लिखे और शेष पाँच पर्व इनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूरे किये। सम्पूर्ण ग्रंथ 'महापुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। गुणभद्राचार्य ने 'उत्तरपुराण' की भी रचना की। पश्चात् आचार्य विद्यानन्द स्वामी आये।

इन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी शास्त्र लिखे। आप्तपरीक्षा आदि स्वतन्त्र कृतियाँ हैं एवं अष्टसहस्री आदि टीका ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार इन शताब्दियों में जैन साहित्य का विकासकाल प्रारम्भ हो चुका था। यद्यपि साहित्य की इस युग में सृजनात्मक गति द्रुत नहीं थी फिर भी सर्वाङ्गीण विकास एवं आकार की दृष्टि से विशालकाय ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। साहित्य सृजन की यह धारा 9वीं-10वीं शती तक विकास को पूर्णरूपेण प्राप्त हो चुकी थी तथा इन शताब्दियों में लिखे गये काव्य-ग्रन्थों को जैनसाहित्य के प्रतिनिधि ग्रन्थों के रूप में जाना जाता है। इसलिए यह युग जैनकाव्य साहित्य सृजन का 'स्वर्णयुग' माना जाता है। इसी स्वर्ण युग में भारतीय जैनसाहित्य में 10वीं शताब्दी के आचार्य देवसेन प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के उद्भट विद्वान हुए।

आचार्य देवसेन स्वामी का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व - आचार्य देवसेन स्वामी के जन्मस्थान, जन्मतिथि, माता-पिता आदि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। आचार्य देवसेन प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के महान् विद्वान् थे। जिनागम प्रचलित नय परम्परा के अच्छे जानकार तथा उनका सामंजस्य बैठाने वाले थे। यह महाराज अक्खड़ प्रकृति के प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'दर्शनसार' की अन्तिम गाथा से इनकी अक्खड़ प्रकृति का ज्ञान होता है, जो निम्न है-

रूसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खंतयस्स साहुस्स।

किं जूयभाए साडी विवज्जियव्वा णरिदेण॥51॥

अर्थात् सत्य कहने वाले साधु से चाहे कोई रुष्ट हो और चाहे सन्तुष्ट हो। उसे परवाह नहीं। क्या राजा को जुओं के भय से वस्त्र पहिनना छोड़ देना चाहिए? अर्थात् कभी नहीं।

अपना अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देते हुए इन्होंने 'दर्शनसार' ग्रन्थ के अन्त में दो गाथायें लिखी हैं-

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।

सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसत्तेण॥49॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे महासुद्धदसमीए॥50॥

अर्थात् श्री देवसेनगणि ने माघसुदी 10 वि. सं. 990 को धारानगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ मंदिर में पूर्वाचार्यों की बनाई हुई गाथाओं को एकत्र करके यह दर्शनसार नाम का ग्रंथ बनाया, जो भव्य जीवों के हृदय में हार के समान शोभा देगा। तत्त्वसार की प्रशस्ति में बताया है कि-

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सहिट्ठ भवइ सो णवइ सासयं सोक्खं॥74॥

अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि, मुनिनाथ देवसेन के द्वारा रचित इस तत्त्वसार को सुनकर उसकी भावना करेगा, वह शाश्वत सुख को पायेगा।

आराधनासार के अन्त में लिखा है कि -

ण य मे अत्थि ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि।
णियभवणाणिमित्तं इरयं आराहणासारं॥
अमुणियत्तच्चे इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।
सोहतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयण विरुद्धं॥

अर्थात् न मुझे कवित्व का ज्ञान है, न छन्द का, न व्याकरण का ही। अपनी भावना के निमित्त मैंने आराधनासार रचा है। पूर्ण तत्त्वज्ञान से अपरिचित आचार्य देवसेन ने जो कुछ भी इसमें कहा है यदि उसमें आगम विरुद्ध कथन हो तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध कर लें।

इनके गुरु का नाम आचार्य विमलसेन है। भावसंग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी भी रचना में गुरु के नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु प्रकारान्तर से गुरु के नाम का अध्याहार किया जा सकता है। यथा आराधनासार में -

विमलयरगुणसमिद्धं सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा।
णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं॥॥॥

अर्थात् मैं देवसेनाचार्य अत्यन्त निर्मल शुद्ध, चैतन्यगुण से परिपूर्ण, सौधर्मेन्द्र आदि की देवसेनाओं से नमस्कृत, अद्वितीय सुभट, अनन्त गुणों से युक्त सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके आराधनासार ग्रंथ रचूँगा। 'विमलयरगुण' इसमें गुरु का नाम भी परोक्ष से अपेक्षित है। 'दर्शनसार' में -

पणमिय वीरजिणिदं सुरसेणणमंसियं विमलणाणं।

वोच्छं दंसणसारं जहं कहियं पुव्वसूरीहिं॥॥

अर्थात् जिनका ज्ञान निर्मल है और देवसमूह जिन्हें नमस्कार करते हैं उन महावीर भगवान् को नमस्कार करके मैं पूर्वाचार्यों के अनुसार 'दर्शनसार' कहता हूँ। यहाँ 'विमलणाणं' के स्थान पर आचार्य कुछ अन्य भी शब्द जैसे 'केवलणाणं' 'सयलणाणं' इत्यादि ग्रहण कर सकते थे, परन्तु गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए परोक्षरूप से गुरु का स्मरण किया है।

यह रचनाकार की विशेषता है कि गुरु का नामोल्लेख भी करते हैं और उससे अन्य प्रयोजनभूत अर्थ भी प्रदर्शित करते हैं। इनके द्वारा दर्शनसार में उल्लेख होने से ये 10वीं शताब्दी के आचार्य निश्चित होते हैं।

समय एवं कृति निर्धारण

जैनाचार्यों की परम्परा में देवसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें एक भट्टारक देवसेन का वर्णन मिलता है, जो भवणन्दि भट्टारक के शिष्य थे, जिनका समय उनकी समाधि के उपरान्त मूर्तिलेख से 8वीं शताब्दी का जान पड़ता है। उनके बाद एक देवसेनाचार्य धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी के शिष्य एवं जिनसेन, पद्मसेन आदि के सधर्मा थे, जिनका उल्लेख पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने महापुराण की प्रस्तावना के पृ. 31 पर किया है। इनका समय ई. सन् 820-870 निश्चित किया है। 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोष' भाग-2 में एक देवसेनाचार्य वे हैं, जो आराधनासार, दर्शनसार, तत्त्वसार, भावसंग्रह, नयचक्र, आलापपद्धति आदि ग्रंथों के रचयिता हैं, जिनका समय आचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' ग्रंथ में स्वयं वि. सं. 990 उल्लिखित किया है। इनका समय दसवीं शताब्दी निश्चित हो जाता है। इनके गुरु माथुरसंघी विमलसेन हैं। एक देवसेनाचार्य, जो 'सुलोचनाचरित' के रचयिता हैं, जिनका समय ई. सन् 1075-1135 बताया गया है।

इस प्रकार अनेक देवसेनाचार्य होने से किन देवसेनाचार्य की कौन सी कृति है, इसमें अनेकों विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसमें 10वीं शताब्दी के देवसेन की दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार तो सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं, परन्तु भावसंग्रह, नयचक्र और आलाप-पद्धति के रचनाकारों में विद्वानों में मतभेद है। पं. नेमिचन्द्र जी शास्त्री 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' में लिखते हैं कि दर्शनसार और भावसंग्रह के रचयिता एक ही हैं, क्योंकि श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दी गई गाथाओं में से एक गाथा समान रूप से दोनों ग्रन्थों में निबद्ध है। जैसा कि आचार्यवर कुन्दकुन्द के ग्रंथों में दृष्टिगोचर होता है, परन्तु पं. परमानन्दजी शास्त्री 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' भाग-2 में लिखते हैं कि भावसंग्रह के कर्त्ता और दर्शनसार के कर्त्ता देवसेनाचार्य दोनों अलग हैं, क्योंकि दर्शनसार मूलसंघ का ग्रंथ है एवं भावसंग्रह मूलसंघ का ग्रंथ नहीं है। इसका कारण बतलाते हुए लिखते हैं - भावसंग्रह में पंचामृताभिषेक, शासनदेवी-देवताओं का आह्वान इत्यादि का वर्णन है। इसके उत्तर में पं. नेमिचन्द्रजी शास्त्री ने लिखा है कि यह सबल तर्क नहीं है, क्योंकि जो मूलसंघ के समान मान्य है, ऐसे काष्ठासंघ में भी पंचामृताभिषेक आदि मान्य हैं। इसी प्रसंग में पं. नाथूराम जी शास्त्री ने 'दर्शनसार' की प्रस्तावना में लिखा है कि यापनीय संघ को छोड़कर शेष तीन संघों का मूलसंघ से इतना पार्थक्य नहीं है कि वे जैनाभास हो जायें। ये भी हो सकता है कि देवसेनाचार्य पहले कट्टर मूलसंघी हों और दर्शनसार की रचना की हो, बाद में विचारों में परिपक्वता आने से काष्ठासंघ से प्रभावित हुए हों और बाद में भावसंग्रह लिखा हो। पं. कैलाशचंद्र जी शास्त्री अपनी पुस्तक 'उपासकाध्ययन और भावसंग्रह का तुलनात्मक अध्ययन' में लिखते हैं कि भावसंग्रहकार ने उपासकाध्ययन से बहुत विषय लिया है और उपासकाध्ययन वि. सं. 1016 की कृति है। अतः भावसंग्रह बाद की रचना है और 'वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ' पृ. 207 में लिखते हैं कि भावसंग्रह में कौलधर्म का कथन 'कपूरमंजरी' के समान दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पं. जी के कथन से मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि एक ही विषय मूलागम से कोई भी ग्रहण कर सकता है और प्रतिपादन करने की शैली भिन्न-भिन्न हो सकती है। जैसे गुणस्थान का विषय प्रारम्भ से आचार्यों द्वारा वर्णित है चाहे वह आचार्य कुन्दकुन्द हों या समन्तभद्र या पूज्यपाद या देवसेन या सोमदेव, प्रतिपादन करने की शैली अलग-अलग है। यह भी तो हो सकता है कि इनका

विषय उपासकाध्ययनकार एवं कूर्परमंजरी के लेखक द्वारा ग्रहण किया गया हो, इसलिए यह तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। पं. परमानन्द जी शास्त्री और भी लिखते हैं कि भावसंग्रह में शिथिलाचार विषयक वर्णन उसे अर्वाचीन घोषित करता है, परन्तु पं. जी का यह तर्क भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शिथिलाचार की प्रवृत्ति तो प्राचीनकाल से चली आ रही है और भद्रबाहु स्वामी के समय से तो शिथिलाचार में और भी वृद्धि हो गई थी। अतः शिथिलाचार विषयक वर्णन होना अर्वाचीनता को ही प्रकट नहीं करता है। और भी लिखते हैं कि भावसंग्रहकार ने प्राकृत एवं अपभ्रंश के पद्यों को एक साथ रखा है। प्राकृत और अपभ्रंश के पद एकसाथ लेना कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं में परस्पर समानता जैसी है और प्राकृत भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव देखा जाता है और आचार्य देवसेन इन भाषाओं के ज्ञाता थे; इसलिए इसमें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती है। इसके आगे और लिखते हैं कि पं. आशाधर जी ने इसके बारे में कुछ भी नहीं लिखा अर्थात् पं. जी के समक्ष यह शास्त्र नहीं था। इसमें मेरा मानना है कि पं. आशाधर जी ने इसके बारे में कुछ नहीं लिखा तो यह आवश्यक नहीं कि पं. जी हर शास्त्र की टीका या उस पर कोई लेख लिखें, उनके समक्ष ऐसे कई शास्त्र थे जिनपर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा तो उससे यह सिद्ध तो नहीं होता कि वे शास्त्र उनके बाद रचे गए। आगे लिखते हैं कि 'सुलोचनाचरित' और 'भावसंग्रह' के कर्ता एक ही देवसेन हैं। हमारा मानना है कि 'सुलोचनाचरित' अपभ्रंश भाषा में रचित है, परन्तु इन देवसेनाचार्य का अपभ्रंश भाषा में रचित कोई अन्य शास्त्र तो दिखाई नहीं देता, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'सुलोचनाचरित' के रचयिता यह देवसेनाचार्य हैं। जबकि 'सुलोचनाचरित' 12वीं शताब्दी का शास्त्र है और भावसंग्रह 10वीं शताब्दी का शास्त्र है।

'पुरातन वाक्य सूची' की प्रस्तावना पृ. 16 पर पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने लिखा है कि 'भावसंग्रह' के कर्ता देवसेन पहले हुए तब 'सुलोचनाचरित' के कर्ता देवसेन और पाण्डवपुराण की गुरुपरम्परा वाले देवसेन के साथ उनकी एकता नहीं है। इसलिए जब तक कोई प्रमाणिक तथ्य सामने न आये तब तक 'दर्शनसार' और 'भावसंग्रह' ग्रंथ एक ही देवसेनाचार्य रचित हैं।

पं. परमानन्द जी कहते हैं कि नयचक्र इन देवसेन का नहीं है, क्योंकि उसमें गाथा 47 के आगे तदुक्त से द्रव्यसंग्रह की गाथा लिखी गई है और द्रव्यसंग्रह बाद का

ग्रंथ है। नयचक्र में कर्ता का नाम नहीं है तथा ग्रंथ का नाम 'सारान्त' नहीं है, जैसे आराधनासार, दर्शनसार, तत्त्वसार आदि। इसमें मुझे कोई आपत्ति दिखाई नहीं पड़ती कि सब शास्त्रों के नाम 'सारान्त' ही हों, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द ने भी सारान्त के साथ-साथ पंचास्तिकाय आदि ग्रंथ रचे हैं तथा पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने 'माइल्लधवल' जी के 'नयचक्र' की प्रस्तावना में नयचक्र आचार्य देवसेन का स्वीकार किया है। नयचक्र नामक अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें 'द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र' के कर्ता देवसेनाचार्य के शिष्य माइल्लधवल हैं, जिनका समय 12वीं का पूर्वार्द्ध है। 'श्रुतभवन दीपक नयचक्र' के कर्ता आचार्य देवसेन हैं, परन्तु इस नयचक्र में दो नयचक्रों का संग्रह है; लेकिन ये दोनों संस्कृत में रचे गये हैं, क्योंकि इनका मंगलाचरण संस्कृत श्लोक रूप में है जबकि आचार्य देवसेन रचित नयचक्र प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है, जो माइल्लधवल ने आधाररूप में स्वीकार किया है। इन दोनों रचनाओं का समय निश्चित करने में पं. परमानन्द जी शास्त्री ने असमर्थता व्यक्त की है।

पं. परमानन्दजी शास्त्री आलापपद्धति को इन देवसेन की कृति नहीं मानते हैं, क्योंकि इसमें लेखक का नाम नहीं तथा प्राकृत के नयचक्र से इसका विषय समान है परन्तु विशेष प्रमाण कोई नहीं जो यह सिद्ध करे कि यह इन्हीं देवसेन की कृति नहीं है। अतः देवसेन की 6 कृतियाँ है ऐसा प्रतीत होता है।

वैशिष्ट्य - जो विषय 'भवगती आराधना' एवं 'मरणकण्डिका' जैसे विशाल ग्रन्थों में अनेक गाथाओं में निबद्ध है, उस बृहद् विषय का सुनिबद्ध एवं सुव्यवस्थित संक्षिप्तिकरण आचार्य देवसेन ने सामान्य पाठक की दृष्टि से आराधनासार में किया है। ये इनकी प्रखर बुद्धिमत्ता को द्योतित करता है। भावसंग्रह ग्रंथ में गुणस्थानों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से किया है। प्रत्येक गुणस्थान को सुष्ठुरूपेण स्पष्ट किया है, साथ ही अन्य मतों का स्वरूप बताते हुए उनका सम्यक्क्रीति से तथा विशेष तर्कणा द्वारा खण्डन भी किया है। इससे इनका लेखन-कौशल स्पष्ट झलकता है। अपने नयचक्र और आलाप पद्धति में नयों के अनेकों भेद-प्रभेदों को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है जो एक अनूठा कार्य है। नयों का इतना विशद और सुन्दर वर्णन अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है। 'दर्शनसार' में अन्य मतों की उत्पत्ति का वर्णन एवं जैनधर्म के ही अन्य कई मतों की उत्पत्ति और समय स्पष्ट रूप से बताया है जो इन आचार्य की प्ररूपणा क्षमता को प्रकट करता है। आचार्य

देवसेन ने 'तत्त्वसार' में अध्यात्मरस घोल दिया है। इन्होंने अपने समय में उपलब्ध अध्यात्म सम्बन्धि समयसार, परमात्मप्रकाश आदि और योग विषयक समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रन्थों का सार समाहित कर दिया है।

इन कृतियों से आचार्य देवसेन समस्त विषयों में लेखन कौशल एवं बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रतीत होते हैं। अनेक विषयों में पारंगत होना इनकी महत्त्वपूर्ण एवं महान् दार्शनिक दृष्टि को प्रदर्शित करता है। अध्यात्म, तर्कशक्ति, आचार, नय एवं अतिक्लिष्ट गुणस्थानों आदि का वर्णन आपने सहजता और सरलता से निरूपित कर दिया, यह आपकी विशिष्टता को दर्शाता है।

कृतित्व - आचार्य देवसेन की 6 प्रसिद्ध कृतियाँ हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ बताया जाता है-

1. **दर्शनसार** - यह 51 प्राकृत गाथाओं का लघु ग्रन्थ है। इसमें विविध दर्शनों की उत्पत्ति तथा जैनधर्म के प्रचलित द्राविड, काष्ठा, माथुर और यापनीय आदि संघों की उत्पत्ति कब, किस प्रकार हुई इसका उल्लेख मिलता है। प्रथम गाथा में गुरु का स्मरण करते हुए तीर्थंकर महावीर को नमस्कार किया है। पूर्वाचार्यों द्वारा कथित गाथाओं का संग्रह किया है, ऐसा कहकर अपनी लघुता प्रगट की है। उत्थानिका के अनन्तर समस्त अन्य दार्शनिक मतों का प्रवर्तक ऋषभदेव के पौत्र मारीचि को माना है। मारीचि ने एकान्त, संशय, विपरीत, विनय और अज्ञान इन पाँचों मिथ्या मार्गों का प्रतिपादन किया था, इन्हीं के उत्तरभेद मिलाने पर 363 मतों का प्रतिपादन होता है।
2. **भावसंग्रह** - इस ग्रंथ में 701 गाथाएँ हैं। इनमें 14 गुणस्थानों का आलम्बन लेकर अन्य मतों के स्वरूप को बताकर उनका युक्तिपूर्वक खण्डन भी किया है और आगे नौ पदार्थों का वर्णन करते हुए, मूलगुण तथा 12 व्रतों का संक्षिप्त विवरण देते हुए पुण्य के कारण पूजा और दान की विस्तृत एवं स्पष्ट विधि बतलाकर उनके फलों का भी वर्णन किया गया है। ध्यान के भेद-प्रभेदों एवं ध्येय रूप पंचपरमेष्ठी और टीकाकार द्वारा आचार्य परमेष्ठी के विशेष 36 मूलगुण बताये हैं और संक्षेप में सिद्ध परमेष्ठी का भी वर्णन किया है।

3. **आराधनासार** - यह ग्रंथ 115 प्राकृत गाथा प्रमाण है। मंगलाचरण का अर्थ संस्कृत टीकाकार रत्नकीर्तिदेव ने 12 प्रकार से किया है। मंगलाचरणोपरान्त आराधना का लक्षण बताते हुए इसके मुख्य दो भेदों का उल्लेख किया है। वे भेद हैं निश्चयाराधना और व्यवहाराधना। आगे व्यवहाराधना का लक्षण एवं भेदों का कथन है तत्पश्चात् निश्चयाराधना का स्वरूप कहा है। व्यवहार आराधना को परम्परा से मोक्ष का और निश्चयाराधना को साक्षात् कारण माना है। आराधक एवं विराधक के लक्षणों का भी उल्लेख है। आराधक को सल्लेखना धारण करने के लिए उसे उसके योग्य बनने का उपदेश है, फिर परिग्रह त्याग का उपदेश देते हुए परीषह और उपसर्गों के भेद बताकर उदाहरण भी उद्धृत किये हैं। अन्तिम गाथाओं में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से आराधनाओं का फल बतलाकर अपनी गुरुपरम्परा एवं लघुता प्रकट की है।
4. **तत्त्वसार** - इस ग्रंथ में 74 गाथायें हैं। तत्त्व के मूलतः दो भेद हैं प्रथम स्वगत तत्त्व द्वितीय परगत तत्त्व। स्वगत तत्त्व निजात्मा है और परगत तत्त्व परमेष्ठी है। स्वगत तत्त्व के भी दो भेद हैं-सविकल्पक और निर्विकल्पक। आस्रवसहित को सविकल्पक और आस्रवरहित को निर्विकल्पक कहते हैं। इन्द्रिय विषयसुख के समाप्त होने पर मन की चंचलता जब अवरुद्ध हो जाती है तब आत्मा अपने स्वरूप में निर्विकल्प हो जाता है। इस प्रकरण में श्रमण और योगी की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि - बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हो, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। अन्त में लिखा है कि जो निजात्मा की अनुभूति में तत्पर होता है, उसे सिद्धों के समान अपूर्व, अचिन्त्य सुख मिलता है।
5. **लघुनयचक्र** - इस ग्रंथ में 87 गाथायें हैं। नय का स्वरूप, उपयोगिता एवं उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। नय के बिना वस्तुस्वरूप की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती तथा नय द्वारा ही स्याद्वाद-का ज्ञान होता है। नय से जिनवचनों का बोध होता है। मूलनय दो हैं प्रथम द्रव्यार्थिक और द्वितीय पर्यायार्थिक। नय के सामान्यतया नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात भेद हैं। अन्य प्रभेद निम्न प्रकार हैं-द्रव्यार्थिक-10, पर्यायार्थिक-6, नैगम-3, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र के 2-2 और शेष नयों के एक-एक भेद होते हैं।

उपनय के तीन भेद हैं—सद्भूत, असद्भूत एवं उपचरित। सद्भूत के 2, असद्भूत के 3 और उपचरित के तीन, इस प्रकार नय के भेद-प्रभेदों का कथन कर द्रव्यार्थिक और पर्यायाधिक नयों की अपेक्षा वस्तु-विवेचन है।

6. आलापपद्धति - यह संस्कृत गद्य में रचित छोटी सी रचना है। इस ग्रंथ में गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुणव्युत्पत्ति, पर्याय व्युत्पत्ति, स्वभाव व्युत्पत्ति, एकान्त में दोष, नय योजना, प्रमाणकथन, नयलक्षण और भेद, निक्षेप व्युत्पत्ति, नयों के भेदों की व्युत्पत्ति, अध्यात्मनय का उदाहरण सहित वर्णन किया है। आरम्भ में वचन पद्धति को ही आलापपद्धति कहा है तथा इस ग्रन्थ की रचना नयचक्र के आधार से हुई है ऐसा कथन भी किया है।

समकालीन आचार्य

आचार्य देवसेन स्वामी दसवीं शताब्दी के महान् आचार्य हुए हैं। उनके समय में अनेक समकालीन आचार्य हुए, परन्तु उनमें से कुछ आचार्यों का नामोल्लेख ही यहां पर कर रहा हूँ। जो उनके समय से कुछ वर्ष पहले, कुछ समय बाद में हुए उनको ही समकालीन मानकर उनका संक्षेप से नामोल्लेख कर रहा हूँ।

उनमें आचार्य वसुनन्दि जिन्होंने बृहत्काय श्रावकाचार की रचना की है, अभयदेव सूरि जिन्होंने वादमहार्णव नामक ग्रन्थ की रचना की है, आचार्य अमितगति प्रथम जिन्होंने योगसार नामक ग्रन्थ रचा, आचार्य माणिक्यनन्दि जिन्होंने जैन न्याय का आद्य सूत्रग्रन्थ परीक्षामुख की रचना की। आचार्य प्रभाचन्द्र जिन्होंने परीक्षामुख की टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना की, सारसमुच्चय नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य कुलचन्द्र, आचार्य पद्मकीर्ति जिन्होंने पार्श्वपुराण नामक कथाग्रन्थ की रचना की, आचार्य वीरनन्दि द्वितीय ने चन्द्रप्रभ चरित्र की रचना की, आचार्य सोमदेव सूरि जिन्होंने नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलक चम्पू, युक्ति चिन्तामणि और उपासकाध्ययन आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अलावा आचार्य अनन्तकीर्ति प्रथम, आचार्य माघनन्दि द्वितीय आदि आचार्य प्रमुख हैं।



प्रथम-अध्याय

.....

आचार्य देवसेन की कृतियों में तात्त्विक दृष्टि

प्रथम परिच्छेद : सत् का स्वरूप

सत् का स्वरूप बताते हुए आ. कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि-

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरुवा अणंतपज्जाया।

भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥¹

अर्थात् अस्तित्वस्वरूप एक होता है, समस्त पदार्थों में स्थित है, नाना प्रकार के स्वरूपों से संयुक्त है, अनन्त हैं परिणाम जिसमें ऐसी है उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है, प्रतिपक्ष संयुक्त है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व रूप में सत् विद्यमान रहता ही है, क्योंकि इस लोक में समस्त पदार्थों में अस्तित्वस्वरूप अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है। बिना अस्तित्वस्वरूप के कोई भी पदार्थ ठहर नहीं सकता है। इसी सन्दर्भ में आ. कुन्दकुन्दस्वामी प्रवचनसार में लिखते हैं कि - सभी पदार्थों के किसी पर्याय से उत्पाद और किसी पर्याय से विनाश होता है तथा किसी पर्याय से सभी पदार्थ सद्भूत हैं, ध्रुव हैं।²

सत् का स्वरूप प्ररूपित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि-

इह विविहलक्खाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयां।

उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णात्तं॥³

अर्थात् जिनवर वृषभदेव ने धर्म का वास्तविक उपदेश करते हुए कहा है कि विविध लक्षण वाले द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है। यहां आचार्य का आशय यह है कि सर्वगत एक लक्षण से तात्पर्य समस्त भूमण्डल पर एक ही लक्षण है सत् का। यदि ऐसा न हो तो सभी लोग अपने मत के अनुसार अपने-अपने लक्षण निरूपित करने लगेंगे। और भी आगे कहते हैं कि द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और 'सत्' है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने परमार्थ से कहा है। इस प्रकार आगम से सिद्ध है, जो इसे नहीं मानता वह वास्तव में परसमय है। यहां आचार्य का आशय है कि वास्तव में द्रव्यों से

¹ पञ्चास्तिकाय गाथा-8

² उप्पादो ण विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठाजादस्सा।

पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सम्भूदो॥१४॥

³ प्रवचनसार गा. 97

द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभाव सिद्ध हैं। उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता से है, क्योंकि अनादिनिधन साधनान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।

जिस प्रकार स्वर्ण की उत्तरपर्यायरूप बाजूबन्द पर्याय से उत्पत्ति दिखाई देती है और पूर्व पर्यायरूप अंगूठी पर्याय से विनाश देखा जाता है तथा बाजूबन्द और अंगूठी - दोनों ही पर्यायों में उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने से पीलापन पर्याय का ध्रुवत्व देखा जाता है।

इसी विषय को आ. उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि - उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वही सत् कहलाता है, जो द्रव्य का लक्षण है।¹ आचार्य उमास्वामी से ही पूरी तरह समानता को प्राप्त सत् का स्वरूप आचार्य देवसेन स्वामी ने भी अपने आलापपद्धति ग्रन्थ में उल्लिखित किया है कि-

‘सद्द्रव्यलक्षणम्। सीदति स्वकीयान् गुणपर्यायान् व्याप्नोति सत्। उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्।’

अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है, जो अपने गुण, पर्यायों में व्याप्त है वह सत् है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त को सत् कहते हैं। सत् को ही अस्तित्व कहा गया है।

¹ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्। 7/29-30

द्वितीय परिच्छेद : तत्त्व का स्वरूप

'तद्भावस्तत्त्वम्'¹ अर्थात् वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व कहलाता है। इसी परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए आ. पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि-'तत्त्व' शब्द भाव सामान्य वाचक है,² क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है। अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ तत्त्व पद से कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व के स्वरूप को ही और अधिक स्पष्टता देते हुए आ. अकलंक स्वामी कहते हैं कि-

अपना तत्त्व स्वतत्त्व होता है, स्वभाव, असाधारण धर्म को कहते हैं अर्थात् वस्तु के असाधारण रूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं। तत्त्व को और अधिक अच्छी प्रकार से समझाते हुए पं. राजमल्ल कहते हैं कि - तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है।³ जिस कारण से वह स्वभाव से ही सिद्ध है, इसलिए वह अनादि निधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है।

तत्त्व के स्वरूप में और विशेषता बताते हुए आ. अकलंक स्वामी कहते हैं - अविपरीत अर्थ के विषय को तत्त्व कहते हैं।

इसी सन्दर्भ में आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - तदिति विधिस्तस्य भावस्तत्त्वम्। कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेशः। सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात्। तत्त्वं श्रुतज्ञानम्।⁴ अर्थात् तत् इस सर्वनाम से विधि की विवक्षा है, तत् का भाव तत्त्व है। श्रुत की विधि संज्ञा कैसे है? ऐसा प्रश्न पूँछे जाने पर आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं चूँकि वह सब नयों के विषय के अस्तित्व विधायक है, इसलिये श्रुत की विधिसंज्ञा उचित ही है। तत्त्व श्रुतज्ञान है, इस प्रकार तत्त्व का विचार किया गया है।

¹ सर्वार्थसिद्धि: 2/1

² तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची कथम्? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। सर्वार्थसिद्धि: 1/2

³ पञ्चाध्यायी पूर्वार्ध

⁴ धवला 13/5

तत्त्वों के भेद

तत्त्वों के भेद करने में मुख्य रूप से जिस वस्तु का जो स्वभाव है वही तत्त्व होने से तत्त्व एक भेद वाला है तथापि आचार्यों ने तत्त्वों के भिन्न-भिन्न भेद प्रदर्शित किये हैं। नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि बहिस्तत्त्व और अन्तस्तत्त्व रूप परमात्मतत्त्व ऐसे दो भेदों वाले तत्त्व हैं।¹ तत्त्व के भेदों में अन्य प्रकार से वर्णन करते हुए सात भेद किये गये हैं। उनमें सर्वप्रथम आचार्य उमास्वामी ने वर्णन किया है-

'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'² अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। यही विषय तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी, आचार्य अकलंक स्वामी और आचार्य विद्यानन्दि ने भी स्वीकार किये हैं। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने भी नियमसार की टीका में लिखा है-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के भेद से तत्त्व सात होते हैं।³ आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी सात तत्त्वों का ही वर्णन किया है⁴ परन्तु उन्होंने साथ में पुण्य और पाप को जोड़ देने से उनको नौ पदार्थ देवसेन स्वामी ने भी स्वीकार किया है और उसको अपने भावसंग्रह नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में वर्णित किया है कि-

ते पुण जीवाजीवा पुण्णं पावो य आसवो य तहा।

संवर णिञ्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णव होति॥

अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें पुण्य और पाप मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। इसी विषय में और विशेषता लाने के लिये बृहद् द्रव्य संग्रह की टीका करने वाले आ. ब्रह्मदेवसूरी लिखते हैं कि नौ पदार्थों में पुण्य और पाप दो पदार्थों का सात पदार्थों से अभेद करने पर अथवा पुण्य और पाप

1 नियमसार, तात्पर्यवृत्ति 1/5

2 तत्त्वार्थसूत्र 1/4

3 जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात् सप्तधा भवन्ति। नि. सा. ता. वृ. 1/5

4 आसव बंधण संवर णिञ्जरमोक्खो सपुण्ण पावा जे।

जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो॥ वृ. द्र. स. 28

पदार्थ का बन्ध पदार्थ में अन्तर्भाव करने पर सात तत्त्व कहे जाते हैं।¹ ऐसे ही तत्त्वों के सात भेद सभी आचार्यों ने स्वीकार किये हैं ये उसमें विशेषता है कि कुछ आचार्यों ने उनमें पुण्य और पाप को सम्मिलित करके नौ पदार्थ रूप में भी स्वीकार किया है तो किन्हीं आचार्यों ने पाप और पुण्य को बन्ध के अन्दर ही समाहित कर लिया है और आचार्य उमास्वामी महाराज ने पाप और पुण्य को आस्रव तत्त्व में समाहित किया है।

सातों तत्त्वों को इस क्रम में रखने का हेतु उपदेशित करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि सब फल जीव को मिलता है अतः सूत्र के प्रारम्भ में जीव का ग्रहण किया है। अजीव जीव का उपकारी है यह दिखलाने के लिये जीव के बाद अजीव का कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनों को विषय करता है अतः इन दोनों के बाद आस्रव को ग्रहण किया है। बन्ध आस्रव पूर्वक होता है इसलिये आस्रव के बाद बन्ध का कथन किया है। संवृत जीव के बन्ध नहीं होता अतः संवर बन्ध के बाद कहा गया है। संवर के होने पर निर्जरा होती है इसलिये संवर के बाद निर्जरा कही है। मोक्ष अन्त में प्राप्त होता है इसलिये उसका अन्त में कथन किया है। मोक्ष संसारपूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं, अतः प्रधान हेतु, हेतु वाले और उनके फल के दिखलाने के लिए अलग-अलग उपदेश किया है।

तत्त्व के भेदों का स्वरूप

आचार्यों ने सातों तत्त्वों में परम उपादेय जीव तत्त्व को विशेष रूप से वर्णित किया है। जीव के स्वरूप को समस्त विशेषताओं से सहित वर्णन किया है जिनमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जो जीवतत्त्व का वर्णन किया है वह अन्य स्थानों में अर्थात् अन्य किसी भी आचार्य के द्वारा उनके शास्त्रों में नहीं पाया जाता है। और भी अन्य आचार्यों ने अपने शास्त्रों में प्रकरण के अनुसार यथायोग्य वर्णन किया है। उसी प्रकार आचार्य देवसेन स्वामी ने भी जीवतत्त्व के स्वरूप को विशेष रूप से उसकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं को वर्णित किया है। जिसमें उन्होंने मुख्यरूप से भावसंग्रह ग्रन्थ में सातों तत्त्वों का सामान्य रूप से विवेचन किया है।

¹ वृ. द्र. स. 2/28 चूलिका

1. जीव तत्त्व - जीवतत्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-

जीवो अणाइ णिच्चो उवओग संजुदो देहमित्तो या।

कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई॥286॥

अर्थात् यह जीव अनादि है, अनिधन है, उपयोग स्वरूप है, शरीर के प्रमाण के समान है, कर्ता है, भोक्ता है, चेतना सहित है, अमूर्त है और स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस गाथा से समानता रखते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने द्रव्यसंग्रह में भी लगभग ऐसी ही जीव की विशेषतायें बताई गई हैं।'

जीव का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि-

पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं।

जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तणगुण समावण्णो॥287॥

अर्थात् इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण कहलाते हैं, ये चारों प्राण बाह्यप्राण हैं और इस संसारी जीव के चारों प्राण रहते हैं। जो जीव पहले जीवित था, अब जीवित है और आगे जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है, इस प्रकार जो ऊपर लिखे चारों प्राणों से जीवित रहता है वह जीवत्वगुण सहित जीव कहलाता है इसमें बाह्यप्राण के जो चार भेद किये गये हैं उनके भी प्रभेद करने पर प्राण के दस भेद हो जाते हैं। उनमें इन्द्रियाँ पाँच (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण) बल तीन (मनोबल, वचनबल, कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास ये कुल दस प्रकार के प्राण हो जाते हैं। समस्त जीव अपने-अपने अनुकूल प्राण से जीवित रहते हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव के चार प्राण (स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास) ही हो सकते हैं। ऐसे ही सभी जीवों में यथायोग्य जान लेना चाहिये।

भावसंग्रह की इस गाथा के जैसे ही आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी² ने भी मिलती जुलती गाथा लिखी है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में कितने प्राण होते हैं, उनका एक चार्ट यहाँ निरूपित किया जाता है-

¹ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥2॥

² तिव्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो या।

ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥3॥

जीव	प्राण
द्वीन्द्रिय	स्पर्शन, रसना इन्द्रिय, कायबल, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास = 6
त्रीन्द्रिय	स्पर्शन, रसना घ्राण, काय, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास = 7
चतुरिन्द्रिय	स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु, काय, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास = 8
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	पाँचों इन्द्रियाँ, काय, वचनबल, आयु, श्वासोच्छ्वास = 9
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	पाँचों इन्द्रियाँ, तीनों बल, आयु, श्वासोच्छ्वास = 10

जिस विषय को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र¹ में सूत्र रूप में लिखा है-उसी विषय को आचार्य देवसेन स्वामी ने भावसंग्रह में गाथारूप में व्यक्त किया है-

सायारो अणयारो उवओगो दुविह भेय संजुत्तो।

सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणयारो॥289॥

उपयोग जो आत्मा (जीव) का लक्षण है वह साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन) दो भेदों से सहित है और वे साकार अर्थात् ज्ञानोपयोग आठ प्रकार एवं अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग चार प्रकार के हैं। उपयोग जो जीव का लक्षण है उसका लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार लिखा है - आत्मा के चैतन्य अनुविधायी (कभी जुदा न होने वाला) परिणामों को उपयोग कहते हैं अथवा आत्मा के ज्ञान-दर्शन भावों को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद होते हैं-

1. ज्ञानोपयोग 2. दर्शनोपयोग

ज्ञानोपयोग को साकार अर्थात् सविकल्पक कहा गया है और दर्शनोपयोग को निराकार अर्थात् निर्विकल्पक कहा गया है, क्योंकि दर्शनोपयोग में वस्तु का सामान्य अवलोकनमात्र (आभास) ही होता है इसलिये कोई विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता।

ज्ञानोपयोग के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं-

मइ सुइ उवहि विहंगा अण्णाण जुदाणि तिण्ण णाणाणि।

सम्मण्णाणाणि पुणो केवल दट्ठाणि पंचेवा।²

¹ उपयोगो लक्षणम्। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः, 2/8-9

² भावसंग्रह गाथा 290

अर्थात् कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगावधिज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाते हैं तथा भगवान् जिनेन्द्र देव जो केवलज्ञान रूपी दृष्टि रखने वाले हैं, ने सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद बतलाये हैं।

**मइणाणं सुयणाणं उवही मणपज्जयं च केवलयां।
तिण्णिसया छत्तीसा मइ सुयं पुण वारसंगगयां।¹**

अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इनमें से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं तथा श्रुतज्ञान के बारह अंग कहे गये हैं।

मतिज्ञान के आचार्यों ने मुख्य रूप से चार भेद किये हैं—‘अवग्रहेहावायधारणाः²। अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।

1. **अवग्रह** - विषय-विषयी के सन्निपात रूप दर्शन के पश्चात् जो अर्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा वह ‘शुक्लरूप’ है ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। विषय और विषयी का सम्बन्ध होने पर जो होता है वह सन्निपात है।
2. **ईहा** - अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानने की इच्छा/चेष्टा करना ईहा है। जैसे वह शुक्लरूप बगुला है या पताका। ईहा में पदार्थ के ज्ञान में संशय बना रहता है।
3. **अवाय** - विशेष चिह्न देखने से वस्तु का निर्णय हो जाना ही अवाय है। जैसे उस शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़फड़ाना, उड़ना आदि चिह्न देखने से बगुला निश्चय हो जाना।
4. **धारणा** - अवाय से निश्चित किये हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है। जैसे बगुला को आगामी समय में देखकर नहीं भूलना ही धारणा है।

¹ भावसंग्रह गाथा 291

² त. सू. 1/15

धारणा और स्मृति कारण है, प्रत्यभिज्ञान कार्य है। स्मृति और प्रत्यभिज्ञान में कारण कार्य का भेद है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चारों क्षणभर में भी हो सकते हैं और कुछ काल के बाद भी हो सकते हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा जिन पदार्थों का होता है उन पदार्थों को आचार्यों ने 12 प्रकार से वर्णित किया है। जो निम्न हैं-

‘बहु-बहुविध-क्षिप्रानिः सृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम्’

अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव एवं इन छहों के विपरीत छह एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इस प्रकार इन पदार्थों के बारह भेद हो जाते हैं।

इन्हीं बारह पदार्थों का अलग-अलग क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होती है। इस तरह $12 \times 4 = 48$ भेद हो जाते हैं। इन्हीं पदार्थों का अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है इसलिये $48 \times 6 = 288$ भेद हो जाते हैं। बारह पदार्थों का जो अस्पष्ट पदार्थ है उनका सिर्फ अवग्रह होता है जो आचार्यों ने व्यञ्जनावग्रह के नाम से उल्लिखित किया है। व्यञ्जनावग्रह किससे होता है तो उसके समाधान में आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र¹ में लिखते हैं कि चक्षु और अनिन्द्रिय अर्थात् मन से नहीं होता है शेष चार इन्द्रियों से होता है अतः $12 \times 4 = 48$ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल भेद $288 + 48 = 336$ हो जाते हैं। अर्थात् मुख्य रूप से मतिज्ञान के चार भेद और भेदों का प्रभेद करने पर 336 भेद हो जाते हैं।

श्रुतज्ञान के विषय में आचार्य लिखते हैं कि-‘जो ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।’ श्रुतज्ञान के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ये दो भेद हैं।² अंगबाह्य श्रुतज्ञान के दशवैकालिकादि अनेक भेद होते हैं। इस अपेक्षा से अंगबाह्य अनेक भेद वाला हो जाता है।

¹ त. सू. 1/16

² न चक्षुःानिन्द्रियाभ्याम्। 1/19

³ श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्। त. सू. 1/20

अंगप्रविष्ट के 12 भेद होते हैं जो निम्न हैं-

1. आचारांग
2. सूत्रकृतांग
3. स्थानांग
4. समवायांग
5. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग
6. श्रुतधर्मकथांग
7. उपासकाध्ययनांग
8. अन्तः कृतदशांग
9. अनुत्तरोपपादिक दशांग
10. प्रश्नव्याकरणांग
11. विपाक सूत्रांग
12. दृष्टिप्रवाद अंग।

इनमें से दृष्टिप्रवादांग के प्रभेद भी हैं-

1. परिकर्म
2. सूत्र
3. प्रथमानुयोग
4. पूर्वगत
5. चूलिका

परिकर्म के भी 5 भेद हैं-

1. व्याख्याप्रज्ञप्ति
2. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
3. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
4. सूर्यप्रज्ञप्ति
5. चन्द्रप्रज्ञप्ति

पूर्वगत के 14 भेद हैं-

1. उत्पादपूर्व
2. अग्रायणीपूर्व
3. वीर्यानुवादपूर्व
4. अस्ति-नास्तिपूर्व
5. ज्ञानप्रवादपूर्व
6. सत्यप्रवादपूर्व
7. आत्मप्रवादपूर्व
8. कर्मप्रवादपूर्व
9. प्रत्याख्यानपूर्व
10. विद्यानुवादपूर्व
11. कल्याणानुवादपूर्व
12. प्राणावायुप्रवादपूर्व
13. क्रियाविशालपूर्व
14. लोकबिन्दुसारपूर्व

चूलिका के भी पाँच भेद हैं-

1. जलगता
2. स्थलगता
3. मायागता
4. आकाशगता
5. रूपगता

सूत्र और प्रथमानुयोग के एक-एक ही भेद हैं।

अंगबाह्य श्रुतज्ञान के 14 आदि भेद हैं-

1. सामायिक
2. स्तव
3. वन्दना
4. प्रतिक्रमण
5. वैनयिक
6. कृतिकर्म
7. दशवैकालिक
8. उत्तराध्ययन
9. कल्पव्यवहार
10. कल्पाकल्प
11. महाकल्प
12. पुण्डरीक
13. महापुण्डरीक
14. अशीतिका

श्रुतज्ञान मन का विषय है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है - 'श्रुतमनिन्द्रियस्य'। अर्थात् मन का विषय श्रुत है।

श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम को प्राप्त हुए जीव के विषय को श्रुत कहा गया है।

अवधिज्ञान - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा लिये हुए जो रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञान के भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि-

देसावहि परमावहि सव्वावहि अवहि होइ तिब्भेया।

भवगुण कारणभूया णायव्वा होइ णियमेण॥'

अर्थात् देशावधि, परमावधि, सर्वावधि इस प्रकार तीन प्रकार का अवधिज्ञान होता है। इनमें उत्तरोत्तर जानने की शक्ति अधिक होती है। यह नियम से जानना चाहिये। आचार्यों ने अवधिज्ञान के दो भेद भी बताये हैं।

भवप्रत्यय - आयु और नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती है उसे भव कहते हैं भव ही जिसका निमित्त होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है।¹

यह भवप्रत्यय अवधिज्ञान किन-किन जीवों के पाया जाता है तो उसका समाधान करते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।² यद्यपि देव-नारकियों के अवधिज्ञान होता तो क्षयोपशम से ही है पर वह क्षयोपशम भव के निमित्त से होता है, अतः उसे भवप्रत्यय कहते हैं जैसे पक्षियों का आकाश में गमन करना भवनिमित्तक है, शिक्षा गुण की अपेक्षा नहीं। वैसे ही देव-नारकियों के व्रत-नियम आदि के अभाव में भी अवधिज्ञान होता है, अतः उसे भव-निमित्तक कहा गया है। सम्यग्दृष्टि देव-नारकी के अवधिज्ञान होता है तथा मिथ्यादृष्टि के कुअवधिज्ञान अर्थात् विभङ्गावधिज्ञान होता है। तीर्थङ्करों के भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान - अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावीक्षय और अनुदय प्राप्त इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम इन दोनों के निमित्त से जो होता है, वह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान है, अथवा अवधिज्ञानावरण कर्म

¹ भावसंग्रह गाथा 292

² आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः। भवप्रत्ययो भवनिमित्त इति। तत्त्वार्थवार्तिक 1/21/1

³ भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। त. सू. 1/21

के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान को गुणप्रत्यय (क्षयोपशम निमित्तक) अवधिज्ञान कहते हैं। 'अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः तेषामेवाऽनुदयप्राप्तानां सदवस्थोपशमः तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः। स शेषाणां वेदितव्यः। शेषाः मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च।

यह अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यञ्चों के होता है। उनमें भी सभी के नहीं होता। संज्ञी, पर्याप्तक, पञ्चेन्द्रिय पर्याययुक्त सामर्थ्यवान जीव के ही यह होता है।

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है'-

1. अनुगामी - 'भास्कर प्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति' अर्थात् सूर्य के प्रकाश के समान भवान्तर में जाने वाले के पीछे जाता है वह अनुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी (जीव) के साथ भवान्तर में जाए उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। इसके तीन भेद हैं-

(i) क्षेत्रानुगामी - जो दूसरे क्षेत्र में अपने स्वामी के साथ जाए।

(ii) भवानुगामी - जो दूसरे भव में अपने स्वामी के साथ जाए।

(iii) उभयानुगामी - जो दूसरे क्षेत्र तथा भव दोनों में अपने स्वामी के साथ जाए।

2. अननुगामी - 'नानुगच्छति तत्रैवातिपतति उन्मुखप्रश्नादेशिकपुरुषवचनवत्' मूर्ख के प्रश्न के समान वहीं गिर जाता है भवान्तर में साथ नहीं जाता है वह अननुगामी है। जो अपने स्वामी (जीव) के साथ न जाए उसे अननुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

3. अवस्थित - 'सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानात् यत् परिमाण उत्पन्नस्तत् परिमाण एवावतिष्ठते न हीयते नापि वर्धते लिंगवत् आभवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा।' अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान से अवधिज्ञान मुक्तिप्राप्ति या केवलज्ञानपर्यन्त जैसे का तैसा बना रहे, न बढ़े न घटे, वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जैसे तिलादि चिह्न न घटते हैं न बढ़ते हैं। जो सूर्य मण्डल के समान न घटे न बढ़े उसे अवस्थित अवधि ज्ञान कहते हैं।

(i) क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पाः शेषाणाम्।२२॥ तत्त्वार्थसूत्रम्

(ii) अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानाऽवस्थिताऽवस्थितभेदात् षड्विधः

4. **अनवस्थित** - सम्यग्दर्शनादि गुणवृद्धिहानियोगात् यत् परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यं हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेग प्रेरितजलोर्मिवत्। अर्थात् जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान, सम्यग्दर्शनादि गुणों की वृद्धि एवं हानि के कारण वायु से प्रेरित जल की तरंगों के समान जहाँ तक घट सकता है वहाँ तक घटता रहे और जहाँ तक बढ़ सकता है वहाँ तक बढ़ता रहे, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। जो चन्द्रमण्डल की तरह कभी कम कभी अधिक हो जाये उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।
5. **वर्धमान** - 'अरणनिर्मथनोत्पन्नशुष्कपत्रोपचीयमानेन्धननिचयसमिद्धपावकवत् सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धपरिणामसन्निधानाद् यत् परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते आअसंख्येयलोकेभ्यः।' सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि के कारण अरणी के निर्मथन से उत्पन्न शुष्क पत्रों से उपचीयमान ईंधन के समूह में वृद्धिगत अग्नि के समान बढ़ता रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। वह असंख्यात लोक परिमाण तक बढ़ता रहता है। जो शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह अपने अन्तिम स्थान तक बढ़ता जाए उसे वर्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।
6. **हीयमान** - 'परिच्छिन्नोपादानसन्तत्यग्निशिखावत् सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेश-परिणामविवृद्धियोगात् यत्प्रमाण उत्पन्नस्ततो हीयते आ अङ्गुलस्याऽसंख्येयभागात् इति।' अर्थात् जो ईंधन रहित अग्नि के समान जिस परिणाम से उत्पन्न हुआ था उससे प्रतिदिन सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि, संक्लेश परिणाम की वृद्धि के योग से अंगुल के असंख्यात भाग तक घटता रहे वह हीयमान अवधिज्ञान है। जो कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की तरह अन्तिम स्थान तक घटता जाये उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार से अवधिज्ञान के 6 विकल्प होते हैं। दूसरी प्रकार से भी अवधिज्ञान के तीन भेद हैं, जो आचार्य देवसेन स्वामी द्वारा भी भावसंग्रह में उल्लिखित हैं-1. देशावधिज्ञान 2. परमावधिज्ञान 3. सर्वावधिज्ञान।

1 भावसंग्रह, गाथा 292

उसमें जघन्य, मध्यम (अजघन्योत्कृष्ट), उत्कृष्ट के भेद से देशावधि तीन प्रकार का है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से परमावधि भी तीन प्रकार का है। अविकल्प होने से सर्वावधि एक प्रकार का है। देशावधि का जघन्य क्षेत्र उत्सेधांगुल के असंख्यात भाग मात्र है, उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक है। मध्यम क्षेत्र जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का असंख्यात प्रकार का है। परमावधि का जघन्य क्षेत्र एक प्रदेश अधिक सर्वलोक प्रमाण है और उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात लोकप्रमाण है, मध्य के विकल्प जघन्योत्कृष्ट क्षेत्र हैं। परमावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर असंख्यात लोक क्षेत्र सर्वावधि का है।

वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती और प्रतिपाती के भेद से देशावधि आठ प्रकार का है। हीयमान और प्रतिपाती के बिना शेष छह भेद परमावधि के हैं। अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद सर्वावधि के हैं। अनुगामी आदि छह भेदों के लक्षण पहले कह चुके हैं।

प्रतिपाती - 'प्रतिपातीति विनाशी विद्युत्प्रकाशवत्' प्रतिपाती बिजली की चमक के समान विनाशशील है अर्थात् छूटने वाला है।

अप्रतिपाती - 'तद्विपरीतोऽप्रतिपाती' अप्रतिपाती उससे विपरीत अर्थात् केवलज्ञान पर्यन्त नहीं छूटने वाला है।

तिर्यञ्चों के उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र असंख्यात द्वीप, समुद्र, काल असंख्यात वर्ष और तेजः शरीर प्रमाण द्रव्य है। तिर्यञ्चों के केवल देशावधि ही होता है। मनुष्यों की उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र, काल असंख्यात वर्ष और द्रव्य कार्माण शरीर प्रमाण है। यह उत्कृष्ट देशावधि संयत मनुष्यों के ही होती है, असंयतों के नहीं। शेष पहले कहा जा चुका है।

मनःपर्ययज्ञान - द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए परकीय मनोगत मन, वचन, कायगत पदार्थों को जो जानता है, वह मनःपर्यय ज्ञान है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने मनःपर्ययज्ञान के दो भेद कहे हैं - ऋजुमति, विपुलमति² आचार्य देवसेन स्वामी ने भी मनःपर्ययज्ञान के दो भेद स्वीकार किये हैं-

¹ तत्त्वार्थवार्तिक 1/22/4

² ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः। त. सू. 1/23

मणपञ्जयं च दुविहं रिउ विउलमइ तहेव णायव्वं।
केवलणाणं एक्कं सव्वत्थ पयासयं णिच्चं।¹

अर्थात् मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं, एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। केवलज्ञान एक है, नित्य है, अनन्तकाल तक रहता है और लोक-अलोक सबको प्रकाशित करता है।

ऋजुमति - 'ऋज्वो मतिर्यस्य सोऽयमृजुमतिः' जिसकी मति ऋजु है उसको ऋजुमति कहते हैं।

विपुलमति - 'अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला। अनिर्वर्तितवाक्कायमनस्कृतार्थस्य परकीय-मनोगतस्य विज्ञानात्। विपुला मतिरस्य स विपुलमतिः।' अनिर्वर्त या कुटिल को विपुल कहते हैं, क्योंकि परकीय मनोगत अनिर्वर्तित या बक्र मन-वचन-काय सम्बन्धी पदार्थ को जानता है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है।

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान इन दोनों में परस्पर विशेषता है जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में विशेषता है।²

विशुद्धि - 'तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः।' ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर आत्मपरिणामों में जो निर्मलता आती है उसको विशुद्धि कहते हैं।

प्रतिपात - 'प्रतिपतनं प्रतिपातः' प्रतिपतन का नाम है प्रतिपात। चारित्र मोहनीय कर्म के उद्रेक से संयम के शिखर से च्युत हुए उपशान्त कषायी के मनःपर्ययज्ञान का प्रतिपात होता है, परन्तु क्षीण कषायी 12वें गुणस्थानवर्ती के प्रतिपाती कारणों का अभाव होने से अप्रतिपाती है। विपुलमति विशुद्धतर और अप्रतिपाती है। विशुद्धि की अपेक्षा ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। द्रव्य की अपेक्षा सर्वावधि के विषयभूत कार्माण द्रव्य का अनन्तवां भाग ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान का विषय है और ऋजुमति के द्रव्य का अनन्तवां भाग विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का विषय है।

¹ भा. सं., गा. 293

² विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। त. सू. 24

सूक्ष्मतर द्रव्य का विषय होने से भाव विशुद्धि भी विपुलमति की अधिक है। प्रकृष्ट क्षयोपशम विशुद्धि भाव के योग के कारण अप्रतिपाती होने से भी विपुलमति विशिष्ट है - प्रवर्द्धमान चारित्र वाला ही विपुलमति का स्वामी होता है, कषाय के उद्रेक से हीयमान चारित्र वाला स्वामी होने से ऋजुमति प्रतिपाती है।

यहाँ एक तालिका के द्वारा मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान में विशेषता प्रदर्शित करते हैं:-

अवधिज्ञान	मनःपर्ययज्ञान
विशुद्धि - मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा कम	अवधिज्ञान की अपेक्षा ज्यादा
क्षेत्र - ज्यादा (अधिक)	कम (अल्प)
स्वामी - अधिक, चारों गतियों के जीवों में प्राप्त है।	संयमी मुनिराज के ही होता है
विषय - अधिक एवं स्थूल	अल्प एवं सूक्ष्म

केवलज्ञान - जो तीनों कालों में तीनों लोकों के समस्त द्रव्य की समस्त पर्यायों एक समय में एक साथ जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

इनमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, विपर्यय अर्थात् विपरीत भी होते हैं। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभङ्गावधिज्ञान (कुअवधिज्ञान)।¹

इस प्रकार से ज्ञानोपयोग के 8 भेद हो जाते हैं। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी उल्लिखित किया है-

णाणं अट्ठ वियणं मदिसुद ओही अण्णणाणाणि।

मणपञ्जय केवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेयं चा।²

अर्थात् ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और इन तीनों के विपरीत कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, विभङ्गावधि (कुअवधि) एवं मनः पर्ययज्ञान और

1. मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। त. सू. 1/31

2. बृ. द्र. सं. गा. 5

केवलज्ञान। इस प्रकार ये ज्ञानोपयोग के आठ भेद हो जाते हैं। इनमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये परोक्ष ज्ञान हैं और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान ये प्रत्यक्षज्ञान हैं।

परोक्षज्ञान - 'उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम्'¹ अर्थात् उपात्त, अनुपात्तरूप प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। उपात्त इन्द्रियाँ और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश, उपदेशादि को 'पर' कहते हैं और पर (इन्द्रिय, मन, प्रकाश, उपदेश आदि) के निमित्त होने वाले अर्थावबोध को परोक्षज्ञान कहते हैं। जैसे गमनशक्ति से युक्त और स्वयमेव गमन करने में असमर्थ भी पुरुष का लाठी आदि की सहायता से गमन होता है, उसी प्रकार मति एवं श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर भी स्वयमेव पदार्थों को जानने में असमर्थ 'ज्ञ' स्वभाव आत्मा के पूर्वोक्त इन्द्रियाँ, मन और प्रकाशादि पर प्रत्यय (कारण) की प्रधानता से ज्ञान होता है। वह परायत्व (पर के निमित्त) होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष - 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्'² अर्थात् इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ और अनिन्द्रिय (मन) है उनमें जिसकी अपेक्षा नहीं है। 'अतत्' को 'तत्' रूप से ग्रहण करने का ज्ञान व्यभिचार है - जिसके व्यभिचार नहीं है वह अव्यभिचार है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान तत् को 'तत्' स्वरूप जानता है। आकार का अर्थ विकल्प या भेद है। आकार के साथ है उसे साकार कहते हैं। वह अतीन्द्रिय अव्यभिचारी और साकार ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

'अक्षं प्रति नियतमति परापेक्षानिवृत्तिः'³

अक्ष के प्रति नियत हो और जिसमें पर की अपेक्षा न हो 'अक्षणोति' जो जगत् के सारे पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है वह अक्ष-आत्मा, जो ज्ञान प्रक्षीणावरण या क्षयोपशम प्राप्त आत्म मात्र की अपेक्षा से होता है वह प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष का व्युत्पत्ति अर्थ करने से इन्द्रिय और मन रूप पर की अपेक्षा की निवृत्ति हो जाती है।

- 1 राजवार्तिक 1/11/6
- 2 राजवार्तिक 1/12/1
- 3 राजवार्तिक 1/12/2

प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रत्येक दर्शन ने स्वीकार किया है और अपने-अपने अनुसार प्रत्यक्ष को परिभाषित भी किया है जिनमें से कुछ दर्शनों का प्रत्यक्ष प्रमाण उनके मतानुसार प्रस्तुत करते हैं-

बौद्धमत के अनुसार - 'इन्द्रियनिमित्त ज्ञान प्रत्यक्ष है' उससे विपरीत ज्ञान परोक्ष है।¹ बौद्ध कल्पनापोढ² अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। नाम, जाति आदि की योजना को कल्पना³ कहते हैं। इन्द्रियाँ असाधारण कारण हैं, अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष आदि रूप से इन्द्रियों के अनुसार प्रत्यक्ष का नामकरण हो जाता है।

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मान लेने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव हो जायेगा। यदि इन्द्रियनिमित्त से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया जाय तो आप्त (सर्वज्ञदेव) इन्द्रिय के निमित्त से पदार्थों के ज्ञान का अभाव है, यदि आप्त के भी इन्द्रियनिमित्त ज्ञान मानेंगे तो आप्त के असर्वज्ञपना हो जायेगा।

नैयायिकों के मतानुसार - इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले अव्यपदेश-निर्विकल्पक अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।⁴

वैशेषिक दर्शन के मतानुसार - आत्मा, इन्द्रिय, मन और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।⁵

सांख्यदर्शन के मतानुसार - श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को प्रत्यक्ष कहते हैं⁶ अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का अपने अपने विषय के साथ जो संयोग है, उससे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष⁷ होता है।

1 इन्द्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद्विपरीतं परोक्षम्।

2 प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना।

असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते॥

3 जातिः क्रिया गुणो द्रव्यं संज्ञा पञ्चैव कल्पना।

4 इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचार व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायसू. 1/1/4

5 आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यनिष्पद्यते।

6 श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्।

7 प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टः। सांख्यकारिका

मीमांसकों के मतानुसार - इन्द्रियों का संप्रयोग होने पर पुरुष के उत्पन्न होने वाली बुद्धि को प्रत्यक्ष कहते हैं।¹

इन सब प्रत्यक्ष प्रमाणों के स्वरूपों को देखकर एवं समझकर आचार्य अकलंक स्वामी ने समस्त दर्शनों को एक अन्य प्रत्यक्ष प्रदर्शित किया, जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम से जाना गया। परोक्ष प्रमाण को ही आचार्य अकलंक स्वामी ने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के नाम से द्योतित किया है।

आगे जीव के स्वरूप में और विशेषता बताते हुए आचार्य भावसंग्रह में लिखते हैं कि-

यमिह भवे जे देहं तमिह भवे तप्पमाणओ अप्पा।

संहार वित्थरगुणो केवलणाणीहिं उदिदट्ठो।।295।।

अर्थात् इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ वह आत्मा अनेक योनियों में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े शरीर धारण करता है। शरीर के प्रमाण के समान ही आत्मा का आकार हो जाता है। इसका कारण है कि आत्मा में संकोच विस्तार की शक्ति है ऐसा केवलज्ञानियों के द्वारा कहा गया है।

संकोच गुण से यह निगोदिया जीव की पर्याय को भी धारण कर लेता है और विस्तार गुण से यह महामत्स्य के शरीर को भी धारण कर लेता है। आत्मा के प्रदेश तो असंख्यात ही होते हैं। उन्हीं असंख्यात प्रदेशों को वह सिकोड़ लेता है और विस्तार कर लेता है। इस संकोच और विस्तार में आत्म-प्रदेशों के प्रमाण में कोई भी कमी या बढ़त नहीं होती है। इसी विषय को आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी ने भी द्रव्य संग्रह में उल्लेख किया है-

अणु गुरु देह पमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।

असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।।10।।

अर्थात् व्यवहारनय से समुद्घात को छोड़कर संकोच विस्तार गुण के कारण यह छोटे और बड़े अपने शरीर प्रमाण है और निश्चयनय से यह असंख्यात प्रदेश वाला है। जीव के स्वरूप को अन्य अपेक्षा से बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि-

¹ सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षम्। मी. द. 1/1/4

जो कत्ता सो भुत्ता व्यवहार गुणेण होइ कम्मस्स।
ण ह्यु णिच्छएण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं।१२९६॥

अर्थात् यह जीव व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता है और यही आत्मा अपने आप किये गये उन कर्मों के फल का भोक्ता है। निश्चयनय से न तो वह कर्मों का कर्ता है, न ही भोक्ता वह तो शुद्धस्वभावों का कर्ता और भोक्ता है। आत्मा के कर्ता और भोक्ता के विषय में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने अलग-अलग गाथाओं में प्रदर्शित किया है। उन्होंने कहा कि- 'यह जीव व्यवहारनय से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतनकर्मों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धभावों का ही कर्ता है एवं व्यवहारनय की अपेक्षा से पुद्गल कर्मों का फल सुख-दुःख रूप भोक्ता है तथा निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा के चेतनभावों का ही भोक्ता है। इस तरह से दो गाथाओं में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने कर्ता और भोक्तापने को प्रदर्शित किया है। जीव के स्वरूप में और विशिष्टता बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि-

सुहमो अमुत्तिवंता वण्णगंधाइफासपरिहीणो।
पुगलमज्झिगओ वि य णय मिल्लइ णिययसम्भावं।^१

अर्थात् यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, अमूर्त है, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इन पुद्गल के गुणों से रहित है। यद्यपि पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्मों से मिला हुआ है तथापि अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है।

इसी विषय को आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी ने भी वर्णित किया है-निश्चयनय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं हैं, इसलिये वह अमूर्तिक है और इनसे बंधा होने से व्यवहारनय से यह जीव मूर्तिक है।^१

^१ पुगल कम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणदा सुद्धणया शुद्धभावाणं।१८॥
ववहारा सुहदुक्खं पुगलकम्मफलं पभुजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।१९॥ द्र. सं.
^२ भावसंग्रह गा. २९८
^३ वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।१७॥

आगे कहते हैं-

सबभावे णुड्ढगई विदिसं परिहरिय गइ चउक्केण।
गच्छेइ कम्मजुत्तो सुद्धो पुण रिज्जुगइ जाइ।।

अर्थात् यह जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता है परन्तु जो कर्मसहित जीव हैं वे विग्रहगति में चारों विदिशाओं को छोड़कर छहों दिशाओं में गमन करते हैं तथा जो शुद्धजीव हैं वे ऋजुगति से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।

इसी सम्बन्ध में कुछ लोगों की ये हठधर्मिता है कि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये यह जीव जब भी मरण करता है तो सबसे पहले वह ऊपर जाता है पश्चात् अपने आयु कर्म के अनुसार अपनी अगली पर्याय को प्राप्त करने को गमन करता है तो इसके उत्तर में पं. रतनचन्द्र जी ने 'रत्नचन्द्र मुख्तार - व्यक्तित्व कृतित्व' में एक शंका के समाधान में लिखा है कि यदि ऐसा माना जायेगा तो इसमें दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि नियम सभी जीवों में लागू होगा तब फिर जो जीव ऊपर अन्तिम तनुवातवलय से मरण करेगा तो वह ऊर्ध्वगमन कैसे करेगा, क्योंकि उसके ऊपर धर्मद्रव्य का अभाव है इसी कारण से ही तो सिद्ध भगवान भी आगे गमन नहीं कर पाते जबकि उनमें अनन्त शक्ति का समावेश है। इसलिये यह नियम बाधित होता है। ऊर्ध्व गमन करना शुद्धजीव का स्वभाव है न कि संसारी जीव का। हाँ संसारी जीव को अपनी वर्तमान अवस्था से ठीक ऊपर स्वर्ग के विमान में जन्म लेना होगा तो वह मरण करके सीधा ऋजुगति से गमन करके वहाँ पहुँच जाता है। यदि मरणोपरान्त ऊपर गमन करके पश्चात् गन्तव्य तक पहुँचेगा ऐसा माना जाय तो संसारी जीव के ऋजुगति का तो अभाव हो जायेगा जो कि हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा इष्ट नहीं है। आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि संसारी जीव की बिना मोड़े वाली और मोड़े वाली गति होती है² और शुद्ध जीव की बिना मोड़े वाली गति है।³ अधिक से अधिक तीन मोड़े वाली गति ही हो सकती है क्योंकि चतुर्थ समय में नियम से यह जीव जन्म ले ही लेता है।

1 भा. सं. 299

2 विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। त. सू. 2/28

3 अविग्रहा जीवस्य। त. सू. 2/27

आचार्य देवसेन स्वामी भी लिखते हैं कि पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका, इस प्रकार बक्रगति के तीन भेद हैं। कार्मण शरीर से युक्त जीव एक, दो या तीन मोड़ लेते हैं। अपनी-अपनी लेश्याओं के निमित्त से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरकादि गतियों में अपने चिरकाल से उपार्जित किये गये कर्मों के उदय से जैसा शरीर धारण करना है वैसा शरीर चौथे समय में धारण कर ही लेता है।¹

यह जीव जितने मोड़ लेता है उतने ही समय तक यह जीव अनाहारक होता है। अधिक से अधिक यह जीव विग्रह गति में तीन समय तक अनाहारक रह सकता है, उसके बाद चतुर्थ समय में नियमपूर्वक जन्म ले ही लेता है। संसारी जीव ऋजुगति से भी गुमन करता है, एक मोड़ वाली गति, दो मोड़ वाली गति और अधिक से अधिक तीन मोड़ वाली गति ही कर सकता है, इसी कारण से चतुर्थ समय में जन्म ले ही लेता है। इसमें ऐसा समझना चाहिये कि तीन समय तक अनाहारक रह सकता है,² क्योंकि जन्म से एक समय पहले यह जीव नियम से आहारक हो ही जाता है। आगे आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि यह संसारी जीव इस प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के सुख और दुःख भोगता रहता है।³ आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने इसी विषय को बृहद्द्रव्यसंग्रह में उल्लिखित किया है—

पञ्चेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी दो, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय के स्थूल (बादर) और सूक्ष्म दो भेद इस प्रकार ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह प्रकार के जीवसमास हो जाते हैं।⁴ इन्हीं में भेद-प्रभेद करने पर और भी

- 1 पाणिविमुक्ता लंगलि बंकगई होइ तह य पुण तइया।
कम्मण काय जुतो दो तण्ण य कुणइ बंकाइ।।
तहए समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं।
सुरणर णारदयाणं तिरियाणं चव लेसवसो।। भा. सं. 300-301
- 2 एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः। त. सू. 2/30
- 3 सुहं दुखं भुजंतो हिंडदि जोणीसु सयसहस्सेसु।
एयोदियं वियल्लिदिय सयल्लिदिय पज्ज पज्जतो।।302।।
- 4 समणा अमणा पेया पच्चिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बायरसुहुमेइंदिय सव्वे पज्जत्त इदरा य।। वृ. द्र. सं. गा. 12

जीवसमास हो जाते हैं जिनका वर्गीकरण आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में किया है।

2. अजीव तत्त्व - जीव के विपरीत स्वभाव वाला अजीव तत्त्व कहलाता है। इसका विशेष वर्णन भेदों सहित आगामी तृतीय परिच्छेद में द्रव्य के वर्णन में किया जाएगा।

3. आस्रव तत्त्व का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं-

जिस प्रकार किसी नदी का प्रवाह किसी पर्वत से निकलता है और वह किसी सरोवर में निरन्तर प्रवेश करता रहता है, उसी प्रकार जीव के शुभ और अशुभ परिणामों को पाकर आगामी काल के लिये कर्मों का आस्रव होता रहता है कर्मों का आस्रव मन, चित्त और काय इन तीनों योगों से होता है।¹ इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि-‘कायवाङ्मनः कर्म योगः’ ‘स आस्रवः’। अशुभ योगों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और शुभ योगों से शुभ कर्मों का आस्रव होता है।²

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है-‘शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रवः’³ अर्थात् शुभ और अशुभ कर्मों के आने के द्वार रूप आस्रव है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी के अनुसार जिन भावों से आत्मा में कर्म आते हैं वह भावास्रव कहलाता है और कर्मरूप परिणत होकर आत्मा में कर्मों का आना ‘द्रव्यास्रव’ कहा जाता है। इस प्रकार आस्रव को दो भेद रूप प्रदर्शित किया है।⁴ यह आस्रव मुख्य रूप से राग-द्वेष-मोह आदि के कारण से होता है। आचार्य ने कर्मप्रकृतियों को आस्रव के भेद से पुण्य प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियाँ रूप दो भेद किये हैं। जिनमें 100 प्रकृतियाँ पाप रूप और 68 प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं। भावास्रव के 5 मिथ्यात्व, 15 योग, 12 अविरति और 25 कषाय के भेद से कुल सत्तावन भेद होते हैं।

1. भावसंग्रह 319-320

2. तत्त्वार्थसूत्र 6/1-3

3. सर्वार्थसिद्धि 1/4

4. आस्रवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।

भावासओ जिणुत्तो कम्मसवणं परो होदि।।29।।

1. बन्ध तत्त्व - आगे बन्ध तत्त्व का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि जीव के एक-एक प्रदेश के साथ अनंतानन्त कर्मवर्णणायें घनीभूत अन्धकार के जैसे इकट्ठी होकर द्रव्य-पानी की तरह एकमेक हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के प्रदेशों और कर्मवर्णणाओं का अन्योन्यप्रवेश होना ही बन्ध तत्त्व कहलाता है।¹ आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बंध प्रतिसमय होता रहता है, क्योंकि आयुकर्म का बन्ध आयु के त्रिभाग में होता है। ऐसे आयुबंध के आठ त्रिभाग (अपकर्षकाल) आते हैं, इन्हीं समयों में आयु का बन्ध होता है अन्य समयों में नहीं।

बन्ध के भेदों का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा कथित सिद्धान्त शास्त्रों में बन्ध के चार भेद हैं-प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध।² आचार्य उमास्वामी ने तो बन्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए पूरा आठवाँ अध्याय लिख दिया है। बन्ध तत्त्व को भी दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। अर्थात् भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। इनमें जिन परिणामों से पुद्गल कर्म वर्णणाओं का आत्मप्रदेशों से एकमेक होना संभव होता है वह भावबन्ध है और कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गल वर्णणाओं को ग्रहण करता है वह द्रव्य बन्ध कहलाता है। भावबन्ध में उसके हेतुओं का निरूपण करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये भाव बन्ध के पाँच हेतु हैं। इन्हीं पाँचों के कारण से आत्मा कर्मों से बंधती है जिनमें मुख्य रूप से कषाय के कारण ही कर्म बन्ध होता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने भी बन्ध तत्त्व की विशद व्याख्या की है। उसमें सर्वप्रथम प्रकृतिबन्ध का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि स्वभाव को ही प्रकृति कहते हैं अर्थात् जिस कर्म का जैसा स्वभाव है वही उसकी प्रकृति है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार आत्मा के साथ एकमेक होना ही प्रकृति बन्ध कहलाता है। प्रकृति बन्ध के 8 भेद हैं-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।³

जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढक लेता है प्रकट नहीं होने देता वह ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। जैसे किसी प्रतिमा पर कपड़ा डाल देने से प्रतिमा ढक जाती है। जो

1 भावसंग्रह गाथा 324,325

2 भावसंग्रह गाथा 339, त. सू. 8/3

3 त. सू. 8/4, भा. सं. गा. 330

आत्मा के दर्शन गुण को ढक लेता है प्रकट नहीं होने देता वह दर्शनावरण कर्म कहलाता है। जैसे राजा के महल के बाहर बैठा द्वारपाल राजा के दर्शन नहीं होने देता।

जो कर्म जीवों को सुख-दुख का वेदन करवाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जैसे शहद लपेटी तलवार को चाटने पर शहद चाटने से मीठी लगने पर सुख और जीभ के कट जाने से दुःख होता है। साता और असाता इसके दो भेद होते हैं। जो कर्म जीवों को मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है। जैसे मद्य पुरुषों को मोहित कर देती है। मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। 1. दर्शन मोहनीय, 2. चारित्र मोहनीय। जो आत्मा में सम्यक्त्व गुण का घात करता है वह दर्शन मोहनीय कर्म है। इसके तीन भेद हैं-मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति।

जो आत्मा के चरित्र गुण का घात करता है वह चारित्र मोहनीय कर्म है। इसके मुख्यतया दो भेद हैं कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय। कषाय वेदनीय के 16 और अकषाय वेदनीय के 9 भेद हैं, ऐसे कुल 25 भेद हो जाते हैं।

जो कर्म जीव को निश्चित समय तक एक ही शरीर में रोके रहता है वह आयु कर्म कहलाता है। जैसे किसी कारागार में निश्चित समय के लिये कैदी को रोककर रखा जाता है। इसके चार भेद हैं नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

जो कर्म जीव को छोटे बड़े शरीरांगोपांगादि प्रदान करता है उसे नाम कर्म कहते हैं। जैसे कोई चित्रकार तरह तरह के चित्रादि बनाता है। इसके मुख्य रूप से 42 भेद हैं और प्रभेद करने पर इसके 93 भेद हो जाते हैं।

जो कर्म जीव को छोटे - बड़े कुल में उत्पन्न कराता है वह गोत्रकर्म कहलाता है। जैसे कुम्हार छोटे बड़े बर्तन आदि बनाता है। इसके दो भेद हैं उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

जो कर्म शुभकार्यों में विघ्न उत्पन्न करता है वह अन्तराय कर्म कहलाता है। जैसे कोई मुनीम किसी सेठ को दान देने से रोकता है। इसके पाँच भेद हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य।

इस प्रकार आठों कर्मों के प्रभेदों का योग करें तो 148 भेद हो जाते हैं। इसी से प्रकृतिबन्ध के 148 भेद हो जाते हैं।

प्रकृति बन्ध के इन भेदों में जो फल देने की शक्ति है उसे अनुभाग कहते हैं और उनका अनुभाग के साथ आत्मा के प्रदेशों से एकमेक होना अनुभाग बन्ध कहलाता है। इनमें जिनका तीव्र अनुभाग बन्ध होता है उनका तीव्रता से उदय होता है और जिनका मन्द अनुभाग बन्ध होता है तो उनका मन्दता से उदय होता है। इस अनुभाग बन्ध में भी घातिया कर्म और अघातिया कर्म की अपेक्षा विशेषता आती है। हम निम्न तालिका के द्वारा इसको समझ सकते हैं। घातिया कर्म पापरूप ही होते हैं इसलिये उनका अनुभाग भी पापरूप होता है।

लता	दारु (लकड़ी)	अस्थि	शैल
1-25	26-50	51-75	76-100

इनमें लता एवं दारु का एक भाग देशघाती होता है और दारु के एक भाग के आगे का भाग अस्थि एवं शैल रूप सर्वघाती होती है। इनमें सम्यग्दृष्टि जीव द्विस्थानीय अर्थात् लता एवं दारु रूप ही अनुभाग बन्ध करता है और श्रेणी वाला जीव लता रूप ही अनुभाग बन्ध करता है। मिथ्यादृष्टि चतुस्थानीय अर्थात् लता, दारु, अस्थि और शैल रूप अनुभाग बन्ध करता है। अघातिया कर्मों में पाप प्रकृतियाँ और पुण्य प्रकृतियाँ दोनों होती हैं, इसीलिए अघातिया कर्मों का अनुभाग भी पापरूप और पुण्यरूप होगा। दोनों को तालिका के द्वारा समझते हैं-

नीम	कांजी	विष	हलाहल
1-25	26-50	51-75	76-100

इनमें सम्यग्दृष्टि जीव द्विस्थानीय अर्थात् नीम और कांजी रूप अनुभाग बांधता है और 9वें गुणस्थान तक श्रेणी में नीमरूप ही अनुभाग बन्ध होता है एवं मिथ्यादृष्टि चतुस्थानीय अर्थात् नीम, कांजी, विष, हलाहल रूप अनुभाग बन्ध करता है।

इसी प्रकार अघातिया कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध भी तालिका के द्वारा समझते हैं-

गुड़	खाण्ड	शर्करा	अमृत
1-25	26-50	51-75	76-100

इनमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि चतुःस्थानीय अर्थात् गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत रूप अनुभाग बन्ध करता है। परन्तु 10वें गुणस्थानवर्ती क्षपक श्रेणी वाला जीव अमृत का सम्पूर्ण भाग बन्ध करता है।

यह अनुभाग बन्ध कषाय की तीव्रता और मन्दता के द्वारा भिन्न-भिन्न तरह से बन्धता है। इसलिये कषाय की तीव्रता में पुण्य प्रकृति का कम और पाप प्रकृति का अधिक अनुभाग बन्ध होता है एवं कषाय की मन्दता में पुण्य प्रकृति का अधिक और पापप्रकृति का कम अनुभाग बन्ध होता है।

किसी निश्चित अवधि के अनुरूप आत्मा के प्रदेशों के साथ एकमेक होना स्थिति बन्ध कहलाता है। आठों कर्मों की स्थिति भी कषाय की तीव्रता और मन्दता के आधार पर ही बंधती है। आठों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति को हम इस तालिका के द्वारा समझते हैं-

कर्म	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
ज्ञानावरण	तीस कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरण	तीस कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
वेदनीय	तीस कोड़ाकोड़ी सागर	बारह मुहूर्त
मोहनीय	सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
आयु	तीस सागर	अन्तर्मुहूर्त
नाम	बीस कोड़ाकोड़ी सागर	आठ मुहूर्त
गोत्र	बीस कोड़ाकोड़ी सागर	आठ मुहूर्त
अन्तराय	तीस कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त

आचार्य देवसेन स्वामी ने प्रदेश बन्ध की विशेष व्याख्या नहीं की है बस सामान्य से वर्णन किया है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने प्रदेशबन्ध का बड़ा ही सुन्दर

वर्णन किया है - कर्मप्रकृतियों के कारणभूत प्रतिसमय योगविशेष से सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशों में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।¹

जो पुद्गल परमाणु कर्मरूप से ग्रहण किये जाते हैं वे ज्ञानावरणादि आठ अथवा सात (आयु को छोड़कर) प्रकार से परिणमन करते हैं। उनका ग्रहण संसारावस्था में सदा होता रहता है। ग्रहण का मुख्य कारण योग है, वे सूक्ष्म होते हैं। जिस क्षेत्र में आत्मा स्थित होता है उसी क्षेत्र के कर्म परमाणुओं का ग्रहण होता है अन्य का नहीं। उसमें भी स्थित कर्मपरमाणुओं का ही ग्रहण होता है अन्य का नहीं। ग्रहण किये गये कर्मपरमाणु आत्मा के सब प्रदेशों में स्थित रहते हैं और जो अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण संख्या वाले, घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र की अवगाहना वाले एक, दो, तीन, चार, संख्यात और असंख्यात समय की स्थिति वाले तथा पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, चार स्पर्श वाले वे आठ प्रकार की कर्मप्रकृतियों के योग्य कर्मस्कन्ध होते हैं। ऐसा आशय आचार्य महाराज का है।

5. संवर तत्त्व - अब इसके पश्चात् संवर तत्त्व का स्वरूप बताते हैं-

जिन मन, वचन, काय की क्रियाओं से कर्मों का आस्रव होता है, उन्हीं मन, वचन और काय की क्रियाओं को रोक देने से कर्मों का आना रुक जाता है; इसी को संवर तत्त्व कहते हैं। आस्रव का एकदम विपरीत तत्त्व संवर तत्त्व होता है। आस्रव में कर्म आते हैं और संवर में कर्म रुकते हैं यही दोनों में महान् अन्तर है। संवर को भी दो प्रकार से जाना जा सकता है - एक भाव संवर और एक द्रव्य संवर। जिन परिणामों से कर्मों का आत्मा में आना रुक जाना होता है वह भाव संवर कहलाता है एवं उन परिणामों से कर्म पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा में आना रुक जाना वही द्रव्य संवर कहलाता है।

जिस जीव के शुभ-अशुभ रूप संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं, समस्त इन्द्रियों के व्यापार (क्रिया-कलाप) नष्ट हो जाते हैं और आत्मा का शुद्ध भाव प्रकट हो जाता है तब शुभ और अशुभ कर्मों का संवर हो जाता है।

¹ त. सू. 8/24

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र, ये सब संवर के मुख्य हेतु आचार्यों ने स्वीकार किये हैं।'

6. निर्जरा तत्त्व - अब इसके बाद निर्जरा तत्त्व का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - पहले के संचित हुए कर्मों का सड़ना, छूटना अर्थात् आत्मा से उनका सम्बन्ध हट जाना उसको निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं एक विपाकजा और दूसरी अविपाकजा¹

जो कर्म समय के अनुसार अपनी स्थिति के पूर्ण होने पर अपना फल देकर खिर जाते हैं उसको विपाकजा निर्जरा कहते हैं। जैसे वृक्ष पर लगा आम का फल अपने समय आने पर पककर डाली से नीचे गिर जाता है इसी प्रकार विपाकजा निर्जरा होती है। परन्तु समयानुसार कर्म उदय में आकर फल देते हैं और जीव उस फल में राग-द्वेष आदि परिणाम कर लेता है जिस कारण वह उसी समय नवीन कर्मबन्ध कर लेता है। ऐसी ही श्रृंखला चलती रहती है और संसार का कभी भी अन्त नहीं आता। विपाकजा निर्जरा को आचार्यों ने 'गजस्नानवत्' कहा है, क्योंकि हाथी नदी आदि में स्नान करके बाहर फिर से धूल उठाकर अपने ऊपर डाल लेता है।

जो कर्म बिना फल दिये तपश्चरणादि के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है। जैसे-आम के वृक्ष से कच्चा फल तोड़कर पालादि के द्वारा उसको समय से पहले ही पका लिया जाता है उसी प्रकार अविपाकजा निर्जरा है। वास्तव में इसी निर्जरा से ही इस जीव का कल्याण हो सकता है अन्यथा कल्याण की कोई दूसरी विधि नहीं है। सामान्यतया कर्मों का एकदेश झड़ना निर्जरा कहलाता है और कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा होती है तभी इस जीव का कल्याण सम्भव है नहीं तो एकतरफ से कर्म आते रहें और दूसरी तरफ से निर्जरा करते रहें तो इससे कोई लाभ नहीं होगा।

7. मोक्ष तत्त्व - अब मोक्ष तत्त्व का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा में से समस्त कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष कहलाता है। आचार्य उमास्वामी महाराज मोक्ष

¹ बृ. द्र. सं. गाथा 35, त. सू. 9/2

² भावसंग्रह गाथा 344, 345, बृ. द्र. सं. गाथा 36

का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष कहलाता है।¹

मोक्ष के दो भेद कहे हैं-एकदेश और सर्वदेश। मोक्ष शब्द का अर्थ है छूटना। जब चारों घातिया कर्मों का नाश हो जाता तो उसे एकदेश मोक्ष कहते हैं, क्योंकि कर्मों में घातिया कर्म सबसे प्रबल हैं। जब इन कर्मों का नाश हो जाता है तो शेष कर्मों का नाश भी अवश्य होगा, इस अपेक्षा से इसे एकदेश या भावमोक्ष कहा जाता है। इसी तरह शेष अघातिया कर्मों का सम्पूर्ण रूप से नाश हो जाना सर्वदेश या द्रव्यमोक्ष कहलाता है। समस्त कर्मों के नाश हो जाने से यह संसारी जीव ही मुक्त जीव की संज्ञा को प्राप्त हो जाता है।

इन्हीं सातों तत्त्वों में पुण्य और पाप को जोड़ देने से ये नौ पदार्थ कहलाते हैं। इसीलिए जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को धारण कर लेता है और जिसकी कषायें सब शान्त हो जाती हैं, उस समय वह जीव पुण्यरूप कहलाता है जो आत्मा को पवित्र बनाता है अथवा पवित्र करता है वह पुण्य है और इसी के विपरीत जो जीव को अपवित्र बनाता है अथवा जीव का पतन करवाता है वह पाप कहलाता है। जिसके मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र, हिंसा आदि क्रियायें होती हैं वह पापी कहलाता है।

¹ त. सू. 10/2

तृतीय परिच्छेद : द्रव्य का स्वरूप एवं भेद

भारत की दर्शन परम्परा अतिप्राचीन है। भारतीय आस्था एवं परम्परा की आधारशिला दर्शन पर स्थापित है अथवा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहना अधिक उचित होगा। दर्शन की धुरी द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ के केन्द्र पर ही घूमती है। द्रव्य शब्द केवल दर्शन का ही नहीं, अपितु भारतीय वाङ्मय, प्राकृत, संस्कृत, पालि, आदि समस्त प्राचीन शास्त्रीय भाषाओं का अत्यन्त प्रचलित शब्द है। चाहे काव्य हो या व्याकरण, तत्त्वमीमांसा हो या आयुर्वेदशास्त्र, इनमें द्रव्य का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। षाणिनी ने भी द्रव्य की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई है तद्धित में और कृदन्त प्रकरण में। तद्धित में भी दो प्रकार से है- प्रथम वृक्ष या काष्ठ का विकार या अवयव द्रव्य है। द्वितीय-जिस प्रकार लकड़ी मनचाहा आकार ग्रहण कर लेती है उसी प्रकार द्रव्य भी होता है। कृदन्त प्रकरण के अनुसार द्रव्य की उत्पत्ति द्रु धातु से कर्मार्थक 'यत्' प्रत्यय से होती है जिसका अभिप्राय है प्राप्तियोग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थायें प्राप्त होती हैं। दार्शनिक दृष्टि से द्रव्य इस प्रकार परिभाषित किया गया है- "अद्रव्यत् द्रवति द्रोष्यति तास्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्" अर्थात् जो विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। जो अवस्थाओं के विनाश होते रहने पर भी ध्रुव बना रहता है वह द्रव्य है।

सत् सत्ता अथवा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। अतः अनादि अनन्त है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। सभी द्रव्य स्वभाव सिद्ध हैं क्योंकि वे सब अनादिनिधन हैं। अनादिनिधन को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। द्रव्य सदैव स्थायी रहता है। सभी भारतीय दर्शन द्रव्य की मीमांसा करते हैं क्योंकि यही दार्शनिक मीमांसा का प्रमुख स्रोत है। दार्शनिक दृष्टि जगत्, जीव, उसके दुःख और दुःखों के उपाय के इर्द गिर्द ही घूमती है। उद्देश्य रूप द्रव्य के विषय में किसी भी दर्शन का मतभेद नहीं है परन्तु द्रव्य के स्वरूप एवं भेद में मतभेद दृष्टव्य है। जाति की अपेक्षा जीव पुद्गल आदि जितने पदार्थ हैं वे सब द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य शब्द में दो अर्थ छिपे हैं- द्रवणशीलता और ध्रुवता। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है। अतः उसे द्रव्य कहते हैं। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायों का कभी उल्लंघन नहीं करता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने अपने पूर्वाचार्यों का ही अनुकरण किया है। उसमें आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय में द्रव्य के दो लक्षणों को वर्णित किया है। जिसको पूर्ण रूप से समर्थन दिया है। जिनमें से प्रथम लक्षण है “सद्द्रव्य लक्षणम्” अर्थात् सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।¹ अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है वह द्रव्य कहलाता है। यहां आचार्य का आशय यह है कि जो भी द्रव्य की संज्ञा को प्राप्त है वह इन तीनों से युक्त अवश्य ही होता है। ये तीनों एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। इन तीनों अवस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार है-

उत्पाद - द्रव्य की नवीन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होना, मनुष्य पर्याय का उत्पाद है।

व्यय - द्रव्य की पूर्व पर्याय का विनाश हो जाना व्यय कहलाता है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होना, नरक पर्याय का व्यय है।

ध्रौव्य - जो द्रव्य की दोनों पर्यायों में सर्वदा रहता है वह ध्रौव्य है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हो, इन दोनों अवस्थाओं में जीव नित्य विद्यमान रहता है यह ध्रौव्य है। यहां नरक पर्याय का व्यय हो रहा है, मनुष्य पर्याय का उत्पाद हो रहा है फिर भी दोनों अवस्थाओं में वही जीव विद्यमान रहता है। जो-जो भी द्रव्य हैं वे इन तीन गुणों सहित अवश्य ही होंगे। आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि- घट, मौलि और सुवर्ण को चाहने वालों को इन तीनों नाश, उत्पाद और स्थिति में शोक, प्रमोद और माध्यस्थ भाव को लोग निमित्त सहित प्राप्त करते हैं। जिसके दुग्ध लेने का व्रत है वह दही नहीं लेता, जिसके दही लेने का व्रत होता है वह दुग्ध नहीं लेता। जिसका गोरस न लेने का व्रत है वह दोनों नहीं लेता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है।² द्वितीय लक्षण को लक्षित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्”³ अर्थात् गुण और पर्याय वाला जो है वह द्रव्य है। यहां आचार्य उमास्वामी महाराज का आशय

1 त.सू. 5/29

2 वही 5/30

3 आ. मी. 59-60

4 त. सू. 5/38

यह है कि जो गुण और पर्याय से सहित होता है वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्यायों का समूह है।¹ जैसे- जीव में ज्ञान और दर्शन गुण हैं और मतिज्ञानादि एवं चक्षुदर्शनादि पर्यायें होती हैं। यह द्रव्य का लक्षण पूर्व लक्षण से भिन्न नहीं है। सिर्फ शब्द भेद है, अर्थभेद नहीं है क्योंकि पर्याय से उत्पाद और व्यय की तथा गुण से ध्रौव्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि-

द्वयं सत्त्वखणियं उत्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।

गुण यञ्जयासयं वा जं तं भण्णाति सव्वण्हू।²

अर्थात् जो सत्ता है लक्षण जिसका ऐसा है, उस वस्तु को सर्वज्ञ वीतराग देव द्रव्य कहते हैं। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त द्रव्य का लक्षण कहते हैं। अथवा गुण पर्याय का जो आधार है उसको द्रव्य का लक्षण कहते हैं।

यहाँ गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- “द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।”³ अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और जो अन्य गुणों में नहीं पाये जाते हैं वे गुण कहलाते हैं। जैसे- जीव के ज्ञानादि गुण, पुद्गल के स्पर्शादि गुण। ये स्पर्शादि गुण सिर्फ पुद्गल द्रव्य के आश्रय से ही रहते हैं इनमें ज्ञानादि गुण नहीं पाये जा सकते। इसमें यह विशेषता है कि द्रव्य की अनेक पर्याय फलटते रहने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक् न हों, निरन्तर द्रव्य के साथ रहें उसे गुण कहते हैं।⁴

गुण दो प्रकार के होते हैं- सामान्य गुण और विशेष गुण।

सामान्य गुण- जो गुण सभी द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। जैसे- अस्तित्व, वस्तुत्व आदि।

विशेष गुण- जो गुण एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे- ज्ञान, दर्शन, स्पर्श, गति आदि।

1 स.सि. 5/2

2 पं.का.गा.10, प्र.सा. 2/3-4

3 त.सू. 5/41

4 न्या. टीका सूत्र 78

पर्याय का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि तद्भावः परिणामः¹ अर्थात् उसका होना अथवा प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है और परिणाम को ही पर्याय कहा जाता है। यहां आचार्य यह कहना चाहते हैं कि गुणों के परिणामन को पर्याय कहते हैं। द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते रहते हैं अतः ये पर्याय कहलाते हैं² जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है। आचार्य देवसेन स्वामी के अनुसार गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं³ अर्थात् जब गुणों में किसी प्रकार की विकृति आती है तो उसको ही पर्याय कहते हैं।

इन सब आचार्यों के द्वारा बताये गये स्वरूप में एक बात सामान्य यह है कि परिणामन शब्द का प्रयोग प्रत्येक आचार्य ने किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि परिणामन का नाम ही पर्याय है। अतः जो द्रव्य में स्वभाव और विभाव रूप से सदैव परिणामन करती रहती है अथवा जो द्रव्य में क्रम से एक के बाद एक आती रहती है उसे पर्याय कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि- जैसे गोरस अपने दूध-दही-घी आदिक पर्यायों से जुदा नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य अपनी पर्यायों से जुदा अर्थात् पृथक् नहीं है और पर्याय भी द्रव्य से जुदे नहीं हैं। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय की एकता है। आचार्य कहते हैं कि-द्रव्य और गुणों की एकता है। जैसे-एक आम द्रव्य है और उसमें स्पर्श,रस,गन्ध,वर्ण गुण हैं। यदि आम न हो तो जो स्पर्शादि गुण हैं, उनका अभाव हो जाय क्योंकि आश्रय के बिना गुण नहीं रह सकते हैं और यदि स्पर्शादि गुण न हों तो आम का अभाव हो जायेगा क्योंकि अपने गुणों से ही आम का अस्तित्व है।⁴

द्रव्य के भेद - द्रव्य के मुख्य रूप से दो भेद कहे गये हैं जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य। आचार्य वीरसेन स्वामी ने द्रव्य के दो भिन्न रूप से भी भेद माने हैं- संयोग द्रव्य और समवाय द्रव्य।

संयोग द्रव्य- अलग-अलग सत्ता वाले द्रव्यों के मेल से जो उत्पन्न हो उसे संयोग द्रव्य कहते हैं। जैसे- दण्डी, छत्री, मौलि।

-
- 1 त.सू. 5/42
 - 2 स.सि. 5/38
 - 3 आ.प. सूत्र 15
 - 4 पं.का. गाथा 13

समवाय द्रव्य- जो द्रव्य में समवेत हो अर्थात् कथञ्चित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं। जैसे- गलकण्ड, काना, कुबड़ा आदि।¹

अजीव द्रव्य के पुनः पाँच भेद होते हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।² अतः सामान्य से द्रव्य के 6 भेद भी कहे जाते हैं। अब इन छहों भेदों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य लिखते हैं कि-

धम्माधम्मागासा अरुविणो होंति तह य पुण कालो।

गइ ठाण कारणाविय उग्गाहण वत्तणा कमसो।³

अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पदार्थ अरूपी हैं और इसलिये ये अमूर्त हैं। इनमें से धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में, अधर्म द्रव्य स्थिति में कारण है। आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में और कालद्रव्य सभी द्रव्यों की पर्याय बदलने में कारण है। पुद्गल द्रव्य ही मात्र मूर्तिक अर्थात् रूपी द्रव्य है। शेष द्रव्यों में मूर्तिपना के गुण स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण ये नहीं पाये जाते हैं, इसीलिए धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी या अमूर्तिक हैं। जीवद्रव्य भी अमूर्तिक है और कर्मसहित होने की अपेक्षा से मूर्तिक भी है। इनमें धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक द्रव्य हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में दिया है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये एक-एक हैं।⁴

1. जीव द्रव्य - इसका विस्तार से वर्णन द्वितीय परिच्छेद में कर चुके हैं।

2. पुद्गल द्रव्य - “स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः” यहां आचार्य उमास्वामी पुद्गल द्रव्य का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला है वह पुद्गलद्रव्य कहलाता है।

स्पर्श आठ प्रकार का है- हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, ठण्डा, गरम। रस पांच प्रकार का है- खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला, चरपरा। गन्ध दो प्रकार की है-

¹ ध. 1/1, 17

² त.सू. 5/1, 39

³ भा. सं. गा. 305

⁴ आ आकाशादेकद्रव्याणि। त. सू. 5/6

सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच प्रकार का है- काला, पीला, नीला, लाल, सफेद । इन तीस पर्यायों में से यथायोग्य भेदों से जो सहित होता है वह पुद्गल कहलाता है। आचार्य अकलंक स्वामी पुद्गल का स्वरूप कहते हैं कि-भेद और संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। अथवा जीव जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदि के रूप में निगलें अर्थात् ग्रहण करें वे पुद्गल हैं।

पुद्गल के चार भेद आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहे हैं-स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु। अनन्त समस्त परमाणुओं का मिलकर एक पिण्ड बनता है उसे स्कन्ध कहते हैं। पुद्गल स्कन्ध का आधा भाग स्कन्धदेश कहलाता है। स्कन्ध के आधे का आधा अर्थात् चौथाई भाग स्कन्धप्रदेश है और जिसका भाग नहीं हो सकता वह परमाणु है।¹

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं - अणु और स्कन्ध।²

अणु- एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। इसका विशेष स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं-

अत्तादि अत्तमञ्जं अत्तंतं णेव इंदियेगेञ्जं।

जं दव्वं अविभागी तं घरमाणुं विआणादि।³

अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु जानना चाहिये। सरल भाषा में जिसका कोई दूसरा भाग नहीं हो सकता वह अणु है।

स्कन्ध- जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहलाते हैं। अथवा दो या दो से अधिक परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं।

1 पं.का. गा. 74

2 त.सू. 5/25

3 नियमसार गा.26

स्कन्ध के 6 भेद हैं-

1. बादर-बादर - जो पुद्गलपिण्ड दो खण्ड करने पर अपने आप फिर नहीं मिलते हैं वे बादर-बादर स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे- काष्ठ, पाषाणादि।
2. बादर - जो पुद्गलपिण्ड खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी अपने आप मिल जाते हैं वे बादर स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे दुग्ध, घृत, तेल आदि।
3. बादर-सूक्ष्म - जो देखने में तो स्थूल हों किन्तु हस्तादिक से ग्रहण करने में नहीं आते, वे बादर-सूक्ष्म स्कन्ध हैं। जैसे- धूप, चन्द्रमा की चांदनी आदि।
4. सूक्ष्मबादर - जो होते तो सूक्ष्म हैं परन्तु स्थूल जैसे प्रतिभासित होते हैं वे सूक्ष्म-बादर कहे जाते हैं। जैसे- स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द आदि।
5. सूक्ष्म - जो अतिसूक्ष्म हैं और इन्द्रियों से ग्रहण करने में भी नहीं आते हैं वे सूक्ष्म कहलाते हैं। जैसे- कर्मवर्गणा आदि।
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म - जो कर्मवर्गणाओं से भी अतिसूक्ष्म हैं वे सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे- द्वयणुक स्कन्ध आदि।¹

अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कन्ध की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से होती है। पुद्गल द्रव्य की मुख्य रूप से 10 पर्यायें हैं- शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होते हैं। अणु एक प्रदेशी होता है फिर भी उपचार से उसको बहुप्रदेशी कहा गया है। पुद्गल द्रव्यों के उपकारों का उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं कि शरीर, वचन, मन, श्वांसोच्छ्वास, सुख, दुःख, जीवन, मरण ये पुद्गल के उपकार हैं।²

3. धर्म द्रव्य - आगे धर्मद्रव्य का स्वरूप बताते हैं-

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पवत्ताण कारणं धम्मो।

जह मच्छाणं तोयं थिरभूया णेवमो णेई।³

¹ पं.का. गा. 76

² त.सू. 5/19-20

³ (i) भा. सं. गा. 306

(ii) गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणा सहयारी।

तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।।।7।। वृ. द्र. सं.

अर्थात् जिस प्रकार मछलियों के चलने में जल सहायक (कारण) है वैसे ही जीव और पुद्गलों को गमन करने में जो कारण है वह धर्मद्रव्य है। जो जीव और पुद्गल ठहरे हुए हैं उनको न तो चलाता है न चलने की प्रेरणा करता है। जो जाना नहीं चाहता है उसको बलात् नहीं चलाता है, लेकिन जो जीव और पुद्गल गमन करते हैं वे धर्म द्रव्य की सहायता से ही चलते हैं।

आचार्य महाराज ने धर्मद्रव्य का दृष्टांत मछली क्यों दिया? इसका एक वैज्ञानिक कारण यह समझ में आता है कि सिर्फ मछली ही ऐसा जलचर प्राणी है जो पानी का माध्यम कैसा भी हो वह गमन कर सकती है अर्थात् विपरीत धारा में भी। इसमें मेरा अभिप्राय यह है कि कोई झरना बह रहा है और उसकी धारा काफी ऊँचाई से नीचे की ओर आ रही हो तो जल का माध्यम लेकर मछली सहज ही ऊपर चली जाती है। ये विशेषता सिर्फ मछली में है अन्य किसी भी जलचर प्राणी में विद्यमान नहीं है। इसीलिए धर्मद्रव्य का दृष्टांत देने में मछली ही उपयुक्त उदाहरण बनी।

4. अधर्म द्रव्य - अब अधर्म द्रव्य का स्वरूप बताते हैं-

ठिठिकारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ जइ छाया।

पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंत णेव सो धरइ॥¹

अर्थात् जिस प्रकार पथिकों को ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक है वह अधर्म द्रव्य है। चलते हुए जीव को और पुद्गल को न तो ठहराता है और न ठहरने की प्रेरणा करता है। कोई भी जीव और पुद्गल यदि जा रहा होता है तो अधर्म द्रव्य उसको जबरन रोकता नहीं है यदि चाहे तो रुक सकता है परन्तु रुकेगा तो अधर्मद्रव्य की सहायता से ही रुकेगा, क्योंकि वृक्षों की छाया किसी को भी बलात् अपने पास नहीं रोकती है। इसकी छोटी सी परिभाषा पं. दौलतराम जी ने भी अपने छहढाला के तीसरी ढाल में किया है।²

¹ (i) भा. सं. गा. 307

(ii) ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी।

छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरइ॥१४॥ बृ. द्र. सं.

² तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिनबिनमूर्ति निरुपी। छहढाला 3/7

5. आकाश द्रव्य - अब आकाशद्रव्य का स्वरूप बताते हैं-

सव्वेसिं दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं।
तं पुणु दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए।¹

अर्थात् जो जीव अजीवादि समस्त पदार्थों को अवकाश देने में समर्थ है उसको आकाश कहते हैं। भगवान् श्री जिनेन्द्र देव ने उसके दो भेद बतलाये हैं। एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश। आकाशद्रव्य वास्तव में एक द्रव्य ही है परन्तु छहों द्रव्यों को अवकाश देने में सहायक होने से छहों द्रव्यों का समूह जितने स्थान में विद्यमान है, उतने स्थान को लोकाकाश कह दिया है² और जितने स्थान में सिर्फ आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है; ऐसा भेद कर दिया है वास्तव में तो एक ही है।

6. काल द्रव्य - आगे कालद्रव्य का स्वरूप एवं भेद को प्रदर्शित करते हैं-

वत्तणगुण जुत्ताणं दव्वाणं होइ कारणं कालो।
सो दुविह भेय भिण्णो परमत्थो होइ ववहारो।³

अर्थात् जो जीवादिक द्रव्य प्रतिसमय परिवर्तन स्वरूप होते हैं उनके उस परिवर्तन में कालद्रव्य कारण है। उस काल के दो भेद हैं - एक परमार्थकाल दूसरा व्यवहारकाल। काल के जो अणु हैं उनको परमार्थ काल कहते हैं। वे कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक ठहरे हुए हैं, इसलिये लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। वे कालाणु आपस में मिलते नहीं हैं क्योंकि रत्नों की राशि के समान अलग ही रहते हैं।

वर्तमान काल जो मुख्य काल है उससे व्यवहार काल उत्पन्न होता है। कालाणु अणु रूप है, इसलिये उससे उत्पन्न हुआ व्यवहारकाल भी सबसे छोटा समय रूप ही होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से व्यवहार काल के तीन भेद होते हैं।

द्रव्यों की विशेषतायें- परिमाण की अपेक्षा से कथन करने पर ज्ञात होता है कि जीव और पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं एवं काल

¹ (i) भा. सं. गा. 308

(ii) बृ. द्र. सं. गा. 19-20

² सकलद्रव्य को वास जास में, सो आकाश पिछानो।।3/8

³ (i) भा. सं. गा. 309

(ii) बृ. द्र. सं. 21-22

द्रव्य असंख्यात हैं। मूर्तिक-अमूर्तिक की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक एवं पुद्गल मूर्तिक और जीव द्रव्य मूर्तिक-अमूर्तिक दोनों है। सक्रियता की अपेक्षा जीव और पुद्गल द्रव्य ही सक्रिय हैं शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं। प्रदेशों की अपेक्षा एक जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है, काल द्रव्य एक प्रदेशी है एवं पुद्गल द्रव्य एक, संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी है। शुद्धता की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य सदा शुद्ध हैं एवं जीव और पुद्गल शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं। चेतनता की अपेक्षा से जीवद्रव्य मात्र चेतन है शेष पाँचों द्रव्य अचेतन हैं। जीवद्रव्य कर्ता है शेष पाँचों द्रव्य कारण हैं। उपकार की अपेक्षा जीव, मात्र जीवों पर ही उपकार करता है, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल पर उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य पाँचों द्रव्यों पर और कालद्रव्य छहों द्रव्यों पर उपकार करता है। उपकारी की अपेक्षा से जीव पर छहों द्रव्य उपकार करते हैं, पुद्गल द्रव्य पर जीव को छोड़कर सभी द्रव्य, धर्म और अधर्म द्रव्य पर आकाश और काल द्रव्य, आकाश द्रव्य पर कालद्रव्य और कालद्रव्य पर आकाश द्रव्य उपकार करता है। भेदों की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य के कोई भेद नहीं हैं एवं शेष चारों द्रव्यों के भेद होते हैं। अवगाहन की अपेक्षा से जीवद्रव्य का लोकाकाश के असंख्यातवे भाग में, असंख्यात बहुभाग में और सर्वलोक में रहने का स्थान है। पुद्गल द्रव्य का एकप्रदेश, संख्यातप्रदेश, असंख्यातप्रदेश में है, धर्म, अधर्म द्रव्य का लोकाकाश प्रमाण रहने का स्थान है। आकाश द्रव्य सर्वगत है। काल द्रव्य एकप्रदेश प्रमाण है। कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं। सामान्य गुणों की अपेक्षा सभी द्रव्यों के 6 सामान्य गुण हैं। विशेष गुणों की अपेक्षा जीवद्रव्य के चार ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, पुद्गल के चार स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्य का अवगाहनत्व और कालद्रव्य का वर्तनाहेतुत्व है। स्वभावों की अपेक्षा जीव और पुद्गल के 21 स्वभाव हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के 16 एवं कालद्रव्य के 15 स्वभाव हैं। पर्याय की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनकी अर्थपर्याय होती है परन्तु जीव और पुद्गल की अर्थ और व्यञ्जन दोनों पर्यायें होती हैं। छहों द्रव्यों में मात्र जीवद्रव्य ही उपादेय है एवं शेष द्रव्य ज्ञेय हैं।

सभी आचार्यों ने द्रव्य के स्वरूप को समान रूप से स्वीकार किया है। सभी ने गुण और पर्याय से सहित और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जो सहित है उसी को द्रव्य माना है। द्रव्य के भेदों में भी कभी भेद दिखाई नहीं दिए। 6 भेद आदिनाथ स्वामी ने बताये थे तो 6 भेद ही महावीर स्वामी ने भी बतलाये। परन्तु अन्य दर्शनों में अलग-अलग भेद माने गए हैं जिनमें तर्कसंग्रह में वर्णित नवभेदों को लगभग सभी ने स्वीकार किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन ये नव द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का तो पुद्गल में अन्तर्भाव हो जाता है। द्रव्यमन का पुद्गल में और भावमन का जीव में अन्तर्भाव हो जाता है। दिशा का आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है। शेष तो हम स्वीकार ही करते हैं। इसतरह द्रव्यों की संख्या 6 ही उपयुक्त है।

कालद्रव्य के विषय में श्वेताम्बर परम्परा में ही दो मत हैं। एक मत तो काल को द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है और दूसरा मत काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता है। दूसरे मत के अनुसार सूर्यादि के निमित्त से जो दिन-रात, घड़ी-घंटा, पल-विपल आदि रूप काल अनुभव में आता है, यह सब पुद्गल की पर्याय है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन जीव-पुद्गल आदि द्रव्यों का परिणमन किसके निमित्त से होता है? यदि कहा जाय कि उत्पन्न होना, व्यय होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है तो इसके लिए अन्य निमित्त की क्या आवश्यकता? तो इसके लिए यह तर्क है कि इस तरह सर्वथा स्वभाव से ही प्रत्येक द्रव्य का परिणमन माना जाता है तो गति, स्थिति और अवगाह को भी स्वभाव से मान लेने में क्या आपत्ति है। इस अवस्था में मात्र जीव और पुद्गल दो द्रव्य शेष रहेंगीं, शेष का अभाव हो जायेगा।

द्रव्यों से एक तथ्य ध्यातव्य है कि छहों द्रव्य लोक में ठसाठस भरे हुए हैं, एक-दूसरे से मिले हुए हैं फिर भी वे अपना-अपना स्वरूप नहीं छोड़ते हैं। परन्तु यह जीवद्रव्य अन्य द्रव्यों के कारण से अपने स्वरूप को तो नहीं छोड़ता लेकिन उनके कारण विकृत अवश्य हो जाता है। हमें कभी भी अपने स्वरूप को न छोड़कर मात्र स्वभाव में लीन रहना चाहिए तभी हमारा कल्याण हो सकता है।

चतुर्थ परिच्छेद : द्रव्य के सामान्य एवं विशेष गुण

जो सदैव द्रव्यों के साथ रहे अर्थात् सहभू हों उन्हें गुण कहते हैं। अर्थात् जो द्रव्य के बिना ठहर ही नहीं सकते। द्रव्य के आश्रय से ही सदैव रहते हैं वे गुण कहलाते हैं।¹ वे गुण दो भेद वाले हैं - सामान्य गुण एवं विशेष गुण। जो गुण सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जाते हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। सामान्य गुण दस हैं जो निम्न हैं-

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व।²

अब सामान्य गुणों का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य लिखते हैं³ - जिस द्रव्य को जो स्वभाव प्राप्त है, उस स्वभाव से च्युत न होना अस्तित्व गुण कहलाता है। सामान्य विशेषात्मक वस्तु होती है, उस वस्तु का जो भाव है वह वस्तुत्व गुण कहलाता है।

जो अपने प्रदेश-समूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव एवं विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है। उस द्रव्य का जो भाव है वह द्रव्यत्व गुण कहलाता है। अथवा वस्तु के सामान्यपने को द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी भी प्रमाण (ज्ञान) का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण कहलाता है। जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय परिणमनशील है और आगम प्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघु गुण कहलाता है। संसार अवस्था में कर्म से पराधीन जीव में स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव पाया जाता है, परन्तु कर्मरहित अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है। जिस गुण के निमित्त से द्रव्य क्षेत्रपने को प्राप्त हो वह प्रदेशत्व गुण कहलाता है। अनुभूति का नाम चेतना है, जिस शक्ति के निमित्त से स्व-पर की अनुभूति अर्थात् प्रतिभासकता होती है वह चेतनत्व

1 न्यायदीपिका, त. सू. 5/41, आलापपद्धति

2 आलापपद्धति

3 आलापपद्धति

गुण कहलाता है। जड़पने को अचेतन कहते हैं, अनुभव नहीं होना ही अचेतनत्व है, चेतना का अभाव ही अचेतनत्व गुण कहलाता है।

रूपादिपने को अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णपने को मूर्तत्व गुण कहते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इनसे रहित-पना अमूर्तत्व है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये गुण सामान्य कैसे कहे जा सकते हैं? क्योंकि जिसमें चेतनत्व है उसमें अचेतनत्व नहीं हो सकता और जिसमें मूर्तत्व है तो उसमें अमूर्तत्व गुण कैसे हो सकता? इसीलिए ये गुण तो विशेष गुण प्रतीत होते हैं।

इस शंका का समाधान करते हैं कि - जीव और पुद्गल यदि एक-एक होते तो शंका ठीक थी परन्तु जीव भी अनन्त हैं और पुद्गल भी अनन्त हैं। इसीलिए स्वजाति की अपेक्षा चेतनत्व और मूर्तत्व तथा अचेतनत्व एवं अमूर्तत्व सामान्य गुण सिद्ध हो जाते हैं।

इन सामान्य 10 गुणों में से प्रत्येक द्रव्य में आठ-आठ गुण होते हैं और दो-दो गुण नहीं होते हैं। निम्न तालिका के माध्यम से प्रत्येक द्रव्य के सामान्य गुणों को समझते हैं-

क्र.सं.	द्रव्य	सामान्य गुण
1.	जीव	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अमूर्तत्व
2.	पुद्गल	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व
3.	धर्म	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
4.	अधर्म	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
5.	आकाश	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
6.	काल	अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व

अब द्रव्यों के विशेष गुणों के विषय में वर्णन करते हैं। विशेष गुण 16 हैं जो निम्न प्रकार हैं-

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व।¹

अब विशेष गुणों का सामान्य से स्वरूप वर्णन करते हैं-

जिस शक्ति के द्वारा आत्मा पदार्थों को आकार सहित जानता है वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञान का स्वरूप आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - भूतार्थ का प्रकाश करने वाला ज्ञान होता है अथवा सद्भाव के निश्चय करने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं।² जो सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थों को अलग-अलग भेदरूप से ग्रहण नहीं करके सामान्य अवभासन होता है उसे दर्शन कहते हैं।³

- ❖ जो स्वाभाविक भावों के आवरण के विनाश होने से आत्मीक शान्तरस अथवा आनन्द उत्पन्न होता है वह सुख है।⁴
 - ❖ वीर्य का अर्थ शक्ति है। जीव की शक्ति को वीर्य कहते हैं।⁵
 - ❖ जो स्पर्श किया (हुआ) जाता है वह स्पर्श है।⁶
 - ❖ जो चखा जाता है अथवा स्वाद को प्राप्त होता है वह रस है।
 - ❖ जो सूंघा जाता है वह गन्ध है।
 - ❖ जो देखा जाता है वह वर्ण है।
 - ❖ जीव और पुद्गलों को गमन में सहकारी होना गतिहेतुत्व है।
 - ❖ जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहकारी होना स्थितिहेतुत्व है।
- समस्त द्रव्यों को अवकाश देना अवगाहनहेतुत्व है।

1 आलापपद्धति

2 भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्। ध. पु. 1 पृ. 142, 143

3 वृ. द्र. सं. गाथा 43, गो. जी. गाथा 482

4 पंचास्ति गा. 163 टीका, प्रवचनसार गा. 59 टीका, पद्म. पंचवि. 8/6 त. वृ. 9/44

5 ध. पु. 13 पृ. 390, ध. पु. 6 पृ. 78

6 सर्वार्थसिद्धि 2/20

- ❖ समस्त द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होना वर्तनाहेतुत्व है।
- ❖ चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व का स्वरूप पहले देख चुके हैं।

यहाँ कोई शंका करता है कि चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व ये आपने सामान्य गुण हैं ऐसा सिद्ध किया था परन्तु आपने विशेष गुणों में ग्रहण किया है यह दोषयुक्त है। आप स्ववचन बाधित हैं? उसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - चेतनत्व सर्व जीवों में पाया जाता है इस अपेक्षा से सामान्य गुण है और अन्य पुद्गलादि द्रव्यों में नहीं पाया जाता है अतः उनकी अपेक्षा विशेष गुण है। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि स्वजाति की अपेक्षा गुण सामान्य हो जाते हैं और विजातीय की अपेक्षा वही गुण विशेष हो जाते हैं, क्योंकि जो सामान्य होता है वही विशेष हो जाता है और जो विशेष होता है वही सामान्य हो जाता है। स्वजाति और विजाति की अपेक्षा कथन करने से दोनों में कोई भी दोष प्रकट नहीं हो पाता है। ऐसे ही तीनों गुणों में जान लेना चाहिये।

द्रव्यों में विशेष गुणों को इस तालिका द्वारा समझ सकते हैं-

क्र.सं.	द्रव्य	विशेष गुण
1.	जीव	ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, चेतनत्व, अमूर्तत्व
2.	पुद्गल	स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व, मूर्तत्व
3.	धर्म	गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
4.	अधर्म	स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
5.	आकाश	अवगाहनहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व
6.	काल	वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व

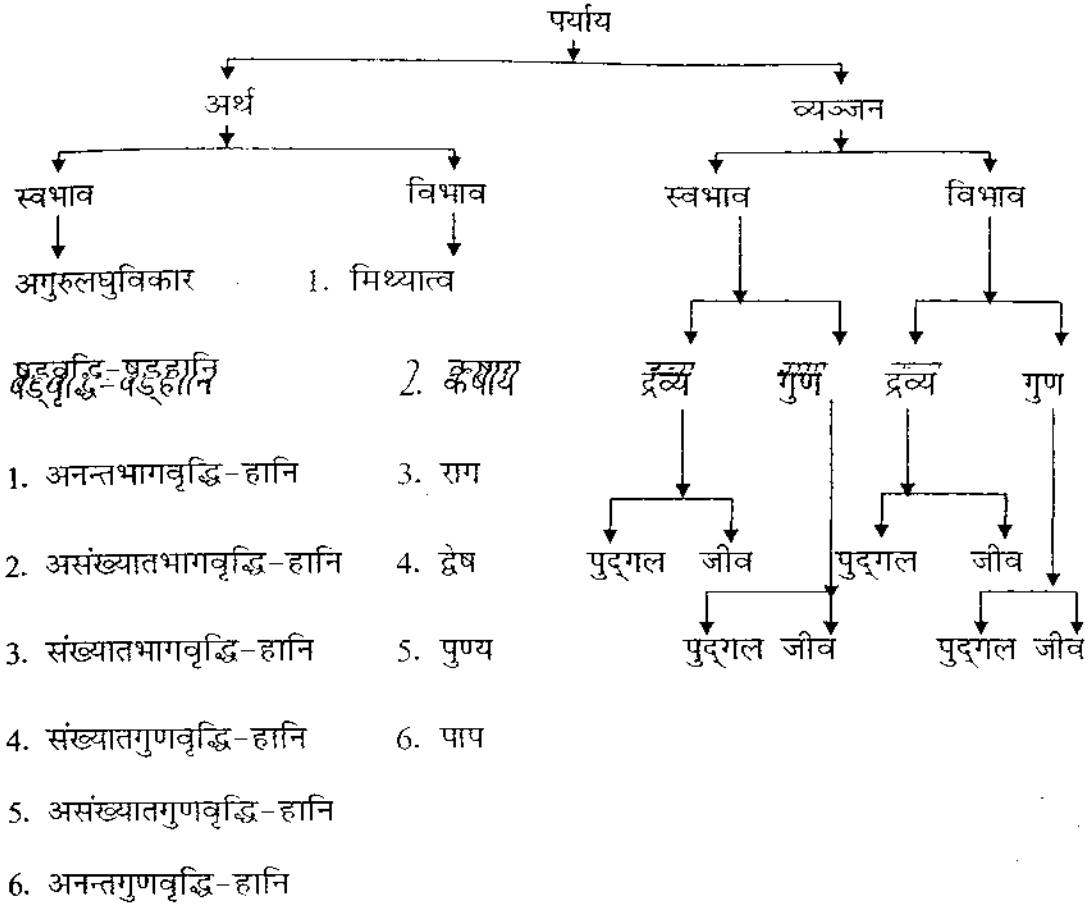
इस प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य में 6-6 विशेष गुण होते हैं और शेष निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों के तीन-तीन ही विशेष गुण होते हैं।

पञ्चम परिच्छेद : पर्याय का स्वरूप एवं भेद

द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है तो द्रव्य के गुणों का वर्णन हो चुका है अब पर्याय के स्वरूप को कहते हैं - गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं।¹ आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि - उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है।² यहाँ आचार्य यह कहना चाहते हैं कि गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है।³ इसी प्रकार अन्य अनेक आचार्यों ने पर्याय के स्वरूप का वर्णन किया है। उन सबके द्वारा बताये गये स्वरूप में एक सामान्य बात यह है कि परिणमन शब्द का प्रयोग प्रत्येक आचार्य ने किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि परिणमन का नाम ही पर्याय है। पञ्चाध्यायी पूर्वार्द्ध में अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग इन सबको एक ही अर्थ का वाचक माना है।

जो स्वभाव और विभाव रूप से सदैव परिणमन करती रहती है वह पर्याय कहलाती है। अथवा जो द्रव्य में क्रम से एक के बाद एक आती जाती है उसे पर्याय कहते हैं। पर्याय के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं-1. अर्थ पर्याय 2. व्यञ्जन पर्याय।

¹ आलापपद्धति, गुणविकारः पर्यायः
² त. सू. 5/42
³ स. सि. 5/38 टीका



अर्थपर्याय - जो पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती अर्थात् वचन के अगोचर, क्षण-क्षण में नाश होती रहती है वह अर्थपर्याय कहलाती है।

व्यञ्जनपर्याय - जो पर्याय स्थूल है, ज्ञान का विषय है, शब्दगोचर है, चिरस्थायी रहती है वह व्यञ्जन पर्याय कहलाती है।

इन दोनों अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय में से दोनों के स्वभाव और विभाव के भेद से दो-दो भेद हैं। स्वभाव पर्यायें सभी द्रव्यों में पायी जाती हैं परन्तु विभाव पर्यायें मात्र जीव और पुद्गल द्रव्यों में ही पायी जाती हैं, क्योंकि ये दो द्रव्य ही बन्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जीव में जीवत्वरूप स्वभाव पर्यायें हैं और कर्मकृत विभाव पर्यायें होती हैं। पुद्गल में विभावपर्यायें कालप्रेरित होती हैं जो स्निग्ध एवं रुक्ष गुण के कारण बन्धरूप होती हैं।

स्वभावपर्याय - जो पर्यायें कर्मोपाधि से रहित हैं वे स्वभाव पर्यायें कहलाती हैं।

अगुरुलघुगुण का परिणमन स्वभाव अर्थ पर्याय कहलाती है। ये पर्यायें 12 हैं-
6 वृद्धिरूप और 6 हानिरूप।

6 वृद्धिरूप - अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि।

6 हानिरूप - अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनन्तगुणहानि।

यह आगमप्रमाण से सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है। जिसका 6 वृद्धि और हानि के द्वारा परिवर्तन होता रहता है, अतः इन धर्मादिक द्रव्यों का उत्पाद-व्यय स्वभाव से होता रहता है।

विभावपर्याय - मिथ्यात्व कषाय आदि रूप जीव के परिणामों में कर्मोदय के कारण जो प्रतिसमय हानि या वृद्धि होती रहती है उसे विभाव अर्थ पर्याय कहते हैं।

विभाव अर्थ पर्याय 6 प्रकार की होती है-

1. मिथ्यात्व
2. कषाय
3. राग
4. द्वेष
5. पुण्य
6. पाप।

विभाव पर्यायें जीव और पुद्गल मात्र दो पर्यायों में ही होती हैं इसीलिए जीव और पुद्गलों में अलग-अलग विभाव पर्याय को प्रदर्शित करते हैं।

कषायों की षड्स्थानगत हानि वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेश रूप शुभ, अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की विभाव अर्थ पर्यायें जाननी चाहिये, और पुद्गल में द्वि-अणुक आदिक स्कन्धों में वर्णादि से अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं।

अब व्यञ्जन पर्याय के भेदों का कथन करते हैं - अर्थ पर्याय के समान ही इसके भी स्वभाव और विभाव के भेद से दो भेद हैं। स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और विभाव व्यञ्जन पर्याय मात्र संसारी जीव और पुद्गल में ही पायी जाती है। स्वभाव, विभाव व्यञ्जन पर्याय के भी दो भेद होते हैं-

¹ नियमसार गाथा 15

1. विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय 2. विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय। ये दोनों भेद भी संसारी जीव और पुद्गलस्कन्ध में पृथक्-पृथक् होते हैं। सर्वप्रथम यहाँ जीव और पुद्गल की स्वभाव व्यञ्जन पर्यायों का व्याख्यान करते हैं - अन्तिम शरीर से कुछ कम जो सिद्ध पर्याय है वह जीव की स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन पर्याय है। इसी प्रकार अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्त चतुष्टयरूप जीव की स्वभाव-गुण-व्यञ्जनपर्याय है तथा अविभागी पुद्गल परमाणु की स्वभाव-द्रव्य-व्यञ्जन पर्याय है।¹ पुद्गलपरमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और परस्पर अविरुद्ध शीत-स्निग्ध, शीत-रुक्ष, उष्ण-स्निग्ध, उष्ण-रुक्ष, स्पर्श के इन चार युगलों में से कोई एक युगल एक काल में एक परमाणु में रहता है।² शीत-उष्ण ये दोनों स्पर्श या स्निग्ध-रुक्ष ये दोनों स्पर्श एक काल में एक परमाणु में नहीं रह सकते, क्योंकि ये परस्पर में विरुद्ध हैं। इन गुणों की जो चिरकाल स्थायी पर्यायें हैं वे स्वभाव-गुण व्यञ्जन पर्यायें हैं।

अब विभाव पर्यायों का व्याख्यान करते हैं-

नर, नारक आदि रूप चार प्रकार की अथवा चौरासी लाख योनिरूप जीव की विभाव-द्रव्य-व्यञ्जन पर्यायें हैं। मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि जीव की विभाव-गुण-व्यञ्जन पर्यायें हैं। द्वि-अणुकादि स्कन्ध और शब्द-बन्ध आदिक पर्यायें पुद्गल की विभाव-द्रव्य-व्यञ्जन पर्यायें हैं एवं द्वि-अणुकादि स्कन्धों में एक वर्ण से दूसरे वर्णरूप, एक रस से दूसरे रसरूप, एक गन्ध से दूसरे गन्धरूप, एक स्पर्श से दूसरे स्पर्श रूप होने वाला चिरकाल स्थायी परिवर्तन पुद्गल की विभाव-गुण-व्यञ्जन पर्याय है।

¹ तिलोयपण्णत्ति 9/9-10

² पञ्च. गाथा 8

निष्कर्ष

आचार्य देवसेन स्वामी ने इस अध्याय में सत् के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से प्ररूपित किया गया। जो अपने गुण पर्यायों में व्याप्त होता है, वह सत् कहलाता है, उत्पाद, व्यय और धौव्य से युक्त सत् कहा गया है, वही अस्तित्व कहा जाता है। इसी सत् के पर्याय स्वरूप 6 द्रव्यों का विशद वर्णन किया है। इन सबमें परम उपादेयभूत जीवद्रव्य का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। जिसमें जीव को अलग-अलग उपाधियों और अधिकारों द्वारा विवेचित किया गया है। जीव में जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, संसार में स्थिति, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व गुण विद्यमान होते हैं। जीवत्व के संबंध में आचार्य ने कुछ गाथायें उद्धृत करके विवेचन किया है। जो 10 प्राणों से जीता है वह जीव है। जीव के दो उपयोगों का विशद वर्णन आचार्य ने सारगर्भित 6-8 गाथाओं में करके अपनी प्रखर बुद्धि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनमें पांचों ज्ञानों सहित जीव को भिन्न-भिन्न रूप से कहते हुए ज्ञानों के भेद-प्रभेदों का भी अच्छा विवेचन है। उन ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्ररूपित किया है। इसीप्रकार जीव में स्वभाव से विद्यमान संकोच-विस्तार गुण होने से जीव को स्वदेहपरिमाण वाला सिद्ध किया है और अन्य मतों की विपरीत मान्यताओं को खण्डित भी किया है। निश्चय नय और व्यवहार नय की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् कर्मों का कर्ता और कर्मों के फल का भोक्ता विवेचित किया है। स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला बताते हुए कहा है कि जीव निश्चित रूप से ऊर्ध्वगमन करता है, परन्तु जो कर्म सहित जीव हैं, वे विग्रहगति में चारों विदिशाओं को छोड़कर छहों दिशाओं में गमन करता है तथा शुद्ध जीव ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन ही करता है। इसके अलावा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने भी अन्य आचार्यों के अनुरूप ही कुछ गाथाओं में किया है।

तत्पश्चात् सात तत्त्वों का विशद वर्णन किया गया। उन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से 9 पदार्थ हो जाते हैं। अजीव तत्त्व का वर्णन करते हुए उसके भेदों में पुद्गलादि का वर्णन किया है। आस्रव का स्वरूप सामान्यतया पूर्वाचार्यों के समान ही प्रस्तुत किया है। बंध तत्त्व के वर्णन में उसके चार भेदों को भी स्पष्ट किया है। प्रकृति

बंध के अन्तर्गत 8 कर्मों के स्वरूप को भी प्ररूपित किया है। स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध को सामान्य रूप से ही निरूपित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समय में लोगों को इन विषयों की जानकारी अच्छी रही होगी अथवा आचार्य देवसेन स्वामी को इन सभी विषयों को सूत्र रूप में वर्णन करना इष्ट होगा। संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन भी इसीप्रकार संक्षेप में किया गया है। आचार्य का स्पष्ट कथन है कि संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का उचित साधन है, अन्य कोई विधि से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

द्रव्य की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है। उन गुण और पर्यायों के संबंध में जो वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने किया है, वैसा वर्णन अन्य किसी आचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ में नहीं मिलता। द्रव्य के सामान्य और विशेष गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन अपूर्व है। जो गुण सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं वे सामान्य गुण और जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। सामान्य गुण दस हैं और विशेष गुण 16 हैं, जो अलग-अलग द्रव्य के अलग-अलग हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में 6-6 और शेष निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के 3-3 विशेष गुण होते हैं।

गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं अथवा गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। इसके मुख्य रूप से दो भेद अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय हैं। इन दोनों के भेद-प्रभेदों का विस्तृत रूप से वर्णन मात्र आलाप पद्धति ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है, जो आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता को दर्शाता है। पर्यायों को एक तालिका के रूप में प्रदर्शित करके इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।



द्वितीय-अध्याय

आचार्य देवसेन की कृतियों में नयात्मक दृष्टि

प्रथम परिच्छेद : नय का स्वरूप एवं भेद

भारतीय चिन्तन की परम्परा में जैनधर्म तथा दर्शन का अपना एक अलग स्थान है। इसके अनुसार वस्तु का स्वरूप ऋत, सत्य और सत् से लक्षित होता है। सत्ता भी वही जो उत्पत्ति, स्थिति (ध्रौव्य) तथा विलय से सम्बद्ध है। प्रत्येक त्रयात्मक वस्तु अनन्त धर्मों का समूह है। इस अनन्त धर्मात्मक तत्त्व की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमाण तथा नय के आधार पर की गई है। इन दोनों के द्वारा वस्तु को एक और अनेक रूपों में क्रमशः जाना जा सकता है। प्रमाण तथा नय का सम्बन्ध सापेक्ष है। नय को समझे बिना प्रमाणों के स्वरूप का बोध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन नय और प्रमाण द्वारा ही संभव है। सत्य विराट, विभु, अनन्त और असीम होता है, किन्तु मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप से जानने में असमर्थ रहता है। वह आंशिक रूप से ही वस्तु तत्त्व को जान पाता है। सत्य के परिपूर्ण बोध हेतु जीवन में व्यापक दृष्टिकोण नितान्त अनिवार्य है। जैनदर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्त दृष्टि मानव जीवन के विकास के व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी की क्रमबद्ध दृष्टि की महिमा को प्रस्तुत करती है। उस अनेकान्त दृष्टि की महिमा का मण्डन करते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं कि-

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

अर्थात् जिसके बिना सम्पूर्ण लोकव्यवहार भी सम्पन्न नहीं होता, उस अनेकान्त रूपी लोकगुरु को नमस्कार हो।

व्यष्टि अपनी तुच्छ सीमा में बन्द न हो, समष्टि व्यक्ति के विकास पथ में अवरोध न बने, अपितु ये दोनों परस्पर समझौता करके परमेष्ठी स्वरूप को अधिगत करें, यही अनेकान्तवाद सिखलाता है। ऐसे अनुपम सिद्धान्त को विकसित एवं प्रतिष्ठित करने का सम्पूर्ण गौरव जैनाचार्यों को प्राप्त होता है। अनेकान्तवाद हमें सर्वशुभकर और सर्वहितकर विशाल दृष्टिकोण प्रदान करता है। जड़-चेतनमय इस विश्व में प्रत्येक वस्तु सत्य, शाश्वत और अनन्त है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान दो प्रकार से होता है। वे हैं - प्रमाण और नय। वस्तु के समस्त धर्मों

को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है और जिसके द्वारा अनन्त धर्मी वस्तु के किसी एक अंश का ग्रहण किया जाय वह नय कहलाता है।

नयवाद जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट विचार पद्धति है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के विवेचन में नय का उपयोग होता है। प्रमाण नयों का स्वरूप है। अतः प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिये पहले नयों का ज्ञान करना आवश्यक है, क्योंकि आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - 'णत्थि णयेहिं विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि'। अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र के मत में नय के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं है। इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने से नय के स्वरूप को अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिये, क्योंकि अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अनन्त धर्मों को नय ही पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाशित करता है। इन्हीं नयों के विवेचन में आगम को आधार बनाकर जैनाचार्यों और जैन चिन्तकों ने अनुपम ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें आप्तमीमांसा, न्यायावतार सन्मति तर्क, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, अनेकान्तजयपताका, प्रमाण परीक्षा, परीक्षामुख, प्रमाणमीमांसा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायदीपिका, प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार, जैनतर्कभाषा, नयचक्र, न्यायविवरण, द्वादशारनयचक्र एवं आलापपद्धति प्रमुख हैं।

नय एवं प्रमाण के सम्यक् प्रतिपादन में कतिपय टीका ग्रन्थों को भी नकारा नहीं जा सकता है। इनमें तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, विशेषावश्यकभाष्य एवं वृत्ति, आप्तमीमांसा पर अष्टशती और अष्टसहस्री टीकायें विशेष रूप से मननीय एवं भजनीय हैं। जैनाचार्यों ने नयों का प्रतिपादन वस्तु की हेयोपादेयता को दृष्टि में रख कर किया है। नय जब अपने-अपने अंशों का ज्ञान कराते हैं, तब वे परस्पर में विरोधी दिखलाई देते हैं। जैसे-द्रव्य, द्रव्यस्वरूप है, तब वह उसी क्षण पर्याय रूप से कैसे है? द्रव्य-पर्याय में ये विरोधी दोनों धर्म वस्तु में एक साथ कैसे रह सकते हैं? वस्तु में निहित इन विरोधों को मिटाने वाला 'स्याद्' पद उपलक्षित स्याद्वाद सिद्धान्त जैनदर्शन में सर्वोपरि महत्त्व रखता है। स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर नयों के द्वारा वस्तुगत अनन्त धर्मों का ज्ञान अथवा यथार्थबोध किया जाता है। इस दृष्टि से नय स्याद्वाद के ही उपांग हैं। वस्तु नयों और उपनयों द्वारा ज्ञात होने वाले त्रिकालवर्ती एकान्तधर्मों का समुच्चय है, जिन्हें पृथक् नहीं

किया जा सकता। इस तरह से स्याद्वाद और नय दोनों ही श्रुतप्रमाण हैं। श्रुतज्ञान के भेद प्ररूपित करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि के पहले अध्याय के 6वें सूत्र में कहते हैं कि - इसके स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो भेद हैं। इनमें स्वार्थ श्रुतज्ञान ज्ञानात्मक और परार्थ श्रुतज्ञान वचनात्मक है। इसी परार्थ श्रुतज्ञान का भेद नय कहलाता है।

नय श्रुतज्ञानात्मक उपयोग का एक भेद है। उपयोग का अर्थ है - वस्तुस्वरूप को जानने में प्रवृत्त ज्ञानशक्ति जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते हैं और जब दोनों पक्षों के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मों का भेद किये बिना वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है। जैसा कि भट्ट अकलंक स्वामी लिखते हैं कि - उपयोग रूप होने के कारण नय को दृष्टि अथवा नेत्र की उपमा दी गई है, जिससे स्पष्ट है कि नय वस्तु के पक्ष विशेष को जानने का साधन है।' इसी सम्बन्ध में आचार्य माइल्ल धवल अपने ग्रन्थ द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र में लिखते हैं कि-

जीवापुग्गलकालो धम्माधम्मा तहेव आयासं।

णियणियसहावजुत्ता दट्ठव्वा णयपमाणणयणेहिं।¹

अर्थात् अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव से युक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को नय और प्रमाण रूपी नेत्रों से देखना चाहिये। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण? तो इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि -

न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।

नाऽप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः॥³

¹ लघीयस्त्रय 32

² द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र, 3

³ नयोपदेश 9

अर्थात् समुद्र की एक तरंग न समुद्र होती है और न असमुद्र किन्तु वह समुद्र का एक अंश है, उसी प्रकार नय न प्रमाण है न अप्रमाण है अपितु प्रमाण का एक अंश है। इसी विषय को पुष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि प्रमाण यदि अंग है तो नय उपांग है। प्रमाण यदि समुद्र है तो नय तरंग है। प्रमाण यदि सूर्य है तो नय रश्मिजाल है। यदि प्रमाण वृक्ष है तो नय उसकी शाखायें हैं, प्रमाण यदि हाथ है तो नय अंगुलियाँ हैं। यदि प्रमाण जुलाहे का ताना है तो नय बाना है और प्रमाण व्यापक है तो नय व्याप्य है।¹ किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रमाण नय में समाविष्ट है। बल्कि यथार्थ यही है कि नय प्रमाण में समाविष्ट है। इसका कारण यह है कि प्रमाण का सम्बन्ध पञ्चज्ञान से है, जबकि नय केवल श्रुतज्ञान से सम्बद्ध है। अतः नय श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का अंश विशेष है।

नय की निरुक्तिपरक व्याख्या

‘णीन् प्रापणे’ धातु में अच् प्रत्यय लगने पर ‘नय’ पद सिद्ध होता है। इसका अर्थ है ले जाना, अर्थात् प्राप्त करना और बोध करना या कराना। ‘नयन्ति गमयन्ति प्राप्नुवन्ति वस्तु ये ते नयाः’² जो वस्तु को ले जाते हैं उसका सम्यक् बोध कराते हैं वह नय कहलाते हैं।

नय का स्वरूप

नय के स्वरूप में भी समय के अनुसार परिवर्तन आता रहा है और आचार्यों ने उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया। परिभाषा के शब्दों में परिवर्तन होने पर भी तथ्यात्मक परिवर्तन नहीं आया बल्कि परिभाषा और अधिक परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित प्रतीत होने लगी। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे अन्य मतावलम्बियों के मस्तिष्क में तर्क भी बढ़ते चले गये। उनके जटिल तर्कों को ध्यान में रखकर आचार्यों ने परिभाषा में थोड़ा सा परिवर्तन करके अथवा उसमें कुछ विशेष शब्दों का संयोजन करके अपने मत का मण्डन और परमत का खण्डन सुनियोजित तरीके से किया जिसका परिणाम हम सबको वर्तमान में देखने को मिलता है। आचार्यों ने परिभाषा को इतना

¹ श्लोकवार्तिक नयविवरण 16

² उत्तराध्ययन चूर्ण पृ. 138

सुव्यवस्थित तरीके से निबद्ध किया है कि उसमें अब पूर्वापर दोष प्रकट नहीं हो सकता। उनमें सर्वप्रथम यतिवृषभाचार्य ने नय का स्वरूप बताते हुए कहा है - “णाणं होदि यमाणं णयो वि णादुस्सहिदियभावत्थो” अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के अभिप्राय (हृदयस्थ भाव) को नय कहा गया है। आगम में कहते हैं-‘प्रगृह्य प्रमाणतः परणति विशेषादर्थावधारणं नयः’² नय प्रमाण द्वारा परिगृहीत अर्थात् ज्ञात वस्तु के एक अंश को अपना विषय बनाता है। सर्वार्थसिद्धि में ही आगे लिखते हैं कि - ‘वस्त्वन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्य प्रापणप्रवण प्रयोगे नयः’³ अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु में बिना विरोध के हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की निश्चयता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग नय है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि - साध्य का साधर्म्य दृष्टान्त के साथ साधर्म्य के द्वारा और वैधर्म्य दृष्टान्त के साथ वैधर्म्य द्वारा बिना किसी विरोध के जो स्याद्वाद के विषयभूत अर्थ के विशेष (नित्यत्व आदि) का व्यञ्जक (प्रकाशक) होता है वह नय कहलाता है।⁴ अर्थात् उनका अभिप्राय है कि किसी प्रकार का कोई विरोध व्यक्त न करते हुए जो स्याद्वाद के द्वारा ग्रहण किये गये विशेष तत्त्वों को प्रकाशित करता है वही नय है।

‘प्रमाणैकदेशाश्च नयाः’ प्रमाण के एकदेश को नय कहते हैं। जो विषय प्रमाण के द्वारा ग्रहण किया गया है उसको विशेष रूप से जानते हुए जो उसके एकदेश को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि - प्रमाण द्वारा प्रकाशित अर्थ (पदार्थ) को जो विशेष रूप से प्ररूपित करता है वह नय है।⁵ आगे नय का ही स्वरूप बताते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं ‘प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः’⁶ अर्थात् प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तु के अंश (एकदेश) को

1 तिलोपपण्णति 1/83

2 सर्वार्थसिद्धि 1/6

3 सर्वार्थसिद्धि 1/33

4 सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।

स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यञ्जको नयः॥ 106

5 तत्त्वार्थवार्तिक 1/33/1 ‘प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेषप्ररूपको नयः’

6 धवला पु. 1, सूत्र 1, पृ. 83

जानना या कहना नय है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी आचार्य अकलंक स्वामी की ही परिभाषा को और संपोषित किया है।

नय के उसी स्वरूप को और अधिक पुष्ट करके उसमें कुछ अपेक्षा को योजित करते हुए आचार्य विद्यानन्द स्वामी अष्टसहस्री में लिखते हैं कि - अनेक धर्मात्मक पदार्थ के ज्ञान को प्रमाण और उसके धर्मान्तर सापेक्ष एक अंश के ज्ञान को नय कहते हैं। धर्मान्तरों का निराकरण करके वस्तु के एक ही धर्म का कथन करने वाले को दुर्नय कहते हैं।¹ यहाँ आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने नय के स्वरूप को अपेक्षा सहित करके तो व्यक्त किया ही है साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो समस्त अपेक्षाओं को ध्यान में न रखते हुए एक ही धर्म को नित्य मानकर कथन करने वाला है वह दुर्नय है। नय कभी नहीं हो सकता, क्योंकि नय सदैव सापेक्ष होने से पूर्णरूप से अनेकान्तात्मक होता हुआ प्रमाणित स्वीकार किया गया है। नय सदैव एक अपेक्षा से कथन करते हुए भी प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया जाता है, क्योंकि वह एक पक्ष को ही नहीं कहता है बल्कि वह अपेक्षा से कहता है, इसीलिये नय सर्वदा प्रामाणिक माना गया है। इसी क्रम में आचार्य विद्यानन्द स्वामी नय का और स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि -

स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।

स्वार्थैकदेशनिर्णीति लक्षणो हि नयः स्मृतः॥²

अर्थात् स्व और अर्थ का निश्चायक होने से नय प्रमाण ही है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्व और अर्थ के एकदेश को जानना नय का लक्षण है। नय और प्रमाण एक न होकर दोनों एक दूसरे से पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले हैं, इसलिये इनको एक मानना भूल ही है। इसी सन्दर्भ में आगे लिखा है-सामान्य की अपेक्षा से नय एक ही है। स्याद्वाद श्रुतज्ञान के द्वारा गृहीत अर्थ के नित्यत्व आदि धर्मविशेषों का कथन

¹ अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तत्रिराकृतिः॥

² तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकान्तर्गतं नयविवरणम् 4

करने वाला नय है।¹ नय का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि-

उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
अत्थं णयंति तच्चतमिदि तदो ते णया भणिया।²

अर्थात् उच्चारण किए गए अर्थ, पद और उसमें किए गए निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं, इसलिए वे नय कहलाते हैं।

निरुक्त्या लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्यविशेषतः।
नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।³

इसी क्रम में मेरे आधारभूत आचार्य देवसेन स्वामी आलापपद्धति के 'नय व्युत्पत्ति' में नय का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि - 'प्रमाणेन वस्तु संगृहीतार्थैकांशो नयः। श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, प्रापयति इति वा नयः।' अर्थात् प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने को नय कहते हैं। अर्थात् प्रमाण से वस्तु के सब धर्मों को ग्रहण करके ज्ञाता पुरुष अपने प्रयोजन के अनुसार उनमें किसी एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का कथन करता है वह नय है। श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा गया है। जो नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक् करके एक स्वभाव में स्थापित करता है वह नय है। इसमें आचार्य देवसेन स्वामी ने भी पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए नय के स्वरूप को समाहार रूप में प्रस्तुत किया है। समस्त परिभाषाओं को एक ही स्थान पर लाकर आचार्य देवसेन स्वामी ने साररूप में नय के स्वरूप को आलापपद्धति में उल्लिखित किया है। इसी में आगे लिखते हैं कि - 'तदवयवाः नयाः' अर्थात् प्रमाण के ही अवयव (अंग) अर्थात् भेद नय हैं। अर्थात् जो विषय प्रमाण के द्वारा ग्रहण किया गया है, उसके ही अलग-अलग अंगों को अलग-अलग अपेक्षा से वर्णन करता है वहीं नय है। अतः

¹ सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थं विशेषव्यञ्जनात्मकः॥ वही 17
² धवला पु. 1 गा. 3
³ वही 20

प्रमाण के अवयवों को ही नय कहा है। इसी प्रकार आचार्य देवसेन स्वामी नयचक्र में नय स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि -

जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं।

तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहि णाणेहिं॥

अर्थात् ज्ञानियों का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है (जानता है) उस श्रुतज्ञान के भेद को नय कहा जाता है। (श्रुत प्रमाण रूप है, इसलिये श्रुतज्ञान के भेद को यहाँ नय कहा गया है) और उन नय ज्ञानों से युक्त ज्ञानी होता है। इसी क्रम में आचार्य प्रभाचन्द्रस्वामी कहते हैं कि - 'अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।'¹ अर्थात् निराकृत प्रतिपक्ष (नयाभास) रहित वस्तु के अंशग्राही ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अर्थात् जो प्रतिपक्षी तत्त्व है उसका निराकरण करते हुए वस्तु के अंश को प्रकट करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा है। नय के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य मल्लिषेण कहते हैं कि जो वस्तु प्रमाण से सर्वाङ्गीण रूप से व्यवस्थित है, उसके अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का जो बोध करना है वह नय है। प्रमाण के द्वारा जो संगृहीत पदार्थ है उसके एक अंश को नय कहते हैं।²

आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने सामान्य से नय को एक भेद वाला ही माना है।³ अर्थात् उनका मानना है कि सामान्य से नय का कोई भेद नहीं है बल्कि वह अकेला है और अकेले ही पदार्थों का निरूपण अलग-अलग अपेक्षा से करता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी के अनुसार नय अनन्त भी हो सकते हैं, क्योंकि उसके हेतु में उन्होंने तर्क दिया है कि वस्तु (द्रव्य) की शक्तियाँ अनन्त हैं, इसीलिये शक्तियों की अपेक्षा नय भी अनन्त हो सकते हैं।⁴

1 प्रमेयकमलमार्तण्ड 6/74

2 स्याद्वादमञ्जरी 28, 'प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः। प्रमाणेन संगृहीतार्थैकांशो नयः।

3 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/33/2 'सामान्यदेशतस्तावदेक एव नयस्थितिः'।

4 'द्रव्यस्यानन्तशक्तैः प्रतिशक्तिविभङ्गमानाबहुविकल्पा जायन्ते।' सर्वार्थसिद्धिः 1/33

नय के भेदों का स्वरूप

नय के जब भेद किये जाते हैं तो उनमें मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद लगभग सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। उनका स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि -

पञ्जयगुणं किञ्चा द्रव्यं पि य जो हु गिणहए लोए।
सो दव्वत्थो भणिओ विवरीओ पञ्जयत्थो दु।¹

द्रव्यार्थिक-नय - जो नय लोक में पर्याय को गौण करके द्रव्य को ही ग्रहण करता या जानता है वह द्रव्यार्थिक नय कहा गया है।

पर्यायार्थिक नय - जो द्रव्यार्थ के विपरीत है अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ही जानता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इन्हीं दोनों को आचार्य देवसेन स्वामी ने अपने ही द्वारा रचित नय को विषय करने वाला अन्य शास्त्र आलाप पद्धति में भी उल्लिखित किया है कि - 'द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।'²

इन दोनों मुख्य नयों में से द्रव्यार्थिक नय के 10 भेद आचार्यों ने प्रतिपादित किये हैं। उनमें से प्रत्येक के स्वरूप को भी प्रतिपादित किया है। उनको हम क्रम के अनुसार यहाँ सब भेदों को समझने का प्रयास करते हैं। उनमें सर्वप्रथम कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के स्वरूप को आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं -

'जो नय कर्मों के मध्य में स्थित संसारी जीव को सिद्धों के समान शुद्ध ग्रहण करता है या जानता है उस नय को कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।'³ यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी ने यह निहित किया है कि यद्यपि संसारी जीव कर्मोपाधि सहित है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उस जीव को कर्मोपाधि से रहित सिद्ध जीव के समान शुद्ध बतलाता है।⁴ कर्मोपाधि अर्थात् कर्मबन्ध जीव की अशुद्धता का कारण है,

¹ नयचक्र गा. 17

² द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। आ.प.सू. 184,191

³ न. च. 18

⁴ 'कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारीजीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा।' आलापपद्धति सूत्र 47

क्योंकि अन्य द्रव्य के बन्ध बिना द्रव्य अशुद्ध नहीं हो सकता। कर्म बन्ध के कारण ही जीव संसारी हो रहा है, फिर भी कर्मबन्ध की अपेक्षा न करके उस संसारी जीव (अशुद्धात्मा) को शुद्धात्मा बतलाना शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रथम भेद है। यद्यपि संसारी अवस्था की अपेक्षा से इस नय का विषय सत्य नहीं है तथापि शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से इस नय का विषय सत्य है।

अब द्रव्यार्थिक नय के द्वितीय भेद को बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं -

**उत्पादवयं गौणं किञ्चा जो गहइ केवला सत्ता।
भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहओ समए॥¹**

जो नय उत्पाद व्यय को गौण करके केवल सत्ता को ग्रहण करता है उस नय को आगम में सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। इसके माध्यम से आचार्य देवसेन स्वामी ये कहना चाहते हैं कि 'द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है'² तथा द्रव्य अनेकान्तात्मक अर्थात् नित्यानित्यात्मक है, किन्तु शुद्धद्रव्यार्थिक नय उत्पाद-व्यय को अप्रधान करके मात्र ध्रौव्य को ग्रहण करके (नित्य-अनित्य-आत्मक) द्रव्य को नित्य बतलाती है। अनेकान्तदृष्टि में इस शुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय यथार्थ नहीं है, तथापि एक धर्म को (अनित्य धर्म को) गौण करके नित्य धर्म को मुख्य करने से इस नय के विषय को सर्वथा अयथार्थ नहीं कहा जा सकता है।

अब तृतीय भेद कहते हैं -

जो नय गुणी-गुण आदि (स्वभाव-स्वभाववान्, पर्याय-पर्यायी और धर्म-धर्मी) चतुष्करूप अर्थ में निश्चय रूप से भेद नहीं करता है, वह भेद विकल्प निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।³ इसी विषय को आचार्य देवसेन स्वामी ने और भी कहा है-

¹ भावसंग्रह गा. 19, 'उत्पाद-व्यय गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम्'। आलापपद्धति 48

² त. सू. 5/30

³ गुणगुणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ करेइ खलु भेयां।
सुद्धो सो दव्वत्थो भेदवियप्पेण णिरवेक्खो॥ न. च. गा. 20

‘भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्’¹ अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय भेदकल्पना की अपेक्षा से रहित है। जैसे निजगुण से, निजपर्याय से और निजस्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

यहाँ पर आचार्य देवसेन स्वामी का यह तात्पर्य है कि यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा गुण और द्रव्य में, पर्याय और द्रव्य में तथा स्वभाव और द्रव्य में भेद है, किन्तु प्रदेश की अपेक्षा गुण-द्रव्य में, पर्याय-द्रव्य में, स्वभाव-द्रव्य में भेद नहीं है अर्थात् अनेकान्तरूप से द्रव्य भेदाभेदात्मक है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय भेद नहीं है मात्र अभेद है। भेद विवक्षा को गौण करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण-पर्याय-स्वभाव का द्रव्य से अभेद है, क्योंकि प्रदेश भेद नहीं है।

अब चतुर्थ भेद को कहते हैं-

जो नय समस्त रागादि भावों में ‘जीव है’ ऐसा कहता है (अथवा समस्त रागादिक भावों को जीव में कहता है) वह नय कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।²

यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी कहना चाहते हैं कि - अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है। संसारी जीव अनादिकाल से पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ है इसलिये अशुद्ध है। संसारी जीव में कर्मजनित औदायिक भाव निरन्तर होते रहते हैं। वे औदायिक भाव जीव के स्वतत्त्व हैं। क्रोधादि कर्मजनित औदायिकभावमयी आत्मा अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

पाँचवें भेद को बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि - ‘उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्’³ अर्थात् उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। जैसे - एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य है। इसी विषय को नयचक्र में भी कहा है-‘जो

¹ आ. प. सू. 49

² कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। आलापपद्धति 50
नयचक्र 21

³ आ. प. सू. 51

नय निश्चयरूप से उत्पाद और व्यय से मिश्रित सत्ता को ग्रहणकर द्रव्य को एक ही समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य तीनों रूप वाला कहता है अथवा जानता है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।¹

इस नय का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी का अभिप्राय यह है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय मात्र ध्रौव्य है, क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्यायार्थिक नय के विषय हैं। द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी है।² इसीलिये यहाँ पर अशुद्ध को ग्रहण करने वाला होने से द्रव्यार्थिक नय भी अशुद्ध कहा गया है।

अब छठवाँ भेद प्रदर्शित करते हैं-

जो नय द्रव्य में गुण-गुणी आदि का भेद करके भी उनका परस्पर में सम्बन्ध करता है तो भेद कल्पना सहित होने से वह नय भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।³ इसका उदाहरण दिया है जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुण। यहाँ विशेषता बताते हुए आचार्य ने लिखा है कि आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है उसमें ज्ञान-दर्शन आदि गुण नहीं हैं, ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। इसको ही आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी कहा है-आत्मा में न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, वह तो ज्ञायक शुद्ध है।⁴ आत्मा में ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की कल्पना करना तो अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

सातवें भेद का कथन करते हुए लिखते हैं कि -

समस्त स्वभावों का 'द्रव्य अन्वय रूप से हैं'। इस प्रकार जो नय द्रव्य की स्थापना करता है, वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहा गया है। इसका दृष्टान्त दिया है गुणपर्यायस्वभावी द्रव्य।⁵

1 नयचक्र 22

2 सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। त. सू. 5/29-30

3 भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा आत्मनो ज्ञानदर्शनादयो गुणाः। आलापपद्धति सू. 52

4 णवि णाणं ण चरित्तं ण देसणं जाणगो सुद्धो। स. सा. 7

5 अन्वय द्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्। आ. प. 53

इस विषय में आचार्य देवसेन स्वामी का अभिप्राय है कि स्वभाव युक्त भी द्रव्य है, गुणयुक्त भी और पर्याययुक्त भी ऐसा कहा जाता है। इसलिये द्रव्यत्व कारण कहीं पर भी जाति नहीं आती तथापि जो नय स्वभाव विभाव रूप से अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव इत्यादि अनेक स्वभावों को एक द्रव्य से प्राप्त करके भिन्न-भिन्न नामों की व्यवस्था करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक है।

इसी नय का स्वरूप शोलापुर से प्रकाशित संस्कृत नयचक्र के श्लोक 4 और 7 में वर्णित है - जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाया है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। जैसे कड़े आदि पर्यायों में तथा पीतत्व आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण। अथवा मनुष्य, देव आदि नाना पर्यायों में यह जीव है, यह जीव है ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

अब आगे आठवें भेद के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि जो नय स्वद्रव्यादि चतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में स्थित द्रव्य को जानता है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।¹ इसी तथ्य को आचार्य देवसेन स्वामी ने नयचक्र में भी वर्णित किया है। यहाँ आचार्य महाराज कहना चाहते हैं कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा न करके जो निज द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से द्रव्य को अस्तिरूप मानता है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

इसी प्रकार इसके विपरीत स्वभाव वाले नौवें भेद परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय का स्वरूप बताते हुए लिखा है - पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है ऐसा पर द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।² अर्थात् यहाँ आचार्य श्री का तात्पर्य यह है कि पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जो नय वस्तु में नास्तित्व देखता है वही परद्रव्यादिग्राहक नय है। आगे द्रव्यार्थिक नय के अन्तिम प्रभेद को कहते हैं। परम भाव को ग्रहण कर जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचार से रहित द्रव्य को जानता है वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिक नय है।³ अर्थात् यहाँ आचार्य कहना चाहते हैं कि - आत्मा संसारी और मुक्त इन दो पर्यायों का आधार है, फिर भी आत्मा कर्मों के बन्ध और मोक्ष

¹ स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। आ. प. 54

² आ. प. 55

³ आ. प. 56

का कारण नहीं होता है। अर्थात् आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और ना ही किसी कर्म के नष्ट होने से होता है। यहाँ जीव के अनेक स्वभावों के मध्य में ज्ञान को ही परमभाव स्वीकार किया है, जो शुद्ध और अशुद्ध के उपचार से रहित है।

पर्यायार्थिक नय के स्वरूप को हम पहले कह आये हैं। अब आगे पर्यायार्थिक नय के जो 6 भेदों का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने किया है उनके स्वरूप को प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं। उनमें जो प्रथम भेद है - अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो नय अनादि और अनिधन पदार्थों को ग्रहण करता है वह अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् जो पदार्थ अकृत्रिम अर्थात् जो किसी के भी द्वारा निर्मित नहीं किये गये और ना ही किसी के द्वारा नष्ट होते हैं ऐसे अकृत्रिम पुद्गलों की पर्यायों को जो ग्रहण करता है वह अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है।¹ वे अकृत्रिम पदार्थ जैसे मेरु, कुलाचल, अकृत्रिम जिनबिम्ब एवं जिनालय, भरतादि क्षेत्र, लवणादिसमुद्र, स्वर्ग, नरक एवं वलयादि ये सब अनादिनित्य हैं।

इस विषय में आचार्य कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि सभी पर्यायों विनाश को प्राप्त हों हीं यदि ऐसा माना जाय तो एकान्तवाद का प्रसंग आने की आशंका उत्पन्न हो सकती है। ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि जो वस्तु नष्ट नहीं होती है वह द्रव्य ही होना चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाये जाते हैं उसे द्रव्य माना जाता है।²

अब जो पर्यायार्थिक नय का द्वितीय भेद है उसके स्वरूप को बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो नय सादि अर्थात् आदि से सहित है, कहने का तात्पर्य है कि जिसका प्रारम्भ है और नित्य अर्थात् सदैव विद्यमान रहने वाला ऐसे दोनों विशेषताओं अर्थात् सादि एवं नित्य पदार्थ को जानता है वह सादिनित्यपर्यायार्थिक नय कहलाता है।³ इस नय का दृष्टान्त आचार्यों ने सिद्धपर्याय को कहा है, क्योंकि यहाँ कर्मों के नाश से प्राप्त हुई है और यह आदि से सहित है तथा कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होगी। अतः

1 अनादिनिधनपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेवादिः। आलापपद्धति 57, नयचक्र गाथा 27

2 धवला पुस्तक 7, पृ. 178

3 नयचक्र गाथा 28, आ. प. 59

यह नित्य हो गई। ऐसी सादि नित्य पर्याय को ग्रहण करता है वह नय है सादिनित्य पर्यायार्थिक। आचार्य क्षायिकभाव की अपेक्षा से कहते हैं कि इस जीव को जो पर्याय प्राप्त होती है वह इस नय का विषय बनेगी। वह क्षायिक ज्ञान हो या क्षायिकदर्शन अथवा क्षायिक सम्यक्त्व हो या क्षायिक दानादि, ये सभी पर्यायों इस नय के अन्तर्गत परिलक्षित होती हैं।¹

अब आगे पर्यायार्थिक नय के तृतीय भेद का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जो नय सत्ता अर्थात् ध्रौव्य को गौण (अप्रधान) करके उत्पाद और व्यय को ही ग्रहण करता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाता है।² यहाँ जो वस्तु का स्वभाव ध्रौव्यपना नित्य है उसको गौण करके विनाशशील पर्याय जो उत्पाद और व्यय रूप है उसको प्रधान करके कथन करता है वह अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे-पर्याय प्रतिसमय विनाशशील है।

चतुर्थ भेद का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जो नय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से सहित पर्याय को ग्रहण करता है वह सत्ता सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाता है।³ यहाँ पर जो सत्ता सापेक्ष स्वभाव शब्द दिया है उसका अभिप्राय यह है कि यह सत्ता अर्थात् ध्रौव्य की अपेक्षा से सहित उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली पर्याय को ग्रहण करता है। इस नय का विषय ध्रौव्य भी होने से इस नय को अशुद्ध पर्यायार्थिक कहा गया है, क्योंकि शुद्धपर्यायार्थिक नय का विषय ध्रौव्य नहीं है। इसमें उत्पाद और व्यय के साथ ध्रौव्य की अपेक्षा से भी सहित है, इसलिये इसमें सत्तासापेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है।

जो नय कर्मबन्धन की अपेक्षा से रहित संसारी जीवों को सिद्धों के समान शुद्ध वर्णित करता है वह नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाता है।⁴ परन्तु आचार्य देवसेन स्वामी ने अपने ही द्वारा विरचित नयचक्र ग्रन्थ में इसी नय का नाम अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय कहा है। आलाप पद्धति और नयचक्र में भेद होने का क्या कारण है

1 जीवा एक क्षायिकभावेन साद्यनिधनाः। पञ्चास्तिकाय 53 टीका

2 नयचक्र गा. 29, आलापपद्धति 60

3 आ. प. 61

4 आ. प. 62

ये तो हम सबके समझ से परे है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब अलग-अलग ग्रन्थ की रचना होती है तो उस समय में उनका क्या अभिप्राय रहता है ये कोई भी नहीं कह सकता। जब नित्य शब्द लिखा होगा तब शायद वे शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव शुद्ध तथा शाश्वत है ऐसा अभिप्राय ग्रहण कर रहे हों और जब अनित्य शब्द लिखा हो तब क्योंकि संसारी जीव की पर्याय नित्य नहीं है ऐसा ग्रहण कर रहे हों।

अब पर्यायार्थिक नय के छठवें और अन्तिम भेद को आचार्य कहते हैं कि - जो नय संसारी जीवों की अनित्य और अशुद्ध पर्यायों का कथन करता है वह विभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इस नय के कथन में कर्मबन्ध की अपेक्षा साथ में होने से अनित्य, अशुद्ध और विभाव शब्द का ग्रहण किया है। जैसे संसारी जीवों का जन्म-मरण होता है।

नैगम नय

अब नैगमनय का स्वरूप बताते हैं जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के अनन्तर क्रमप्राप्त है। नैगम नय का स्वरूप कहते हैं - जो कार्य निष्पन्न नहीं हुआ है उसका संकल्प मात्र कर लेना नैगमनय कहलाता है।¹ नैगम नय के तीन भेद बताये गये हैं, भूत, भावि और वर्तमान।²

नैगम नय के तीन भेदों में प्रथम भेद के स्वरूप को कहते हैं - भूतकाल में हो चुकी क्रिया को वर्तमान में कहने वाला नय भूत नैगम नय कहलाता है। जैसे - दीपावली के दिन ऐसा कहना कि आज महावीर भगवान् का निर्वाण दिवस है।

अब द्वितीय भेद भावि नैगम नय का स्वरूप कहते हैं - जो कार्य अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है भविष्यकाल में पूर्णता को प्राप्त होगा, परन्तु उसको वर्तमान में ही निष्पन्न होना कहता है वह भावि नैगम नय है। जैसे - अरिहन्त भगवान् को सिद्ध भगवान् कहना। राजकुमार को राजा कहना।

तृतीय जो वर्तमान नैगम नय है उसका स्वरूप प्रदर्शित करते हैं - किसी कार्य को प्रारम्भ करने पर भी उसको पूर्ण हुआ कहता है वह वर्तमान नैगम नय कहलाता है।

¹ अनभिनिर्वृतार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। स. सि. 1/33

² नैगमस्त्रेधा भूतभावि वर्तमानकालभेदात्। आलापपद्धति 64

जैसे कोई व्यक्ति भात पकाने की सामग्री एकत्रित कर रहा था उससे कोई पूछता है कि क्या कर रहे हो? तो वह कहता है कि भात पका रहा हूँ।

संग्रह नय

अब क्रमप्राप्त संग्रहनय के स्वरूप और भेदों को कहते हैं - अपनी जाति का विरोध न करते हुए भेद सहित सब पर्यायों को एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करता है वह संग्रह नय कहलाता है। जैसे सत्, द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ आदि। संग्रहनय के दो भेद किये हैं। यहाँ पर आलापपद्धति और नयचक्र में दोनों भेदों के नामों में भेद दिखाई देता है। आलापपद्धति में सामान्य अथवा शुद्ध संग्रह तथा विशेष अथवा अशुद्ध संग्रह नय दिये गये हैं और नय नयचक्र में पर अथवा शुद्ध संग्रह तथा अपर अथवा अशुद्ध संग्रह नय है। इन दोनों में थोड़ा सा अन्तर सिर्फ नामों में है, परन्तु परिभाषाओं में कोई भी अन्तर नहीं है। जो नय परस्पर में विरोध न करके सम्पूर्ण पदार्थों को संग्रह रूप से ग्रहण करता है वह सामान्य संग्रह नय है। जैसे सभी द्रव्यों में परस्पर अविरोध है, क्योंकि सत् रूप हैं। जो नय एक जाति विशेष की अपेक्षा अनेक पदार्थों का ग्रहण करता है वह विशेष संग्रह नय कहलाता है। जैसे सभी जीव परस्पर में अविरोधी हैं। अजीवसमूह, हाथियों का झुण्ड आदि।

व्यवहार नय

इसके पश्चात् अब व्यवहारनय के स्वरूप को बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक तब तक भेद करता है जब तक कि अन्य कोई भेद नहीं बनता, वह व्यवहार नय है। व्यवहार नय के भी दो भेद प्ररूपित किये हैं, सामान्य व्यवहार नय और विशेष व्यवहार नय।

सामान्य संग्रह नय के विषयभूत पदार्थों में भेद करने वाला सामान्य व्यवहार नय कहलाता है। जैसे द्रव्य के भेद हैं जीव और अजीव। इसी प्रकार जो विशेष संग्रह नय के द्वारा विषयभूत किये हुए पदार्थों में भेद करता है उसे विशेष व्यवहार नय कहते हैं। जैसे-जीव के दो भेद संसारी और मुक्त ऐसे ही और भी भेद करना।

ऋजुसूत्र नय

जो नय भूतकाल और भविष्यकाल की पर्याय को छोड़कर मात्र वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है, क्योंकि अतीत के नष्ट हो जाने एवं भविष्य के उत्पन्न नहीं होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता है। इसलिये इस नय में मात्र वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण किया है।¹

ऋजुसूत्र नय के भी दो भेद किये हैं - सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय और स्थूल ऋजुसूत्र नय। जिनमें जो नय एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है वह सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय कहलाता है। जैसे सर्व क्षणिक हैं, शब्द क्षणिक है इत्यादि।

जो नय वस्तु की पर्याय की स्थिति जितनी है उतनी स्थिति तक ग्रहण करता है वह स्थूल ऋजुसूत्र नय कहलाता है। जैसे मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु तक रहती हैं।

शब्द नय - अब क्रमप्राप्त शब्दनय का स्वरूप कहते हैं -

लिङ्ग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार को दूर करने वाला शब्द नय कहलाता है। जैसे पुष्प, तारा, नक्षत्र अथवा दारा, कलत्र, भार्या इनका एकार्थ रहता है।²

समभिरूढ नय - अब समभिरूढ नय का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि - जो नय शब्दों के कई अर्थों को छोड़कर मुख्य रूप से जो शब्द रूढ होता है उसको ही ग्रहण करता है वह समभिरूढ नय कहलाता है। जैसे 'गो' शब्द वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाने पर भी वह 'पशु' अर्थ में रूढ होने से इसको पशु रूप में माना जाता है।³

एवंभूत नय - अब अन्तिम भेद एवंभूत नय के स्वरूप को बताते हैं - जो व्यक्ति या वस्तु जिस पर्याय में अथवा जिस कार्य में संलग्न हो उस समय उसको वैसा ही कहना एवंभूत नय कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति देवपूजा कर रहा हो तो तभी उसको पुजारी कहना परन्तु प्रतिसमय नहीं कहना।⁴

1 स. सि. 1/33

2 लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। स. सि. 1/33

3 स. सि. 1/33, नयचक्र 41, आलापपद्धति सू. 78

4 वही

द्वितीय परिच्छेद : उपनय का स्वरूप एवं भेद

नयों का स्वरूप समझने के पश्चात् अब उपनय का स्वरूप एवं उसके भेदों को लक्षण सहित प्रदर्शित करते हैं-

उपनय की परिभाषा लिखते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - 'नयानां समीपा उपनयः' अर्थात् जो नय के समीप होते हैं। नय न होते हुए भी नय के समान होते हैं उन्हें उपनय कहते हैं।

उपनय के तीन भेद हैं-सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरितासद्भूत व्यवहारनय। इनमें भी सद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद, असद्भूत व्यवहारनय और उपचरितासद्भूत व्यवहारनय के तीन-तीन भेद हैं।'

संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा गुण और गुणी में अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। सद्भूत के दो भेद हैं-शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय और अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय।

शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्धपर्याय और शुद्धपर्यायी में जो नय भेद करता है वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे - सिद्ध जीव एवं सिद्धपर्याय में भेद कथन करना।

इसी प्रकार जो नय अशुद्धगुण और अशुद्धगुणी में तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायी में भेद करने का कथन करता है वह अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है।

जो नय भेद होने पर भी अभेद का उपचार करता है वह असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है।² जो नय अन्य द्रव्य के गुणों को अन्य द्रव्य में आरोपित करता है उसे असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।³ जैसे-पुद्गलादि में जो स्वभाव है उसका जीवादि में

¹ सन्भूयमसन्भूयं उवयरियं चैव दुविह सन्भूयं।
तिवहं पि असन्भूयं उवयरियं जाण तिविहं पि॥ नयचक्र 15
² वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका गाथा 3
³ नयचक्र गा. 50 एवं आलापपद्धति सू. 207

समारोपण करना। असद्भूत व्यवहारनय के तीन भेद हैं - स्वजात्यसद्भूत, विजात्यसद्भूत और स्वजातिविजात्यसद्भूत। जो नय स्वजातीय द्रव्यादिक में स्वजातीय द्रव्यादि के सम्बन्ध से होने वाले धर्म का आरोपण करता है वह स्वजात्यसद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। जैसे परमाणु बहुप्रदेशी है। यहाँ यह कहना चाहते हैं कि परमाणु वर्तमान अवस्था में भले ही एकप्रदेशी हो, परन्तु उसमें अन्य परमाणुओं के सम्बन्ध से वह बहुप्रदेशी हो सकता है।

अब द्वितीय भेद का स्वरूप कहते हैं - जो नय दूसरी जाति के द्रव्यादिक में दूसरी जाति के द्रव्यादिक की स्थापना करता है उसे विजात्यसद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे मतिज्ञान मूर्तिक है, क्योंकि वह मूर्तद्रव्य से उत्पन्न हुआ है। अतः उसको भी मूर्त कहा गया है यहाँ पर मतिज्ञान नामक आत्मगुण में पौद्गलिक मूर्तत्वगुण कहा गया है, तथा एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर जीवस्वरूप हैं ऐसा कथन करता है। जो नय स्वजातीय और विजातीय वस्तु को प्रधान करके कहता है वह स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। जैसे - जीव-अजीव दोनों ज्ञेय पदार्थों को ज्ञान कहना। यहाँ पर ज्ञानगुण की अपेक्षा जीव स्वजातीय एवं अजीव विजातीय है।

अब इसके बाद उपचरितासद्भूत व्यवहार नय का भेदों सहित स्वरूप कथन करते हैं - असद्भूत व्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है।¹ जैसे 'पुत्रादि मेरे हैं' यहाँ पर उपचार से भी उपचार किया गया है। पहले तो उपचार से 'शरीर मेरा है' और उसमें भी उपचार कि 'पुत्रादि मेरे हैं', इस प्रकार समझना चाहिए। इसकी ये विशेषता है कि ये संश्लेष सम्बन्ध से रहित होता है। उपचारितासद्भूत व्यवहार नय के तीन भेद हैं² -

1. स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय
2. विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय
3. स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय

¹ बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा 3 टीका, नयचक्र गा. 70

² आ. प. सू. 88

अब क्रमप्राप्त प्रथम भेद के स्वरूप को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - जो नय उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है वह स्वजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय कहलाता है। जैसे पुत्र - स्त्री आदि मेरे हैं। यहाँ यह कहना चाहते हैं कि पुत्र, स्त्री आदि में वह अपने आप का स्वामित्व या अपनी सम्पदा समझता है।

अब द्वितीय भेद को प्रदर्शित करते हैं - जो नय परजाति गत पदार्थों को अपना कहता है वह विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय कहलाता है। जैसे - 'सोना, आभरण, वस्त्र आदि मेरे हैं' इस प्रकार यहाँ सोना आदि अपनी जाति के द्रव्य नहीं हैं, आत्मरूप नहीं हैं। अतः असद्भूत तथा लोकव्यवहार में वास्तविक स्वामित्व भी पाया जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

अब तीसरे भेद के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो नय चेतन और अचेतन मिश्र पदार्थ को अपना बतलाता है वह स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार उपनय है। जैसे 'देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं'। यहाँ देशादिक में सचेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार के पदार्थों का समावेश हो जाता है।

नयों और उपनयों के विषय

नयों और उपनयों के विषय को बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि-द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य, पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है।¹ सद्भूत व्यवहार के दो विषय, असद्भूत व्यवहार के नौ और उपचरित के तीन विषय हैं।

उनमें गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। असद्भूत व्यवहारनय के जो विषय हैं उनको देखते हैं वे निम्न हैं - 1. द्रव्य में द्रव्य का उपचार करना, जैसे - शरीर को ही जीव कहना। पृथ्वी आदि पुद्गल में एकेन्द्रिय जीव का उपचार। 2. पर्याय में पर्याय का उपचार करना, जैसे किसी के प्रतिबिम्ब को देखकर उसको उस चित्र के जैसा बतलाना। 3. गुण में गुण का उपचार करना, जैसे मतिज्ञान मूर्तिक है, क्योंकि कर्मजनित है ऐसा

¹ नयचक्र गाथा 16

कहना। 4. द्रव्य में गुण का उपचार करना, जैसे - जीव, अजीव ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषय हैं। 5. द्रव्य में पर्याय का उपचार करना, जैसे - एकप्रदेशी परमाणु को भी बहुप्रदेशी कहना। 6. गुण में द्रव्य का उपचार करना, जैसे सफेद महल। यहाँ श्वेत गुण में महल द्रव्य का आरोप किया गया है। 7. गुण में पर्याय का उपचार करना, जैसे - पर्याय में परिणमन करने वाले की तरह ज्ञान गुण ही पर्याय है ऐसा कहना। 8. पर्याय में द्रव्य का उपचार करना, जैसे - स्कन्ध भी द्रव्य है ऐसा कहना। 9. पर्याय में गुण का उपचार करना, जैसे शरीर के आकार को देखकर कहना कि यह उत्तम रूप है। इस प्रकार से ये असद्भूत व्यवहार नय के नौ विषय हैं। यहाँ एक बात विशेष जानने के लिये है कि उपचार पृथक् नय नहीं है इसीलिए उसको अलग से नय नहीं कहा है। मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवशात् उपचार की प्रवृत्ति होती है। उपचार व्यवहारनय का भेद है।

अध्यात्म नय

आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता है कि उन्होंने नयों के विषय में अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया है। सभी नयों का वर्णन करने के अन्त में उन्होंने अध्यात्मभाषा से भी नयों का वर्णन किया है। जो आध्यात्मिक ग्रन्थों में अवश्यमेव पाये जाते हैं। जैसे आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के समयसारादि में। अध्यात्मभाषा के नयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं - नयों के मूल दो भेद हैं - एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। उसमें निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का विषय भेद है। अर्थात् गुण-गुणी में एवं पर्याय-पर्यायी आदि में भेद न करके जो भेद के द्वारा वस्तु को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है।¹ इसमें ये विशेष है कि निश्चय नय का हेतु द्रव्यार्थिक नय और व्यवहार नय का हेतु पर्यायार्थिक नय है। उनमें से निश्चय नय के दो भेद हैं - शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। इनमें भी शुद्ध निश्चय नय का विषय शुद्ध द्रव्य है तथा अशुद्ध निश्चय नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है। जो नय कर्मजनित विकार से रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह शुद्ध निश्चय नय कहलाता है।

¹ आ. प. सू. 215-216

जैसे जीव केवलज्ञानमयी है। इस नय की विशेषता बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के न बन्ध है, न मोक्ष है और न गुणस्थानादि हैं।

अब क्रमप्राप्त द्वितीय भेद के स्वरूप को बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो नय कर्मजनित विकार सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह अशुद्ध निश्चय नय कहलाता है। जैसे - मतिज्ञानमयी जीव है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार है ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में भी कहा है। रागादि यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य सर्वकाल अचेतन हैं। ऐसा सभी स्थानों में जान लेना चाहिये।

व्यवहार नय के भी दो भेद हैं - सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय।¹

इन दोनों में से जो एक वस्तु को विषय करता हो वह सद्भूतव्यवहार नय कहलाता है। जैसे वृक्ष एक है, उसमें लगी शाखायें यद्यपि भिन्न हैं तथापि वृक्ष ही हैं। उसी प्रकार यह सद्भूत व्यवहार नय गुण और गुणी का भेद कथन करता है। जीव के ज्ञान, दर्शनादि। सद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद हैं। उपचरित सद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

उनमें से भी कर्मजनित विकार सहित गुण-गुणी के भेद को विषय करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। जैसे - जीव के मतिज्ञानादिक गुणा² संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद करना उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

जो कर्मजनित विकार रहित जीव में गुण और गुणी के भेद रूप विषय को ग्रहण करता है वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे - जीव के केवलज्ञानादि गुणा³

1 आ. प. सू. 220

2 वही सू. 224

3 आ. प. सू. 225

अब इसके बाद असद्भूत व्यवहार नय जो व्यवहारनय का दूसरा भेद है उसका स्वरूप एवं भेद को प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - जो नय भिन्न वस्तुओं को विषय करने वाला है वह असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है। जैसे - एक स्थान पर भेड़ें बैठी हुई हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार यह नय भिन्न-भिन्न सत्ता वाले पदार्थों के सम्बन्ध को विषय करता है। ज्ञेय-ज्ञायक आदि सम्बन्ध इसके विषय हैं।

असद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है - उपचरित और अनुपचरित। जो संश्लेष सम्बन्ध से रहित हैं ऐसी भिन्न वस्तुओं का परस्पर में सम्बन्ध ग्रहण करता है वह उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। जैसे - देवदत्त का धन। यहाँ देवदत्त भिन्न द्रव्य है और धन भिन्न द्रव्य है और इन दोनों में संश्लेष सम्बन्ध भी नहीं है। जो संश्लेष सम्बन्ध सहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करता है वह अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। जैसे - जीव का शरीर इत्यादि। यहाँ जीव भिन्न द्रव्य है और शरीर भिन्न द्रव्य है, परन्तु दोनों में संश्लेष सम्बन्ध है।'

तृतीय परिच्छेद : नय की अपेक्षा स्वभाव वर्णन

नयों के स्वरूप को भली-भाँति जानकर के नयों का प्रयोग करके जो अपने कथनों की प्रवृत्ति करता है वास्तविकता में वही विद्वान् है। नय, प्रमाण का ही एक अंश है, यह हम पहले ही समझ चुके हैं। नय को समग्र रूप से प्रस्तुत करना एक बहुत बड़ी कला है। उसी प्रकार नयों का योजन विभिन्न स्थानों में भी करना चाहिये। इसीलिए आचार्य देवसेन स्वामी ने एक अलग ही विषय प्रस्तुत किया है, किस-किस द्रव्य में किम्-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है, इसको कहते हैं कि - स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अस्तिस्वभाव है। इसी तरह परचतुष्टय को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नास्तिस्वभाव है। उत्पाद-व्यय को गौण करके ध्रौव्य को ग्रहण करने वाले शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य स्वभाव है। ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाले अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य स्वभाव है। भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा एकस्वभाव है अर्थात् जीव के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है वह तो एक ज्ञायकशुद्ध स्वभाव वाला है। अन्वय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक द्रव्य के भी अनेक स्वभाव पाये जाते हैं। जैसे - किसी पुरुष की बाल-वृद्ध अवस्था होती है।

सद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद स्वभाव है और भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा गुण-गुणी आदि में अभेदस्वभाव है। पर्याय-पर्यायी में प्रदेश भेद नहीं होने से अभेद स्वभाव है। परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भव्य और अभव्य पारिणामिक स्वभाव हैं। शुद्धाशुद्ध परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव के चेतन स्वभाव है। यह छद्मावस्था की अपेक्षा कथन किया है तब वह अशुद्ध रहता है और परमात्म अवस्था में शुद्ध हो जाता है। असद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के भी चेतन स्वभाव है, क्योंकि पौद्गलिक कर्म जीव के परिणामों से अनुरजित होने के कारण कथञ्चित् चेतन है। परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कर्म, नोकर्म के अचेतन स्वभाव है। विजात्यसद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के भी अचेतन स्वभाव है। कर्मबन्ध के कारण न कि निजस्वभाव की अपेक्षा जीव के अचेतन स्वभाव है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से कर्म, नोकर्म के मूर्त स्वभाव है, क्योंकि यह पुद्गल का असाधारण गुण है। विजात्यसद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्तस्वभाव है। परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पुद्गल के अतिरिक्त जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के अमूर्तस्वभाव है। विजात्यसद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा उपचार से पुद्गल द्रव्य के भी अमूर्तस्वभाव है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कालाणुद्रव्य और पुद्गलपरमाणु के एकप्रदेश स्वभाव है। भेदकल्पनानिरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और जीवद्रव्य के प्रदेश और प्रदेशवान् का भेद न करके इनको अखण्डरूप से ग्रहण करने पर उनमें बहुप्रदेशत्व गौण हो जाता है। इस अपेक्षा से उनमें एकप्रदेश स्वभाव हो जाता है। भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और जीवद्रव्य के नाना प्रदेश स्वभाव है। इसलिये इन द्रव्यों की अस्तिकाय संज्ञा है। स्वजात्यसद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से पुद्गलपरमाणु के नाना प्रदेश स्वभाव है, किन्तु कालाणु के उपचार से भी नाना प्रदेश स्वभाव नहीं है, क्योंकि कालाणु में स्निग्ध व रुक्ष गुण का अभाव है एवं वह स्थिर है। अमूर्तिक कालाणु के उपचरित स्वभाव नहीं है। परोक्षप्रमाण की अपेक्षा से और असद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा से पुद्गल के उपचार से अमूर्त स्वभाव है। सूक्ष्मपुद्गल परमाणु परोक्षज्ञान के उपचार से अमूर्त स्वभाव है। सूक्ष्मपुद्गल परमाणु परोक्षज्ञान अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने से अमूर्त हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्य में स्वभाव भाव है और अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव, पुद्गल में विभाव स्वभाव है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्ध स्वभाव है। अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध स्वभाव है। असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा उपचरित स्वभाव मात्र जीव और पुद्गल में है।

इस प्रकार नय की अपेक्षा स्वभावों का वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि द्रव्यों का जिस प्रकार का स्वरूप है, वह लोक में व्यवस्थित है। ज्ञान से उसी प्रकार जाना जाता है, नय भी उसी प्रकार जाना जाता है।

नयों की उपयोगिता

वस्तु अनेक धर्मों का समुदाय है। उसको प्रमाण के द्वारा जाना तो जा सकता है, लेकिन उसका कथन सम्पूर्ण रूप से नहीं किया जा सकता है। कोई भी चाहे जितना चतुर वक्ता हो, वह प्रयोजनानुसार एकबार में उसके एक अंश का अथवा धर्म का ही कथन कर सकता है और ऐसा कर ही अपना अभिप्राय प्रकट कर सकता है। नय एक सिद्धान्त है। इसे नयवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अनेकान्त के बाद ही एकान्तवाद का विनाश करने के लिए नयवाद का अन्वेषण किया गया होगा। यही कारण है कि आचार्य देवसेन ने नय को अनेकान्त का मूल कहा है, क्योंकि अनेक नयों का समूह ही अनेकान्त है। उन्होंने नय को श्रुतज्ञान का भेद बतलाया है, क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा ग्रहीत वस्तु के एक अंश को नय ग्रहण करता है। वे कहते हैं कि नयवाद के बिना द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। द्रव्य के ज्ञान के बिना ध्यान नहीं हो सकता है। इसके बिना वस्तु का ज्ञान न होने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि हुए बिना मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं होगा।

नयवाद का ज्ञाता जानता है कि व्यवहार नय से बन्ध होता है और स्वभाव युक्त होने पर मोक्ष होता है, इसलिए नयवादी व्यवहार गौण करके स्वभाव की आराधना करता है।

चतुर्थ परिच्छेद : प्रमाण का स्वरूप एवं भेद

आचार्य देवसेन स्वामी ने प्रमाण का लक्षण नय की अपेक्षा अत्यन्त न्यून किया है। उसी में प्रमाण का लक्षण करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि समस्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है, निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है।

सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्पक ज्ञान है। यह चार प्रकार है। 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्ययज्ञान। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिए उपयोग नहीं लगाना पड़े वह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसका सिर्फ एक ही भेद है वह है केवलज्ञान। केवलज्ञान मनोरहित अर्थात् इच्छा या विचाररहित होता है। अन्य पूर्वाचार्यों ने प्रमाण के दो भेद किये हैं जो प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में हैं।¹ जो बिना किसी माध्यम के साक्षात् आत्मा से जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, जो एकदेश और सकलदेश के भेद से दो प्रकार का है। एकदेश प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान एवं सकलदेश प्रत्यक्ष में केवलज्ञान है। जो इन्द्रिय और मन के माध्यम से जानता है वह परोक्ष ज्ञान है। जिसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को ग्रहण किया गया है। इन पाँचों ज्ञानों के स्वरूप की विशेष व्याख्या प्रथम अध्याय में कर आये हैं। अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं करना ही उचित प्रतीत होता है। इसीलिए यहाँ मात्र नामोल्लेख ही करना समुचित है।

¹ तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। त. सू. 1/10-12

निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन की परम्परा में जैनधर्म तथा दर्शन का अपना एक अलग स्थान है। इसके अनुसार वस्तु का स्वरूप ऋत, सत्य और सत् से लक्षित होता है। सत्ता भी वही जो उत्पत्ति, स्थिति (ध्रौव्य) तथा विलय से सम्बद्ध है। प्रत्येक त्रयात्मक वस्तु अनन्त धर्मों का समूह है। इस अनन्त धर्मात्मक तत्त्व की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमाण तथा नय के आधार पर की गई है। इन दोनों के द्वारा वस्तु को एक और अनेक रूपों में क्रमशः जाना जा सकता है। प्रमाण तथा नय का सम्बन्ध सापेक्ष है। नय को समझे बिना प्रमाणों के स्वरूप का बोध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन नय और प्रमाण द्वारा ही संभव है। नयवाद जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट विचार पद्धति है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के विवेचन में नय का उपयोग होता है। प्रमाण नयों का स्वरूप है। अतः प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिये पहले नयों का ज्ञान करना आवश्यक है। वस्तुस्वरूप को जानने में प्रवृत्त ज्ञानशक्ति जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते हैं, और जब दोनों पक्षों के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मों का भेद किये बिना वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने नयों का वर्णन करते हुए लिखा है- नयों के मूल दो भेद हैं, जो नय लोक में पर्याय को गौण करके द्रव्य को ही ग्रहण करता या जानता है वह द्रव्यार्थिक नय कहा गया है जो द्रव्यार्थ के विपरीत है अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ही जानता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इनमें द्रव्यार्थिक नय के 10 और पर्यायार्थिक नय के 6 भेदों के स्वरूप को भी बतलाया है। तत्पश्चात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत नय के स्वरूप और भेदों का वर्णन सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् उपनय के तीन भेद हैं- सद्भूतव्यवहार नय, असद्भूतव्यवहार नय, उपचरितासद्भूतव्यवहार नय। इनमें भी सद्भूतव्यवहार नय के दो भेद, असद्भूतव्यवहार नय और उपचरितासद्भूतव्यवहार नय के तीन-तीन भेद स्वरूप सहित वर्णित किये हैं। इसके बाद नयों और उपनयों के विषयों का वर्णन किया है। सभी

नयों का वर्णन करने के पश्चात् वे अध्यात्मभाषा के नयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं- नयों के मूल दो भेद हैं- एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। उसमें निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का विषय भेद है। उनमें से निश्चय नय के दो भेद हैं- शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। इनमें भी शुद्ध निश्चय नय का विषय शुद्धद्रव्य है तथा अशुद्ध निश्चय नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है।

नयों के स्वरूप को भली-भाँति जानकर के नयों का प्रयोग करके जो अपने कथनों की प्रवृत्ति करता है वास्तविकता में वही विद्वान् है। नय, प्रमाण का ही एक अंश है यह हम पहले भी समझ चुके हैं। नय को समग्र रूप से प्रस्तुत करना एक बहुत बड़ी कला है। उसी प्रकार नयों का योजन विभिन्न स्थानों में भी करना चाहिये। इसीलिए आचार्य देवसेन स्वामी ने एक अलग ही विषय प्रस्तुत किया है, किस-किस द्रव्य में किस-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है।

इसके पश्चात् प्रमाण का स्वरूप और भेद भी संक्षेप से नय के साथ किया है। प्रमाण का लक्षण करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि समस्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है। सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्पक ज्ञान है। यह चार प्रकार है: 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अविधिज्ञान 4. मनःपर्ययज्ञान। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिए उपयोग नहीं लगाना पड़े वह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसका सिर्फ एक ही भेद है वह है केवलज्ञान। प्रमाण का विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय में कर चुके हैं।

इस प्रकार नय और प्रमाण का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने दोनों का विशेष रूप से किया है।



तृतीय-अध्याय

.....

आचार्य देवसेन की कृतियों में गुणस्थान विवेचन
(आत्मविकास की अवस्थायें)

प्रथम परिच्छेद : गुणस्थान का स्वरूप एवं भेद

भगवान महावीर ने जिस तत्त्व-दर्शन का प्रचार किया उसकी छाया भी अन्य दार्शनिक प्राप्त न कर सके। जैनदर्शन जितना सूक्ष्म तत्त्व निर्णय उपस्थित करता है, शायद ही अन्य दर्शन उस तक पहुँचने का मन बना पाते हैं। चाहे बात अहिंसा की हो या अनेकान्त की, चाहे बात अपरिग्रह की हो या स्याद्वाद शैली की, इन सभी में जैनदर्शन अनोखा है।

जैन आगम में वर्णित गुणस्थान वस्तुतः जैन दार्शनिकों, आचार्यों एवं तीर्थङ्करों की उन असंख्य मौलिक विवेचनाओं में से एक है जिसे आज तक अन्य जैनेतर दर्शन स्पर्श भी नहीं कर पाये, न शब्दों से न ही अर्थ से। गुणस्थान को प्राथमिक दृष्टि से देखने पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की तरह दिखता है, परन्तु इस शिक्षा प्रणाली से पूर्णतया अलग ही है, न ही इसके प्रत्येक दर्जे पर समान समय लगता है, न ही क्रम से आगे बढ़ने की अनिवार्यता है और न ही सभी जीव इसमें समान रूप से आगे बढ़ सकते हैं।

गुणस्थान का वर्णन अत्यन्त रहस्यमय प्रतीत होता है, क्योंकि गुणस्थान की पहचान वर्तमान में अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञान के अभाव में असंभव ही है। श्रुतज्ञान की सहायता से तीक्ष्ण विचार करने पर भी अनुमान ही लगाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रत्यक्षज्ञानी सर्वज्ञ भगवान के उपदेश में आने के बाद भी अन्य दार्शनिकों की कल्पना में नहीं आ सका। प्रत्यक्ष सिद्ध न होने के कारण ही गुणस्थान का अध्ययन एवं अध्यापन मात्र विशेष संयमधारियों तक ही सिमटा रहा। सामान्य जनता को समझाने के लिये आचार्यों ने ग्रन्थ लेखन प्रारम्भ किया तथा भाषा का चुनाव जनता के अनुरूप ही किया। प्राचीन काल से ही प्राकृत भाषा सामान्य लोकभाषा की तरह प्रचलित थी, यह बहुत सरल एवं रसोत्पादक थी। अतः प्राकृत में ही गुणस्थानों का रहस्य लिपिबद्ध करना उचित समझा गया।

एक कारण यह भी हो सकता है कि यदि आचार्य प्राकृतेतर भाषा का चुनाव करते तो गुणस्थानों का जटिल विषय अत्यन्त जटिल बन जाता एवं विद्वानों के लिये भी 'अष्टसहस्री' की तरह 'कष्टसहस्री' हो जाता। मेरा यह विचार इसलिए है, क्योंकि अधिकांश प्राकृत ग्रन्थों की टीका संस्कृत में लिखी गई, परन्तु धवला आदि टीका ग्रन्थ

प्राकृत में ही लिखे गये। अध्यात्म का रहस्य भी प्राकृत भाषा की सरलता में ही समायोजित किया गया अथवा संस्कृत का प्रयोग किया भी तो सरल संस्कृत में ही किया गया जैसे आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में।

वर्तमान में गुणस्थान का अध्ययन बहुत विरल होता जा रहा है। गुणस्थानों को सही तरीके से समझाने वालों की कमी होने से आज के विद्यार्थी भी मात्र औपचारिकता पूर्ण करना चाहते हैं। यही कारण है कि विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय गुणस्थान विषयक ग्रन्थों से परहेज कर पुराणों आदि को प्राथमिकता दी जाने लगी। वस्तुतः विद्यार्थियों को विद्वान् बनाने के लिए गुणस्थान का सम्यक्तया अवबोध कराना अनिवार्य है। वाक्पटुता को ही सम्प्रति विद्वत्ता माना जाता है, परन्तु सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना यह मात्र मनोरञ्जन ही है। मुख्यतया गुणस्थान का ज्ञान विद्वत्ता को शुद्ध करने का काम करता है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश जैसी भाषायें वर्तमान में अपने अंश रूप में ही अत्यन्त गवेषणा के बाद दिखाई दे पाती हैं। ये वे भाषायें हैं, जिनको प्राचीन आचार्यों का पूर्ण समर्थन रहा, जो सैकड़ों वर्षों तक भारतवर्ष की राजभाषा रहीं, जिसमें सम्पूर्ण प्रामाणिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक रहस्यों को सुनियोजित किया गया।

गुणस्थान विषयक प्राचीनतम साहित्य का अन्वेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि गुणस्थानों का विकास कालक्रम से न होकर पूर्व में ही सर्वज्ञवाणी में हो चुका था। इस चिन्तन का आधार यह है कि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों से लेकर अर्वाचीन सभी करणानुयोग विषयक ग्रन्थों में से किसी में भी गुणस्थानों की संख्या एवं स्वरूप में हानि अथवा वृद्धिरूप विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसा विकास व्रतों की मान्यताओं में हुआ, जैसा विकास आध्यात्मिक क्षेत्र के गम्भीर तत्त्वों में हुआ, जैसा विकास सप्तभंगी में हुआ, जैसा विकास अष्टमूलगुणों में हुआ, जैसा विकास नयपरिकल्पना में हुआ, वैसा कुछ भी गुणस्थानों में न हो सका। यही कारण है कि गुणस्थान कल्पना का महल न होकर वास्तविकता की पृष्ठभूमि है। आचार्यों ने भी इस वास्तविकता को अनादिकालीन सत्य की तरह ही स्वीकार किया।

गुणस्थानों का ज्ञान करने के बाद ही शिष्य कर्म सिद्धान्त के जटिल समीकरण को समझ सकता था। अतएव गुणस्थान, पठन-पाठन के लिये एक प्राथमिक अनिवार्यता का कार्य करता है। आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि के समय में सभी इसकी सूक्ष्मता से अवगत थे, इसलिये उन्होंने गुणस्थान का परिचय मात्र दिया तथा इसकी जटिलताओं में प्रवेश कर गये।

लिपिबद्ध इतिहास की दृष्टि से जैन आगम का लेखनकार्य ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व भाग में ही प्रारम्भ हो चुका था। आचार्य गुणधर स्वामी ने अपने ग्रन्थ 'कसाय पाहुड' में तथा आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने 'षट्खण्डागम' में गुणस्थान से जुड़े जटिलतम विवेचन गाथाबद्ध तथा सूत्रबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। इसप्रकार प्राकृत भाषा में ही गुणस्थान का प्राचीनतम रहस्य छिपा हुआ है। इसके बाद संस्कृत भाषा में भी कर्मसिद्धान्त को गूँथा जाने लगा। ईसा की प्रथम शताब्दी में ही आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ 'समयसार' में गुणस्थान शब्द का प्रयोग किया गया है। वहीं 'तिलोयपण्णत्ति' में आचार्य यतिवृषभ ने तो विभिन्न गुणस्थानों में जीवों की संख्या आदि का निर्देश कर स्पष्ट कर दिया कि पूर्व में ही गुणस्थानों का सकल विवरण सर्वज्ञवाणी से ही पूर्ण हो चुका था।

पश्चात् क्रमशः कई ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विवेचन करते हुए गुणस्थानों को स्पर्श किया गया। प्राकृत भाषा का 'पञ्चसंग्रह' छठी शताब्दी में रचा गया था। अभी तक पूर्व कथित ग्रन्थों से आचार्य अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। आठवीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'षट्खण्डागम' और 'कसायपाहुड' पर प्राकृत भाषा में ही बृहत्काय टीकायें धवला, जयधवला एवं महाधवला के नाम से रचीं। कर्मसिद्धान्त के क्षेत्र में इन टीकाओं ने अपने विशिष्ट एवं प्रामाणिक स्थान बना रखा था। ये सिद्धान्त ग्रन्थ की श्रेणी में आते थे तथा दिगम्बर मुनियों के अतिरिक्त किसी को भी इनका स्वाध्याय नहीं कराया जाता था। दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने प्रिय गृहस्थ शिष्य चामुण्डराय को पढ़ाने के लिये 'गोम्मटसार' नामक ग्रन्थ इन ही धवलादि टीकाओं के आधार पर रचा। इसके दोनों भाग 'जीवकाण्ड' एवं 'कर्मकाण्ड' में गुणस्थानों का तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने ही लब्धिसार, क्षपणासार जैसे जटिल कर्मसिद्धान्त ग्रन्थों की रचना भी की। इसी प्रकार आचार्य देवसेन स्वामी ने भी अपने

प्राकृत ग्रन्थ 'भावसंग्रह' में गुणस्थानों का बृहद् एवं विशद् विवेचन किया है। अन्य शास्त्रों में भी कुछ मात्रा में गुणस्थानों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

आगे की शताब्दियों में इन्हीं ग्रन्थों की टीका लिखने का युग प्रारम्भ हुआ और अनेक आचार्यों ने संस्कृत, तमिल, कन्नड, अपभ्रंश एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं में गुणस्थानों को जनसामान्य का विषय बनाने का प्रयास किया। यह तो स्पष्ट है कि गुणस्थानों की आधारशिला सर्वज्ञकथित होने से आज तक पूर्ववत् ही है, इसमें त्रुटि की संभावनायें भी नहीं हैं।

निरुक्ति-निर्वचन

गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः स्थानं पुनः अत्र तेषां शुद्धि-विशुद्धि प्रकर्षप्रकर्षकृतः स्वरूपभेदः तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा गुणानां स्थानं गुणस्थानम्।

अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप जीव के स्वभाव विशेष को गुण और जहाँ इन गुणों की शुद्धि-विशुद्धि के प्रकर्ष स्वरूप और अप्रकर्ष स्वरूप के भेदों में स्थित रहते हैं वह स्थान कहा है। ऐसा स्वरूप करके गुणों के स्थान को गुणस्थान कहा गया है।

लक्षण - गुणस्थान की परिभाषा कहते हुए आचार्य लिखते हैं कि-

जेहिं दु लखिखज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।

जीवा ते गुणसण्णा णिदिदट्ठा सव्वदरिसीहिं।¹

अर्थात् कर्मों (मोहनीय) की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के निमित्त से उत्पन्न होने वाले जिन परिणामों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस संज्ञा से निर्दिष्ट किया है। मोह और योग (मन, वचन, काय) की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों की तारतम्य अवस्था का नाम ही गुणस्थान है।²

जीव के अन्तरंग परिणामों की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का द्योतक है। जीव के परिणाम सदा

¹ पञ्चसंग्रह प्रा. 1/3, गो. जी. का. गाथा 8, ध. पु. 1

² गो. जी. का. गाथा 3

एक जैसे नहीं रहते। जीव के परिणामों में प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव होता रहता है। गुणस्थान आत्मपरिणामों में होने वाले इन उतार-चढ़ावों का बोध कराता है।

मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से मिश्र गुणस्थान होता है। दर्शन मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से चतुर्थ गुणस्थान होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयाभाव से पञ्चम गुणस्थान होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयाभाव से 6 से 10 तक पाँच गुणस्थान होते हैं। चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से 11वाँ और क्षय से 12वाँ गुणस्थान होता है किन्तु 13वें गुणस्थान में शरीर नाम कर्मोदय के कारण योग है और गुणस्थान में शरीर नाम कर्मोदय के कारण योग है और शरीरनामकर्मोदय के अभाव हो जाने से 14वें गुणस्थान में योग भी नहीं होता। चार घातिया और चार अघातिरूप आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बन्ध-उदय-सत्त्व का सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर मुक्तावस्था उत्पन्न होती है। यह अवस्था गुणस्थानातीत है, क्योंकि यहाँ कर्मों का सत्त्व ही नहीं रहा।

आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध होने के कारण अपनी स्वाभाविक शक्तियाँ प्रगट नहीं कर पाती है। कर्मों का आवरण उसके मूल स्वरूप को आवृत या विकृत कर देता है। जितनी-जितनी कर्म आवरण की घटायें सघन होती जाती हैं, उतनी-उतनी जीव शक्तियों का प्रकाश कम होता जाता है तथा इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्म पटल विरल होते हैं, वैसे-वैसे आत्मशक्ति प्रकट होती जाती है। जीव के परिणामों की हीनाधिकता के अनुसार आत्मशक्तियों का विकास और ह्रास होता है।

गुणस्थानों के भेद

आत्मपरिणामों की विविधताओं को देखते हुए गुणस्थानों की संख्या भी अधिक होनी चाहिए। आचार्यों ने इन विविध परिणामों को 14 समूह में समाहित किया है। कोई भी जैन दार्शनिक गुणस्थान की इस संख्या का विरोधी नहीं है। गुणस्थानों की संख्या के विषय में धवलाकार श्री वीरसेन स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने जायें तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है।¹ अतः द्रव्यार्थिक नय

¹ ध. पु. 1/11

की अपेक्षा नियत संख्या वाले ही गुणस्थान कहे गये हैं। इसीलिए गुणस्थानों के 14 भेद ही सर्वमान्य निर्णीत हैं।

षट्खण्डागम से लेकर पञ्चसंग्रह, गोम्मटसार, भावसंग्रह आदि सभी ग्रन्थों में निम्नलिखित नाम ही स्वीकार किये हैं-

मिच्छो सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य॥
उवसंत खीणमोहो सजोइकेवलजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा॥¹

अर्थात् मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली ये क्रम से चौदह गुणस्थान होते हैं तथा सिद्धों को गुणस्थानातीत जानना चाहिये।

इनमें आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के अनुसार अपूर्वकरण का अपरनाम अपूर्वकरण प्रविष्टशुद्धि संयत, अनिवृत्तिकरण का अपरनाम अनिवृत्तिकरण बादरसाम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत और सूक्ष्मसाम्पराय या सूक्ष्मसाम्पराय प्रविष्ट शुद्धिसंयत, उपशान्तकषाय या उपशान्तकषाय छद्मस्थ वीतराग, क्षीणमोह अथवा क्षीणमोह छद्मस्थवीतराग ये अपर नाम भी हैं।²

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मान्यताओं में इन सभी गुणस्थानों के नाम लगभग एकरूपता को लिये हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आठवें गुणस्थान का नाम कुछ भिन्न प्राप्त होता है। 'कर्मस्तव' नामक ग्रन्थ में गाथा का उल्लेख है-

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्ठि अनियट्ठि सुहुमुवसम खीणसजोगिअजोगिगुणा॥

¹ भावसंग्रह गाथा 10,11, प्रा. पं. सं. अ. 1 गाथा 4,5

² ष. ख. 1/1, 1 सूत्र 9-22

परन्तु यह निवृत्ति बादर गुणस्थान अपूर्वकरण गुणस्थान का ही नामान्तर है। श्वेताम्बर परम्परा दोनों को पर्यायवाची की तरह ही व्याख्या करती है। अतः 14 गुणस्थानों के नामों के विषय में कोई भी मतभेद दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिगत नहीं होता है। इनमें क्रमपरिवर्तन भी असंभव ही है, क्योंकि प्रत्येक गुणस्थान अपने निश्चित योग्यताओं को पूर्ण करने वाले जीवों का अन्वेषण इस ही क्रम से संभव हो सकता है।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान

प्रथम गुणस्थान का पूर्ण नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची हैं। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान रूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।¹

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाला तत्त्वार्थ का अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यादृष्टि जीव नियम से उपदिष्ट यथार्थ प्रवचन का तो श्रद्धान नहीं करता परन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव (असत् पदार्थों) का श्रद्धान करता है।²

मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि की क्या अवस्था होती है। यह बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि -

मिच्छत्तरस पउत्तो जीवो विवरीय दंसणो होई।
ण मुणइ हियं च अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो।³

अर्थात् मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से यह जीव विपरीत दृष्टि हो जाता है और पित्तज्वर वाले पुरुष के समान अपने हित अहित हो नहीं जान सकता।

जिस प्रकार धतूरा, मद्य और कोदों की मधुरता के मोह से मोहित हुआ यह जीव कार्य अकार्य को नहीं जानता, अपना हित नहीं पहचानता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपना हित अहित वा कार्य अकार्य नहीं जान

¹ ध. 1/1, 1,9/162/2

² जी. का. गा. 16,18, ल. सा. गाथा 8, स. सि. 2/6/159, भ. आ. गा. 56, स. सा. ता. वृ. 88/144

³ भावसंग्रह गा. 13, गो. जी. का. गा. 17

सकता। विपरीत श्रद्धान होने के कारण वह अपने आत्मा का स्वरूप अथवा समस्त तत्त्वों का स्वरूप विपरीत ही समझता है और इसीलिए वह अपने आत्मा का अहित ही करता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय का एक मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है और सादि मिथ्यादृष्टि जीव के तीनों दर्शन मोहनीय के भेदों का उदय रहता है। इसका भी कारण यह है कि प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होने के समय ही मिथ्यात्वकर्म तीन भागों में बँट जाता है। अतः अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म के उदय से पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इन्हें तत्त्व कुतत्त्व का विवेक नहीं रहता। ऐसे जीव शरीर में ही आत्मा की भ्रान्ति बनाये रखते हैं। यह जीव की अधस्तम अवस्था है। संसार के बहुसंख्यक जीव इसी गुणस्थान में रहते हैं।

निज आत्मा के श्रद्धानरूप से विमुखता मिथ्यादर्शन है।

आचार्य ब्रह्मदेवसूरी ने भी मिथ्यात्व का स्वरूप प्रकट किया है- 'अन्तरंग में वीतराग निजात्मतत्त्व के अनुभवरूप रुचि में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न कराने वाला तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में जो विपरीत अभिप्राय उत्पन्न कराने वाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।'

इस स्वरूप में आचार्य ब्रह्मदेवसूरी ने अन्तरंग और बहिरंग का एक साथ संयोग दिखाकर अच्छा सामञ्जस्य स्थापित किया है।

मिथ्यादर्शन मूलतः एक ही प्रकार का है परन्तु विभिन्न निमित्त एवं अभिप्राय के कारण दो भेद वाला, तीन भेद वाला, पाँच भेद वाला अथवा जितने जीवों के परिणाम हैं, उतने ही अनेक भेदवाला भी हो सकता है। इन सभी भेदों के मध्य दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति का उदय ही अन्तरंग निमित्त है जो सभी मिथ्यादृष्टि जीवों में अनिवार्य रूप से होता ही है।

मिथ्यात्व के दो भेद¹ गृहीत व अगृहीत, मूढ एवं स्वभाव निरपेक्ष² तथा स्वस्थान मिथ्यात्व एवं सातिशय मिथ्यात्व होते हैं।

¹ स. सि. 8/1/375

² न. च. वृ. 303

मिथ्यादर्शन के तीन भेद संशय, अभिगृहीत और अनभिगृहीत¹ हैं एवं अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त के भेद से भी मिथ्यात्व तीन प्रकार का है। मिथ्यात्व के पाँच भेद एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान हैं।² जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने भी नयवाद हैं उतने ही परसमय होते हैं।³ इस वचन के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच ही भेद हैं, यह कोई नियम नहीं समझना चाहिये किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है यह कहना उपलक्षण मात्र समझना चाहिए। जैन वाङ्मय में 363 मिथ्यामत बताये गये हैं। अतः मिथ्यात्व के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामों की दृष्टि से असंख्यात और अणुभाग की दृष्टि से अनन्त भेद भी होते हैं।

अब यहाँ मिथ्यात्व के उन दो भेदों के स्वरूप का विवेचन करते हैं जिनका विवेचन आचार्य देवसेन स्वामी जो कि भावसंग्रह के रचयिता हैं, के द्वारा नहीं किया गया है, क्योंकि मिथ्यात्व के भेदों की श्रृंखला में इनका स्वरूप परिचय भी अपेक्षित महसूस होता है। इनमें से प्रथम अगृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप इस प्रकार है-

‘जो परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है वह अगृहीत अथवा नैसर्गिक मिथ्यात्व है तथा परोपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यात्व गृहीत अथवा अधिगमज मिथ्यात्व कहलाता है।’ गृहीत मिथ्यात्व के चार भेद हैं - क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। इनके भी प्रभेद इस प्रकार हैं -

क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस हैं। यह सब कुल 363 भेद हो जाते हैं। इन भेदों को आचार्य एकान्त मिथ्यात्व के अन्तर्गत भी स्वीकार करते हैं जो कि मिथ्यात्व के अन्य पाँच भेद जो विपरीत आदि हैं जिनका वर्णन आगे किया जायेगा, क्योंकि इन 363 मतों

¹ भ. आ. मू. 56/180, ध. 1/1,1,9 गा. 107/163

² बा. अ. भा. 48, स. सि. 8/1/375/3, रा. वा. 8/1/28, ध. 8/3, 6/2, गो. जी. का. गा. 15, त. सा. 5/3, द. सा. 5, द्र. सं. टी. 30/89, भा. सं. गा. 16

³ ध. 1/1,1,9 गा. 105, टीका 162/5

⁴ स. सि. 8/1, भ. आ. टीका 56/180/22, प. ध. उ. 1049-50, रा. वा. 8/1/7-8

में एकान्त रूप पक्ष को ग्रहण करके दुराग्रही हो जाते हैं। इसी कारण से यह मिथ्यात्व की कोटि में गणनीय हैं। एक पक्ष से देखा जाय तो इनका कथन बिल्कुल सही होता है परन्तु यह उसी एक पक्ष का आग्रह करते हैं इसीलिए ये सर्वमान्य नहीं हैं।

तदनन्तर मिथ्यात्व के विपरीत आदि जो पाँच भेद उल्लिखित किये गये हैं उनका स्वरूप व्यक्त करते हुए आचार्य लिखते हैं-

विपरीत मिथ्यात्व - जैसा वस्तुस्वरूप है उससे विपरीत मानना जैसे-सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, कवली को केवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय अर्थात् विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।¹ यहाँ पर विपरीत अभिप्राय से यह तात्पर्य है कि विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय या विपरीत कहा गया है। जैसे-सीप में चाँदी का ज्ञान करना। मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व स्वभाव को रोकने वाला निश्चय से मिथ्यात्व है और वह मिथ्यात्व द्रव्यकर्म रूप ही है। उसके उदय से जीव के मिथ्यात्व होता है।

यज्ञ करने वाले ब्राह्मण आदि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसा भावसंग्रहकार एवं गोम्मटसार जीवकाण्ड के कर्ता स्वीकार करते हैं।

एकान्त मिथ्यात्व - प्रतिपक्षी की अपेक्षा रहित वस्तु को सर्वथा एकरूप कहना एवं मानना एकान्त मिथ्यात्व कहलाता है। जैसे जीव सर्वथा अस्तिरूप ही है या सर्वथा नास्तिरूप ही है, सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा क्षणिक ही है। सर्वथा नियतिरूप मानना अथवा अनियति रूप ही मानना। परमतों का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से मिथ्या है।² इसी कथन को और पुष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि धर्म और धर्मों में एकान्त रूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यात्व कहलाता है। जैसे यह सब जग परब्रह्मरूप ही है।³ राजवार्तिककार आचार्य अकलंकस्वामी लिखते हैं कि एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है।⁴ इसी एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए सप्तभंगीतरंगिणी के लेखक आचार्य

¹ स. सि. 8/1/731, रा. वा. 8/1/289, त. सा. 5/6

² प्र. सा. टी. तत्त्वदीपिका 'परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा'।

³ स. सि. 8/1/731

⁴ रा. वा. 1/6/7/35/24

अपना मत प्रस्तुत करते हैं-पदार्थों के एक ही धर्म का निश्चय करके अन्य सम्पूर्ण धर्मों का निषेध करने में जो तत्पर है वह मिथ्या एकान्त कहा गया है।¹ एकान्त मिथ्यात्व में वह एकपक्षी हो जाता है और अनेकान्त का ज्ञान न होने के कारण स्वयं ही सबके परिहास का पात्र बनता है, क्योंकि जब भी वह एक पक्ष के आधार पर कथन किया करता है तो उसमें 'ही' का दुराग्रह भी सम्मिलित हो जाता है। इसी कारण से वह अन्त में स्ववचन बाधित हो जाता है। एकान्त मिथ्यात्व के अनेकों मतों का सम्यक् प्रकार से आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थ में खण्डन करके अनेकान्तवाद स्योद्धाद का मण्डन किया है। स्याद्वाद में अपेक्षा सहित कथन होने के कारण ही कभी भी दोष को प्राप्त नहीं होता है।

बौद्ध दर्शन का अनुसरण करने वालों को एकान्त मिथ्यादृष्टि कहा गया है आचार्य देवसेन स्वामी और आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी के द्वारा।

विनय मिथ्यात्व - इसका स्वरूप प्रकट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि 'सब देवताओं और सब मतों को एक समान मानना ही विनय मिथ्यात्व कहलाता है'² यहाँ आचार्य का यह अभिप्राय है कि 'चाहे सच्चा देव हो या मिथ्या देव हो, चाहे सच्चे मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करने वाले शास्त्र हों या इसी संसार सागर में और अधिक भ्रमण कराने वाले शास्त्र हों, उन सबकी वे एक समान विनय करते हैं इसीलिये वे विनय मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि वैनयिक मिथ्यादृष्टि तापसी होते हैं। वे अज्ञानी होते हैं और विवेक रहित होते हैं तथा निर्गुण लोगों की भी विनय किया करते हैं। जो लोग गुण-अवगुण को नहीं जानते, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को समझना चाहिये कि यदि विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तो उनको गधा, चाण्डाल आदि सबकी विनय करनी चाहिये परन्तु वे लोग उनकी विनय नहीं करते।³

संशय मिथ्यात्व - 'विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं'⁴ ऐसा न्यायदीपिकाकार का अभिप्राय है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष है। इसी स्वरूप

¹ स. भ. त. 73/11

² स. सि. 8/1

³ भा. सं. गाथा 73,74

⁴ न्यायदीपिका 1/9/9/5

को और पुष्टता प्रदान करते हुए आचार्य अकलंक स्वामी कहते हैं कि 'सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने पर और विशेष धर्म का प्रत्यक्ष न होने पर किन्तु उभय विशेषों का स्पर्श होना संशय कहलाता है।' 'यह शुक्ल है या कृष्ण' इत्यादि में विशेषता का निश्चय न होना संशय है।¹ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं या नहीं, इसप्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करना संशय मिथ्यात्व कहलाता है।² इसीप्रकार इसके स्वरूप को अन्य आचार्य अन्य प्रकार से परिभाषित करते हुए कहते हैं कि-जिसमें तर्कों का निश्चय नहीं है ऐसे संशय ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।³

इसी स्वरूप को आचार्य वीरसेन स्वामी अतिसंक्षेप में उल्लेख करते हुए लिखते हैं 'सर्वत्र सन्देह ही है निश्चय नहीं है, ऐसे अभिनिवेश को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।'⁴ भावसंग्रहकार ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्यादृष्टि माना है और आचार्य नेमिचन्द्र ने भी वे कहते हैं कि जिनके मन में यह संशय नियम से बना ही रहता है कि मोक्ष की प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्था से होती है अथवा सग्रन्थलिङ्ग से, इसलिये ये लोग वस्त्र, कम्बल आदि बहुत सा परिग्रह रखते हैं।⁵ उनको यह संशय बना रहता है कि जब गृहस्थ अवस्था से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थङ्कर आदि को राज्य और समस्त परिग्रह के त्याग करने की क्या आवश्यकता थी? और फिर त्याग ही किया तो फिर वस्त्र, दण्ड आदि क्यों धारण किये? हाथ में पात्र लेकर घर-घर भिक्षा क्यों माँगी? त्याग करके फिर ग्रहण क्यों किया? क्या रत्नवृष्टि भी घर-घर बरसी थी? इत्यादि अनेकों अवस्थाओं में उनके संशय बना रहता है। इसीलिए किसी भी निश्चित तथ्य का निर्णय नहीं कर पाने के कारण ही वे संशय मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

अज्ञानमिथ्यात्व - हिताहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञानिक मिथ्यात्व कहलाता है।⁶ धवलाकार इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं हैं, अतएव सब अज्ञान ही है, ज्ञान

1 रा. वा. 1/6/9/

2 स. सि. 8/1, रा. वा. 8/1/28, त. सा. 5/5

3 भ. आ. वि. 56/190/20

4 ध. 8/3, 6/20/8

5 भा. सं. गा. 85,90

6 स. सि. 8/1, रा. वा. 8/1/28

नहीं है, ऐसे अभिनिवेश को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।' इसी प्रकार तत्त्वार्थसार के प्रणेता अज्ञानिक की परिभाषा व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जिस मत में हित और अहित का बिल्कुल ही विवेचन नहीं है। 'पशुवध धर्म है' इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने का उपदेश है वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है।' भावसंग्रह के रचयिता एवं जीवकाण्डकार दोनों आचार्य मस्करीपूरण जिसको मंखलीगोशाल भी कहते हैं वह अज्ञानिक मिथ्यादृष्टि था ऐसा मानते हैं। मस्करी¹ भगवान् महावीर के समवसारण से बिना दिव्यध्वनि सुने ही बाहर आ गया था और हिताहित रूप विवेक ज्ञान प्रकट नहीं हो सका इसीलिये वह अज्ञानिक मिथ्यादृष्टि कहा गया है। वह सभी से कहता है कि देखो मैं ग्यारह अंगों का पाठी था, परन्तु भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि नहीं खिरी परन्तु इन्द्रभूति गौतम जो वेदों का ज्ञानी था और जैनागम का अज्ञानी था, उसके आते ही दिव्यध्वनि खिर गई। इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति अज्ञान से होती है ज्ञान से नहीं।

जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार के कारण विचार और विवेक शून्यता से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह अज्ञान मिथ्यात्व कहलाता है।

मिथ्यात्व की भेद सम्पत्ति अपार है, क्योंकि मिथ्यात्व को धारण करने वाले जीवों की संख्या भी शेष सभी गुणस्थानों के कुल योग से भी अनन्त गुणी है। एक इन्द्रिय जीव से लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय जीव तक सभी प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तर्गत आते हैं, और सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवों का भी बहुभाग मिथ्यादृष्टि ही है। गुणस्थान भावों को तथा कर्म के उदय को ही दृष्टि में रखता है। अतः बहिरंग क्रिया से जीव चाहे सभ्य, विवेकी, ज्ञानी, सदाचारी, सद्गृहस्थ या द्रव्यलिंगी मुनि ही क्यों न हो, यदि मिथ्यात्व कर्म का उदय है तो उसका प्रथम गुणस्थान ही माना जायेगा। यह अन्तरंग परिणामों का ही विश्लेषण करता है। जब तक प्रथम गुणस्थान में है, तब तक जीव मोक्षमार्गी नहीं कहा जाता। जैन आगम में इनके लिये अन्य भी निन्दापरक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। जैसे-पापश्रमण, राज्यसेवक, ज्ञानमूढ, इक्षुपुष्पसमनट श्रमण, पाप व तिर्यगालय भाजन चलशव, मोक्षमार्गभ्रष्ट, ज्ञानश्रुत एवं बालचरण, पापमोहितमति नारद,

1 ध. 8/3, 6/204

2 त. सा. 5/7/278

3 भा. स. गा. 162

तिर्यञ्च, तिर्यग्योगी, लौकिक, अभव्य, पापजीव, राजवल्लभ नौकर, मूढ, लोभी, क्रूर, डरपोक, मूर्ख और भवाभिनन्दी आदि उपर्युक्त निन्दापरक शब्द प्रथम गुणस्थान की हेयता को सिद्ध करते हैं।

इन शब्दों को कहकर आचार्य गुणस्थान से ऊपर उठने की प्रेरणा देना हितकर महसूस करना चाह रहे हैं। बाह्य से द्रव्यलिंग होने पर भी यदि अन्तरंग में मिथ्यात्व का उदय हो तो जीव अपना कल्याण करने में समर्थ नहीं हो सकते। यही जैन दार्शनिकों का अभिप्राय प्रतिभासित हो रहा है।

मिथ्यात्व गुणस्थान की विशेषताएँ

- ❖ मिथ्यात्व के दो भेद हैं—(i) गृहीत मिथ्यात्व (ii) अगृहीत मिथ्यात्व
- ❖ (i) स्वस्थान मिथ्यादृष्टि (ii) सातिशय मिथ्यादृष्टि
- ❖ (i) अनादि अनन्त मिथ्यादृष्टि (ii) अनादि सान्त मिथ्यादृष्टि (iii) सादि सान्त मिथ्यादृष्टि से तीन भेद हैं। इनका जघन्य काल अन्तर्मुहुर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण होता है।
- ❖ (i) एकान्त (ii) विपरीत (iii) विनय (iv) संशय (v) अज्ञान
- ❖ (i) क्रियावादी - 180 व्यवहाराभासी
(ii) अक्रियावादी - 84 निश्चयाभासी
(iii) वैनयिक - 32 समस्त देवों का आराधक
(iv) अज्ञानिक - 67 (गोम्मटसार जी) हिताहित विवेक से रहित
- ❖ एकेन्द्रिय से असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के पहला गुणस्थान ही होता है।
- ❖ किन्हीं आचार्यों के मत से उपरोक्त जीवों के निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में दूसरा गुणस्थान भी माना गया है।
- ❖ म्लेच्छ खण्ड में जन्मे हुए जीव (मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च) जब तक अपने क्षेत्र में रहते हैं तब तक उनके एक ही मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। (लब्धिसार जी)। नरक सम्बन्धी दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी पर्यन्त निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

- ❖ पहली पृथ्वी से लेकर छठवीं पृथ्वी तक जीव वहाँ से सम्यक्त्व के साथ भी निकल सकता है, परन्तु सातवें नरक का जीव मिथ्यात्व के साथ ही निकलता है।
- ❖ कर्मभूमिज तिर्यञ्चों में, कुभोग भूमियों में, भवनत्रिकों में, पाँचवें एवं छठवें काल में उत्पन्न होने वाले जीव, निर्वृत्यपर्याप्तक में उत्पन्न होने वाले जीव निर्वृत्यपर्याप्तक अवस्था में मिथ्यात्व सहित ही होते हैं। सौधर्म स्वर्ग से लेकर 9वें त्रैवेयक पर्यन्त कोई भी जीव मिथ्यात्व के साथ उत्पन्न हो सकता है।
- ❖ कर्मभूमि में जन्मे हुए मिथ्यादृष्टि मनुष्य 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त बाद ही सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होते हैं। सम्मूर्च्छन सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अन्तर्मुहूर्त बाद एवं गर्भज सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च यथायोग्य 2,3,4,6,8,10 आदि माह बाद सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य होते हैं।
- ❖ भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य तथा तिर्यञ्च क्रमशः 49 दिन, 35 दिन एवं 21 दिन बाद सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।
- ❖ मिथ्यादृष्टि इतर निगोदिया एवं नित्य निगोदिया जीव अनन्त हैं।
- ❖ इतरनिगोद में रहने वाले सादि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त हैं।
- ❖ जिस भव्य जीव ने त्रस पर्याय की प्राप्ति कर ली वह नियम से मोक्ष जायेगा ही जायेगा। इतर निगोद का जघन्यकाल क्षुद्रभव प्रमाण तथा उत्कृष्ट काल ढाई पुद्गल परावर्तन है। यह उत्कृष्ट काल अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा से है।
- ❖ सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा इतर निगोद का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन है।
- ❖ सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव जब अपूर्वकरण को प्राप्त होता है तब स्थितिकाण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण एवं स्थिति बंधापसरण ये पाँच कार्य करता है।

2. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

आसादन का अर्थ विराधना है। आसादन के साथ जो रहता है वह सासादन। आसादन सहित समीचीन दृष्टि है जिसके वह सासादन सम्यग्दृष्टि¹ है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व अथवा द्वितीयोपशम के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवली समय शेष रहने पर जीव सम्यक्त्व से गिरकर उतने मात्र काल के लिये जिस गुणस्थान को प्राप्त होता है, उसे सासादन कहते हैं। अगले ही क्षण वह मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त होता है। इस गुणस्थान को दृष्टान्त के माध्यम से समझाते हुए आचार्य लिखते हैं कि सम्यक्त्वरूपी रत्नगिरि के शिखर से च्युत होकर मिथ्यात्वरूपी भूमि के अभिमुख है और उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है वह सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान नामवाला जानना चाहिये।²

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि इस जीव को क्या कहा जायेगा? क्योंकि इसके मिथ्यात्व प्रकृति का उदय नहीं होने से वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है तो सम्यग्दृष्टि भी नहीं है और दोनों को विषय करने वाली सम्यग्मिथ्यात्व रूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त कोई चौथी दृष्टि होती नहीं है तो क्या कहा जायेगा? तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि पहले वह सम्यग्दृष्टि था, क्योंकि प्रथमोपशम से गिरकर ही सासादन गुणस्थान बनता है; इसलिये भूतपूर्व न्याय की अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है।³ इस अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय का उदय होता है और दर्शन मोह के उपशमन काल में अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव होने से सासादन⁴ की प्राप्ति का अभाव है। इसी प्रसंग में राजवार्तिककार कहते हैं कि मिथ्यात्व का उदय न होने पर भी इस जीव के तीनों मति, श्रुत, अवधिज्ञान अज्ञान कहे जाते हैं।⁵ इसी विषय का समर्थन करते हुए आचार्य वीरसेन

1 स. वा. 9/1/13, ध. 1/1,10/163/5

2 पं. सं. प्रा. 1/9/168, ध. 1/1, 1,10 मा. 108, 166, गो. जी. का. मा. 20, भा. स. मा. 197

3 ध. 1/1,1,10/166/1

4 ल. सा. जी. प्र. 99/136/16

5 स. वा. 9/1/131

स्वामी भी प्ररूपित करते हैं कि विपरीताभिनिवेश मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनों के निमित्त से होता है, इसीलिये सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय तो होता ही है तो वहाँ अज्ञान मानना संभव है।¹

प्रायः सर्वत्र इस गुणस्थान का नाम निर्देश करते समय 'सासन' शब्द का ही प्रयोग किया है, किन्तु अर्थ करते समय 'सासादन' शब्द को दृष्टि में रखा है। दोनों ही शब्द निरुक्ति सिद्ध हैं। असन का अर्थ होता है नीचे को गिरना और आसादन का अर्थ होता है विराधना, क्योंकि जीव मिथ्यात्व की तरफ नीचे को गिरता है और यह कार्य सम्यक्त्व की विराधना से होता है। अतएव दोनों ही अर्थ संगत हैं।

अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति है लेकिन यह सम्यक्त्व का भी घात करने का काम करती है। यह द्विस्वभावी कर्म प्रकृति है, सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की नाशक है। अतः दर्शन मोहनीय के उपशम काल में ही इनमें से किसी का भी उदय आ जाने से सम्यक्त्व तो नष्ट हो जाता है परन्तु मिथ्यात्वप्रकृति का उदय न होने से प्रथम गुणस्थान को प्राप्त नहीं हो पाता। यही कारण है कि प्रथम गुणस्थान में इस गुणस्थान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इसीलिये इस गुणस्थान का पृथक् निर्देश किया गया।

सासादन गुणस्थान की विशेषताएँ

- ❖ सासादन गुणस्थान अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से होता है।
- ❖ दर्शन मोहनीय की किसी भी प्रकृति का उदय न होने से इस गुणस्थान में पारिणामिक भाव बतलाया है। सासादन सम्यक्त्वी मरणकर अधोगति को प्राप्त नहीं होता है।
- ❖ एक जीव की अपेक्षा सासादन सम्यक्त्व का स्पर्शन 7 राजु है। इस गुणस्थान का जघन्य काल 1 समय एवं उत्कृष्ट काल 6 आवली प्रमाण है।
- ❖ नाना जीवों की अपेक्षा से इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण है।

¹ ध. 1/1,1 116/861/3

- ❖ इस गुणस्थान का उत्कृष्ट विरह काल पत्य का असंख्यातवां भाग प्रमाण एवं जघन्य विरह काल एक समय है।
- ❖ एक जीव की अपेक्षा इस गुणस्थान में नवीन आयुबंध, मारणान्तिक समुद्घात एवं मरण सम्भव है।
- ❖ इस गुणस्थान में मनुष्य गति का जीव मनुष्य एवं तिर्यञ्च आयु का ही बंध कर सकता है।
- ❖ सम्यग्दर्शन की आय का नष्ट होना आसादना है।
- ❖ प्रथमोपशम या द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं अन्य कोई नहीं।
- ❖ सासादन गुणस्थान गिरने की अपेक्षा से ही बनता है।
- ❖ विग्रहगति में दूसरा गुणस्थान बदलकर पहला हो सकता है।
- ❖ यतिवृषभाचार्यानुसार दूसरे गुणस्थान के प्रथम भाग में मरण करने वाला देवगति, द्वितीयभाग में मरण करने वाला जीव देवगति एवं मनुष्य गति, तृतीय भाग में मरण करने वाला जीव, देव, मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा चौथे भाग में मरण करने वाला जीव उपरोक्त तीन एवं विकलत्रय को प्राप्त होता है।
- ❖ इस गुणस्थान का जीव स्थावरों में जावे तो बादर पर्याप्तकों में पैदा होता है।

3. मिश्र गुणस्थान

इस गुणस्थान का अपर नाम सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान है। अर्थात् जहाँ पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के मिश्र परिणाम होते हैं, इसीलिये इसको मिश्र गुणस्थान नाम दिया गया है।

इस गुणस्थान का स्वरूप व्यक्त करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार अच्छी तरह मिला हुआ दही और गुड़ पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित भाव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान जानना चाहिए।¹ इसी

¹ पं. सं. 1/10,169, ध. 1/1, 12 गा. 109, गो. जी. का. गा. 22, ल. सा. 107/145

विषय को और अधिक व्याख्यायित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले भेदों के उपभोग से जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है, उसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धान और अश्रद्धान रूप मिला हुआ परिणाम होता है। यही तीसरा सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है।¹ इसी विषय को भावसंग्रहकार आचार्य देवसेन स्वामी भिन्न दृष्टान्त को देते हुए स्वरूप प्रकट करते हैं कि जिस प्रकार खच्चर जाति का गधा घोड़ी और गधा इन दोनों से उत्पन्न होने वाला एक तीसरी जाति का जीव होता है। उसी प्रकार तीसरे मिश्र गुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों से मिले हुए एक तीसरी जाति के परिणाम होते हैं। इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो गृहस्थों का एकदेश संयम धारण कर सकता है और न सकल संयम धारण कर सकता है।²

दर्शन मोहनीय की सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से ही इस गुणस्थान के योग्य परिणाम बनते हैं। यह प्रकृति जात्यन्तर सर्वघाति प्रकृति है।³ अर्थात् यह सत्ता में तो सर्वघाती होती है, परन्तु उदय के समय देशघाती रूप फल देती है। यही कारण है कि श्रद्धान के साथ अश्रद्धान एक साथ रह जाता है।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि परस्पर विरोधी भाव एक साथ कैसे पाये जा सकते हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि मित्रामित्र न्याय से दोनों भावों का एक साथ होना सम्भव है। जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्य में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और चैत्र की अपेक्षा अमित्रपना है। ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं आता है। उसी प्रकार सर्वज्ञदेव द्वारा निरूपित पदार्थ के स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीन और सर्वज्ञाभासकथित अतत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं। इनमें कोई भी विरोधादि दोष प्रकटित नहीं होते हैं।

इस गुणस्थान को समझाने के लिये जैनागम में दही और गुड़ के मिश्रण से तीसरा ही स्वाद उत्पन्न होने वाला सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ मिश्र स्वाद

1 रा. वा. 9/1/14, द्र. सं. टी. 13/33/2

2 भावसंग्रह गा. 199

3 गो. जी. का. गा. 21

(खट्टा-मीठा) न तो दही का है, न ही गुड़ का परन्तु इनके मिश्रण से तीसरा स्वाद उत्पन्न होता है, जिसे हम खट्टा या मीठा नहीं कह सकते हैं। ठीक इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जो मिश्र रूप भाव होते हैं, उनका अन्तर्भाव न मिथ्यात्व में किया जा सकता है, न ही सम्यक्त्व में। अतः इस गुणस्थान की सत्ता पृथक् रूप से सिद्ध होती है।

सम्यग्मिथ्यात्व में जो मिश्ररूप श्रद्धान है, वह संशय मिथ्यात्व या विनय मिथ्यात्व से सर्वथा भिन्न है। वैनयिक तथा संशय मिथ्यात्व में तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक भी भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा, ऐसा मानकर संशयरूप से भक्ति करता रहता है, उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है। परन्तु मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के दोनों में निश्चय होता है। अतः सम्यग्मिथ्यात्व का अन्तर्भाव संशय या वैनयिक मिथ्यात्व में नहीं किया जा सकता है।¹

मिश्र गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ इस गुणस्थान में जीव को तत्त्वों के प्रति श्रद्धान एवं अश्रद्धान युगपत् प्रकट होता है।
- ❖ पूर्व स्वीकृत देवताओं का त्याग किये बिना अरिहंत भी देव हैं, ऐसी मान्यता यहाँ बनती है।
- ❖ जात्यन्तर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का यहाँ उदय होता है।
- ❖ मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव ऊपर चौथे गुणस्थान को तथा गिरने की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति स्तिवुक संक्रमण के द्वारा सम्यग्मिथ्यात्व रूप फल देती है।
- ❖ इस गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध एवं मरण नहीं होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में कार्मण काय योग, गत्यानुपूर्वी, विग्रहगति, तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता, मारणान्तिक समुद्घात ये सब नहीं होती हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक एवं अपर्याप्तक अवस्था भी नहीं होती है।

¹ द्र. सं. टी. 13/33/4

- ❖ इस गुणस्थान का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।
- ❖ मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता वाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव इस गुणस्थान को प्राप्त करता है।
- ❖ चौथे, पञ्चम एवं छठवें गुणस्थानवर्ती औपशमिक एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव के मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है।
- ❖ मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति दोनों का अंश होने के कारण सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को उदय की अपेक्षा देशघाती तथा सत्ता की अपेक्षा सर्वघाती कहा है, इसी विवक्षा से इसमें क्षायोपशमिक भाव है।
- ❖ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव एवं सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना करने वाला सादि मिथ्यादृष्टि जीव इसको प्राप्त नहीं होता है।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम 'असंजद सम्माइट्ठी' अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि है।¹ संयम विहित सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। जीव इस गुणस्थान में दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव हो जाने से यद्यपि सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं किन्तु चारित्र मोह के उदयवश संयम अङ्गीकार नहीं कर पाते हैं, फिर भी दृष्टि में समीचीनता आ जाने के कारण सम्यग्दृष्टि के सभी आवश्यक गुण उनमें प्रकट हो जाते हैं।

इस गुणस्थान में प्रयुक्त 'अविरति' का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि 'निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है।'² इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य ब्रह्मदेव सूरी लिखते हैं कि अन्तरंग में निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्यविषय में व्रत आदिक को धारण न करना सो अविरति है।³ इसमें यह 'अविरति' पद संयमाभाव का वाचक है तथा अन्तदीपक है अर्थात् यह पद सूचित करता है कि इस

1 भावसंग्रह गा. 259

2 स. सा. ता. चू. गा. 88

3 द्र. सं. टीका गा. 30

गुणस्थान तक के सभी गुणस्थान असंयम भाव से युक्त होते हैं। चारित्र मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का उदय होने से दोनों प्रकार के संयम से रहित जीव की अवस्था ही असंयम है।

इसमें प्रयुक्त होने वाला द्वितीय पद 'सम्यक्' है जिसको व्याख्यायित करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढ़िक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है। सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इस प्रकार होती है। इसका अर्थ प्रशंसा है।¹ इसी पद को और भी अधिक प्रकाशित करते हुए राजवार्तिककार आचार्य अकलंकस्वामी लिखते हैं कि सम्यक् यह प्रशंसा सार्थक शब्द है। यह प्रशस्त रूप, गति, जाति, आयु, विज्ञानादि अभ्युदय और निःश्रेयस का प्रधान कारण होता है। यहाँ कोई शंका करता है कि सम्यक् शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है, अतः इसका प्रशंसार्थ उचित नहीं है। इसका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि निपात शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं अथवा सम्यक् का अर्थ तत्त्व भी किया जा सकता है अथवा यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है वैसा ही जानने वाला।²

इस गुणस्थान के नाम में जो अन्तिम पद 'दर्शन' है उसके स्वरूप को प्रकट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि दर्शन शब्द 'दृश्' देखना धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर बना है। अब दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना मात्र दर्शन कहलाता है।³ इसी विषय को और भी अधिक आलोकित करते हुए राजवार्तिककार कहते हैं कि जिससे देखा जाय वह दर्शन है। एवंभूतनाय की अपेक्षा दर्शन पर्याय से परिणत आत्मा ही दर्शन है। जो देखता है वह दर्शन है, देखना मात्र ही दर्शन है।⁴ दर्शन को सामान्य अवलोकन मात्र रूप में भी स्वीकार किया है। ऐसा ही आचार्य

1 स. सि. 1/1/5

2 स. वा. 1/2/1

3 स. सि. 1/1/6, ध. 1/1,1,4/145

4 स. वा. 1/1/5

नेमिचन्द्रस्वामी भी अपने भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के आकार विशेष को ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूप से अंश का या स्वरूप मात्र का सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।¹ आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि उत्तरज्ञान की उत्पत्ति के निमित्तभूत प्रयत्नविशिष्ट स्वसंवेदन दर्शन माना है।²

दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप्त या आत्मा में आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं।³ श्रद्धा को ही विषय करके दर्शन का अर्थ बताते हुए प्रवचनसार के टीकाकार आचार्य लिखते हैं कि तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणरूप दर्शन से शुद्ध हुआ दर्शनशुद्ध कहलाता है। दर्शन शब्द से निजशुद्धात्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये।⁴

सम्यग्दर्शन के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जीवादि नव पदार्थों को ही सम्यक्त्व कहा है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अन्य प्रकार से भी परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि-

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।

णिगगंथे पच्चयणे सददहणं होइ सम्पत्तां।⁵

इसमें आचार्य का आशय है कि हिंसा से रहित धर्म में, अट्ठारह दोषों से रहित स्व अर्थात् आप्त में, निर्ग्रन्थ श्रमण के प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसी गाथा को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी भावसंग्रह में ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन स्वामी पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का गहरा प्रभाव था। इस गाथा का एक-एक शब्द पूर्णरूप से मोक्षपाहुड की गाथा से मेल करता है। अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के एक-एक शब्द को अक्षरशः ग्रहण किया है।

1 द्र. सं. गा. 43

2 ध. 3/1,2,161/457

3 ध. 6/1, 9,1,21/138

4 प्र. सा. ता. वृ. 240/333/15

5 मोक्षपाहुड गा. 90, भावसंग्रह गा. 262

सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं कि जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है, इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है वह सम्यग्दर्शन है।¹ सबसे प्रचलित परिभाषा को व्यक्त करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि सात तत्त्वों के अर्थ का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।²

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की ही परिभाषा का आधार लेते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि परमार्थ भूत देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढताओं से रहित आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।³ इसी प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।⁴ इन सब परिभाषाओं को और भी अधिक परिष्कृत करके आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सात तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोषों से रहित जो अति निर्मल श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है।⁵

सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रकट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यग्दर्शन है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है।⁶ इसी प्रकार से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि सूत्र (जिनेन्द्र देव के वचन) में कही गई युक्ति के द्वारा जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यग्दर्शन कहा है।⁷ आचार्य देवसेन स्वामी ने भावसंग्रह एवं आराधनासार दोनों ग्रन्थों में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया है परन्तु दोनों में थोड़ा सा अन्तर दिखाई पड़ता है। फिर भी दोनों ही परिभाषाओं को अच्छी प्रकार से देखने पर दोनों में भावों की अपेक्षा समानता ही प्रतीत होती है और दोनों ग्रन्थों में शैली परिवर्तन भी एक मुख्य कारण हो सकता है कि ऐसे शब्दों में अन्तर दिखाई पड़ता है।

1 मूलाचार पंचाचाराधिकार गा. 265

2 त. सू. 1/2

3 र. श्रा. श्लोक 4

4 गो. जी. का. गा. 561

5 व. श्रा. गा. 6

6 द्र. सं. गा. 41

7 आराधनासार गा. 4

इस गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है तथा स्वयं जो विषय नहीं जानता है वह विषय गुरु की सहायता से जानकर उस पर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दर्शन है।¹ ये सभी परिभाषायें भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रसंगों को दृष्टि में रखकर रची गई हैं। यही कारण है कि इनमें शाब्दिक असमानता प्रायः झलकती है परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा समानता होने से इसमें मतभेद का अभाव ही परिलक्षित होता है। सभी आचार्यों का अभिप्राय जीव को जिनशासन का श्रद्धानी बनाकर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करने का ही है। जो विषय वह सही प्रकार से नहीं जानता है तो भी उसको वह आचार्य या अरिहन्त देव द्वारा कहा गया मानकर उस पर सच्ची श्रद्धा रखता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि रहता है परन्तु यदि कोई उसको समीचीन सूत्र आदि के द्वारा समझता है और नहीं स्वीकार करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।²

सम्यग्दर्शन के गुण

तीर्थङ्करों एवं आचार्यों ने जिन तत्त्वों का स्वरूप प्ररूपित किया है उन तत्त्वों का श्रद्धान करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक में विरले ही होते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव अन्य मनुष्यों से कुछ विशेषताओं को धारण किये हुए होते हैं जिनको ज्ञानीजन गुण की उपमा देते हैं। ऐसे अनेकों गुण सम्यग्दृष्टि जीवों को सबसे पृथक् स्थापित करते हैं। उन अनेकों गुणों में से आचार्यों ने कुछ मुख्य गुणों को अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। आचार्य चामुण्डराय ने सम्यग्दृष्टि के गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है - संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य ये आठ गुण सम्यग्दृष्टि जीव के होते हैं।³ यही आठ गुण भावसंग्रहकार आचार्य देवसेन स्वामी ने भी स्वीकार किये हैं। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जो सराग सम्यग्दृष्टि है उसके तो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य होते हैं और वीतराग सम्यग्दृष्टि की समस्त प्रकार से आत्मा की शुद्धिमात्र है।⁴ महापुराणकार आचार्य जिनसेन स्वामी भिन्न प्रकार के गुणों को व्यक्त करते

1 गो. जी. का. गा. 27

2 गो. जी. गा. 28

3 चा. सा. 6/2, व. श्रा. गा. 49, भा. सं. गा. 263, ध. 30/465

4 ज्ञानार्णव 6/7

हुए लिखते हैं संवेग, प्रशम, स्थिरता, आमूढता, गर्व न करना, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये सात सम्यग्दर्शन की भावनायें जानने योग्य हैं।' इन आठ आदि गुणों में एक विशेषता यह स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों को प्रत्येक आचार्य ने अवश्य ही स्वीकार किये हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ ये चारों गुण विद्यमान होंगे वहाँ उस जीव में सम्यग्दर्शन तो पाया ही जायेगा। इन चारों गुणों के मानने में किसी भी आचार्य में कोई भी मतभेद नहीं है। इन्हीं चारों का स्वरूप संक्षेप से व्यक्त करते हुए आचार्य लिखते हैं कि -

प्रशम - पञ्चेन्द्रियों के विषयों में और अत्यधिक तीव्रभाव रूप क्रोधादिक कषायों में स्वरूप से शिथिल मन का होना ही प्रशम भाव कहलाता है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों पर कभी भी उनके वधादि रूप विकार के लिये बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव कहलाता है। प्रशम भाव की उत्पत्ति में निश्चय से अनन्तानुबन्धी कषायों का उदयाभाव और अप्रत्याख्यानादि कषायों का मन्द उदय कारण है।¹

सम्यग्दर्शन का अविनाभावी प्रशम भाव सम्यग्दृष्टि का परम गुण है। जो प्रशम भाव का झूठा अहंकार करते रहते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रशमाभास होता है।

संवेग - संसार के दुःखों से भयभीत होना तथा धर्म में अनुराग होना संवेग कहलाता है।² इसी परिभाषा का और परिष्कार करके आचार्य ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं कि धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग कहलाता है।³ ध्वलाकार कहते हैं कि हर्ष और सात्त्विक भाव का नाम संवेग है। लब्धि में संवेग की सम्पन्नता का अर्थ सम्प्राप्ति है।⁴ पं. राजमल जी अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि - धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का जो परम उत्साह होता है वह संवेग कहलाता है, अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पञ्चपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।⁵

1 म. पु. 21/97

2 पं. ध./उ. 426-428, द. पा. 2

3 भ. आ. 35/127, स. सि. 6/24, रा. वा. 6/24/5, चा. सा. 53/5, भा. पा. टी. 77

4 द्र. सं. टी. 35

5 ध. 8/3, 41/86/3

6 पं. ध. उ. 431

यह संवेग तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध कराने वाली 16 भावनाओं में से भी एक है। आचार्य कहते हैं कि - दर्शन विशुद्धि के साथ यदि एक संवेग भाव ही रहे तो उससे भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

अनुकम्पा - अनुकम्पा दया का ही दूसरा नाम है। कोई भी धर्महीन अथवा दुःखित व्यक्ति है उसकी समस्या का उचित तरीके से समाधान अथवा सहायता करना ही अनुकम्पा है। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी अनुकम्पा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि - प्यासे को या भूखे को या दुःखित किसी भी प्राणी को देखकर जो स्पष्टतः दुःखित मन होकर दया परिणाम के द्वारा उनकी सेवादि को स्वीकार करता है, उस पुरुष के प्रत्यक्षीभूत शुभोपयोगरूप यह दया अथवा अनुकम्पा कहलाती है।¹ अनुकम्पा के स्वरूप को और अधिक गहराई से व्यक्त करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं।² पं. राजमल्ल जी ने सभी संसार के प्राणियों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थ भाव और शल्यरहित वृत्ति को अनुकम्पा माना है।³ आचार्यों का अनुकम्पा के अर्थ से तात्पर्य समझ में यह आता है कि किसी भी प्रकार से की गई कृपा अथवा दया अनुकम्पा है जो उस प्रकार के दुःख से दुःखित है। आचार्यों ने तो माध्यस्थभाव को भी अनुकम्पा में ग्रहण कर लिया है। सभी आचार्य अनुकम्पा को एक अपेक्षा से वात्सल्य का ही एक रूप कहना चाहते हैं। जिस प्रकार वात्सल्य में किसी भी प्रकार की स्वार्थबुद्धि से विलग होकर बस कृपापात्र प्राणी पर दया करता ही है उसी को ही आचार्य अनुकम्पा स्वीकार कर रहे हैं। भगवती आराधना में आचार्य महाराज ने तो अनुकम्पा के तीन भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं - धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा।⁴ अब इन तीनों के स्वरूप को संक्षेप से आचार्य व्यक्त करते हैं-

1. धर्मानुकम्पा - जिनके असंयम का त्याग है, मान-अपमान आदि अवस्थाओं में समान हैं, जो वैराग्य से युक्त होते हैं, क्षमादि दसों धर्मों में तत्पर रहते हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ संयमी

1 पं. का. 137, प्र. सा. ता. वृ. 268

2 स. सि. 6/12

3 पं. ध. उ. 449

4 भ. आ. वि. 1834/1643/3

मुनियों के ऊपर दया करना धर्मानुकम्पा कहलाती है। यह अन्तःकरण में जब उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थजन यति-मुनियों को आहारादि दान देता है, उनके ऊपर आये हुए उपसर्ग, परीषहों को बिना शक्ति छिपाये दूर करता है और उनका संयोग पाकर अपने आप को धन्य मानता है और उनके मार्ग का अनुकरण करने का पूर्ण प्रयास करता है वही धर्मानुकम्पा कहलाती है।

2. मिश्रानुकम्पा - जो हिंसादिक पापों से विरत होकर अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों का अच्छी प्रकार से पालन करता है, पापों में भीरुता, संतोष और वैराग्य में तत्पर रहकर सामायिक-उपवासादि को करते हुए वैराग्य मार्ग में आगे बढ़ने के प्रयास में सदैव तत्पर रहते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात् श्रावकों पर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो जीवों पर दया करते हैं परन्तु दया का पूर्ण स्वरूप नहीं जानते हैं, जो जिनसूत्रों को नहीं जानते, अन्य पाखण्डी गुरु की उपासना करते हैं, पञ्चाग्नि आदि तप तपते हैं, ऐसे जीवों के ऊपर कृपा करना भी मिश्रानुकम्पा है। गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म, दोनों के ऊपर दया करने को मिश्रानुकम्पा कहते हैं।

3. सर्वानुकम्पा - सम्यग्दृष्टिजन और मिथ्यादृष्टिजन दोनों भी स्वभाव से मृदुता को धारण करते हुए जो संसार के समस्त प्राणियों के ऊपर दया करते हैं तो उसको सर्वानुकम्पा कहते हैं। क्षत-विक्षत, जखमी, अपराधी, निरपराधी और एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों का परस्पर में घात-विघात करने से जो दृश्य देखकर दया उत्पन्न होती है उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

आस्तिक्य - सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर समीचीन रूप से श्रद्धा करना ही आस्तिक्य है। आचार्य इसका स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि सर्वज्ञ वीतरागी आप्त देव के द्वारा कहे गये जीवादिक तत्त्वों में रुचि होने को आस्तिक्य कहते हैं।¹ पञ्चाध्यायी के प्रणेता पं. जी भी अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि - नव पदार्थों के सद्भाव में, धर्म में, धर्म के हेतु में और धर्म के फल में निश्चय रखना ही आस्तिक्य गुण कहलाता है।² पं. टोडरमल जी जो कि अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हैं गोम्मटसार की टीका में

¹ न्यायदीपिका 3/56/9

² पं. ध. उ. 452

अपने विचार व्यक्त करते हैं कि - जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ देव में, ब्रतों में, शास्त्रों में, तत्त्वों में, ये ऐसे ही हैं' ऐसे अस्तित्व भाव से युक्त चित्त हो तो उसे आस्तिक्य भाव से युक्त कहा जाता है।

इस प्रकार ये चार गुण सम्यग्दृष्टि जीव में नियम से पाये ही जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के अन्तस् में ये गुण स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन के अङ्ग

जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के उपर्युक्त चार गुण बताये गये हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन को और अधिक विशुद्ध बनाने में आठों अङ्गों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रत्येक आचार्य ने सम्यग्दर्शन के आठ ही अङ्ग स्वीकार किये हैं। इनकी संख्या में किसी भी आचार्य में कोई भी मतभेद नहीं है। उन आठ अङ्गों के नामों का उल्लेख करते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं-

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदगिच्छा अमूढदिट्ठी या

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठा¹

अर्थात् निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के अङ्ग जानने चाहिये। इन आठों का विशेष वर्णन आचार्यों ने बहुत अच्छी प्रकार से किया है जिनमें आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी और आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी आदि मुख्यता से अङ्गों के वर्णन करने में प्रसिद्ध हुए हैं। इन अङ्गों की विशेषता बताते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने तो यहाँ तक लिख दिया कि जैसे एक अक्षर से भी कम अशुद्ध मन्त्र सर्प के विष को दूर नहीं कर सकता है उसी प्रकार एक अङ्ग से भी कम सम्यग्दर्शन संसार-परम्परा का नाश करने में असमर्थ होता है।² आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने अपने ग्रन्थ रत्नकरण्डक श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का सबसे अच्छा वर्णन किया है। उन्होंने 45 श्लोकों का पूरा एक अधिकार ही सम्यग्दर्शन का वर्णन करने में लिख दिया। सम्यग्दर्शन वह अंक है जो कई शून्य के

1 गो. जी. का/जी. प्र. 561

2 मू. गा. 201, स. सि. 6/24, रा. वा. 6/24/1, व. श्रा. 48, प. ध. उ. 479-480

3 र. श्रा. श्लोक 21

पहले लग जाये तो उन शून्यों की कीमत बढ़ जाती है। यदि कई शून्य भी हों अगर कोई अंक उससे पहले न हो तो उन शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना कितना भी ज्ञान हो और कितना भी चारित्र पालन किया जाय फिर भी वह मिथ्या ही कहलायेगा। जिस प्रकार अंक हीन शून्यों का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र का भी कोई मूल्य नहीं होता है। सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन कोई भी शब्दों से नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन की महिमा शब्दातीत है। इन आठों अंगों के नाम और स्वरूप में किसी भी आचार्य में मतभेद नहीं है। अतः उनका वर्णन यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

सम्यग्दर्शन के भेद

सामान्यतया देखा जाय तो सम्यग्दर्शन सबको समानरूप से संसार सन्तति को नष्ट करने का एक हेतु है। इस अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का होता है। फिर भी आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के अपेक्षा से भिन्न-भिन्न भेद प्रकट/प्रदर्शित किये हैं। कोई आचार्य दो भेद स्वीकार करते हैं तो कोई आचार्य तीन भेद और कोई आचार्य दस भेद भी स्वीकार करते हैं। सम्यग्दर्शन के दो भेदों में भी आचार्यों में मान्यतायें भिन्न-भिन्न हैं। कोई आचार्य दो भेदों में निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व,¹ कोई आचार्य सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व, कोई आचार्य निसर्गज और अधिगमज एवं कोई आचार्य गृहीत और अगृहीत सम्यक्त्व को स्वीकार करते हैं। व्यवहार और निश्चय एवं सराग और वीतराग इन सम्यक्त्व में कथञ्चित् समानता को आचार्यों ने प्रदर्शित किया है और इसी तरह अधिगमज और निसर्गज एवं गृहीत और अगृहीत इनमें भी स्वरूप की अपेक्षा कोई भी भेद आचार्यों ने व्यक्त नहीं किया है। उनमें से व्यवहार सम्यग्दर्शन के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - हिंसा आदि से रहित धर्म, अट्टारह दोषों से रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग एवं गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन कहलाता है।² इसी प्रकार शब्दशैली में परिवर्तन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व ये जिन वचन में कहे गये हैं। इनके स्वरूप का जो

1 र. सा. गा. 4

2 मो. पा. गाथा 90, का. अ. गा. 317, ति. सा. गा. 5, र. क. श्रा. श्लोक 4

श्रद्धान करना है वह व्यवहार सम्यक्त्व है।' इसी प्रकार की परिभाषाओं में आचार्य
उमास्वामी ने लिखा कि - तत्त्वों के अर्थ का जैसा स्वरूप बताया है वैसा का वैसा
श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।¹

यहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताने में लगभग सभी आचार्य सामान्य से
शब्द परिवर्तन के साथ समान मत को प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि प्रत्येक आचार्य देव,
शास्त्र, गुरु, तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ आदि पर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन स्वीकार करते हैं।
यहाँ पर सम्यक्त्व लक्ष्य है और आप्त, आगम और पदार्थादि का श्रद्धान करना लक्षण है।

अब निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - आप्त,
आगम, सात तत्त्व, नौ पदार्थ इनमें से सिर्फ आत्मतत्त्व के स्वरूप का जैसा का तैसा
श्रद्धान करना ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। आचार्य निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप
प्ररूपित करते हुए कहते हैं कि - ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों की यथारूप प्रतीति निश्चय
सम्यक्त्व का लक्षण है।² इसमें ज्ञेय भी आत्मा है और ज्ञाता भी आत्मा है, ऐसे ही जहाँ
दोनों एक हो जाते हैं ऐसी प्रतीति अर्थात् रुचि, विश्वास होता है वही निश्चय सम्यग्दर्शन
कहलाता है। इसी प्रकार का स्वरूप जयसेन स्वामी लिखते हैं कि - उन भूतार्थरूप से
जाने गये जीवादि नौ पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्न करके सम्यक् अवलोकन करना
निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है।³

यहाँ आचार्य महाराज सम्यक्त्व को दो भागों में विभक्त नहीं कर रहे हैं अपितु
वे तो सर्वप्रथम नव पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व रूप कहकर उसको और
अन्तरंग में जाने की प्रेरणा दे रहे हैं। नव पदार्थों में भी मुख्य रूप से परम उपादेय जीव
पदार्थ ही है। जो नव पदार्थों के स्वरूप से अच्छी तरह से परिचित है क्या वह जीव
पदार्थ से परिचित नहीं होगा? अवश्य ही होगा। इन नव में से एक जीव पदार्थ पर
अपनी श्रद्धा केन्द्रित कर लेना ही निश्चय सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा ही

1 द. पा. गा. 19, पं. सं. प्रा. 1/59, ध. 1/1,1,1,4/गा. 96, गो. जी. 561 पं. का. ता. वृ. 107/169,
स. सा. वृ. 155/220, पु. सि. उ. 22

2 त. सू. 1/2

3 प्र. सा. त. प्र. 242

4 स. सा. / ता. वृ. 155

निश्चय सम्यक्त्व तक पहुँचा जाता है। व्यवहार सम्यक्त्व सीढ़ियों के समान साधन है और निश्चय सम्यक्त्व छत पर पहुँचने के समान साध्यरूप है। व्यवहार सम्यक्त्व, निश्चय सम्यक्त्व का साधक है।

सराग सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व

कई आचार्यों ने सम्यक्त्व के दो भेद रूप में सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व को स्वीकार किया है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है।¹ भगवती आराधनाकार आचार्य दोनों का स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि - प्रशस्तगराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व कहा गया है।² कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि औपशमिक और क्षपयोपशमिक सम्यक्त्व तो सरागसम्यक्त्व हैं और क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।³ आचार्यों ने सराग सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व में समानता स्वीकार की है। आचार्य कहते हैं कि - शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व व्यवहार जानना चाहिये और वीतराग चारित्र के बिना नहीं होने वाला वीतराग सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए।⁴ इसी प्रसंग को परमात्मप्रकाश ग्रन्थ टीकाकार प्रस्तुत करते हैं कि प्रशम संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति सराग सम्यक्त्व का लक्षण है, वह ही व्यवहार सम्यक्त्व है और निज शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला और वीतराग चारित्र का अविनाभावी है वही वीतराग सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है।⁵

¹ स. सि. 1/2/10, स. वा. 1/2/29, श्लो. वा. 2/1/2 श्लोक 12/29, अन. ध. 2/51, गो. जी. का. 561, अ. ग. श्रा. 2/65-66

² भ. आ. वि. 51/175/18

³ स. वा. 1/2/31, अ. ग. श्रा. 2/65-66

⁴ द्र. सं. टी. 41

⁵ प. प्र. टी. 2/17

जब तक सम्यग्दृष्टि के स्वाध्याय, सामायिकादि की क्रियाओं में राग परिणति रहेगी तब तक उसके प्रशस्त राग होने के कारण सराग सम्यक्त्व की संज्ञा प्रदान की गई है। जहाँ किञ्चित् मात्र भी राग का अंश है वह सराग ही तो कहलायेगा। जहाँ राग के समस्त निमित्तों का त्याग करके मात्र शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप चिन्तन में ही जो रत रहेगा वह वीतराग सम्यक्त्व सहित कहलायेगा, क्योंकि राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त, राग तो राग है। इसीलिए 10वें गुणस्थान तक के जीव को सराग सम्यक्त्वी और उससे ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग सम्यक्त्व कहा गया है।

अधिगमज और निसर्गज अथवा गृहीत और अगृहीत सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन के दो भेद अधिगमज और निसर्गज लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकार किये हैं। तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी ने प्रथम अध्याय में ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताकर उसके भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि - वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। एक अधिगमज और दूसरा निसर्गज।¹ इन दोनों का स्वरूप बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि - दर्शन मोहनीय का उपशम-क्षय-क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से युक्त होकर जो बाह्य उपदेशपूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है, वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है और अन्तरंग कारणों की समानता लिये हुए जो बाह्य उपदेश के बिना स्वभाव से जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है।² इसी प्रसंग में आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं कि - जिस प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम दोनों से होता है उसी प्रकार क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व भी दोनों प्रकार से होते हुए भले प्रकार प्रतीत होते हैं।³

सम्यक्त्व के तीन भेद

इस प्रकार से दो भेदों को अतिरिक्त अन्तरंग हेतु के रूप में कर्म प्रकृतियों के उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने की अपेक्षा सभी आचार्यों ने सम्यक्त्व के तीन भेदों का भी उल्लेख किया है, जो कि औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक

¹ त. सू. 1/3, भा. सं. गा. 264, अन. ध. 2/47

² स. सि. 1/3/15

³ श्लो. वा. 2/1/3

सम्यक्त्व के नाम से जनमानस में चिर-परिचित हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने भी भावसंग्रह ग्रन्थ में दो और तीन सम्यक्त्व के भेदों को स्वीकार किया है।¹

1. औपशमिक सम्यक्त्व

औपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप विवेचित करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से जो श्रद्धान् प्रकट होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।² इसी लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि - दर्शन मोहनीय के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान् होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है।³ आचार्य कहते हैं कि यह भी क्षायिक सम्यक्त्व से कुछ कम नहीं है। पञ्चसंग्रह में आचार्य प्ररूपित करते हैं कि इसके होने पर जीव के समीचीन देव में अनन्य भक्ति-भाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान् और अनेक प्रकार के मिथ्यामतों से किञ्चित् भी प्रभावित नहीं होता है।⁴ औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि - औपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त हैं।⁵ औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल पल्योपम का असंख्यातवां भाग है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।⁶ आचार्य पुष्यदन्त और भूतबलि स्वामी लिखते हैं कि - उपशम सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।⁷

-
- 1 भा. स. गा. 265
 - 2 स. सि. 2/3, भा. सं. गा. 266
 - 3 ध. 1/1,1,1/144 गा. 216, गो. जी. का. गा. 26,650
 - 4 पं. सं. प्रा. 1/165
 - 5 स. सि. 1/7/30
 - 6 स. सि. 1/8
 - 7 षट्खण्डागम 1/1,1 सू. 147

आचार्य कहते हैं कि कोई भी अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव हो वह सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है इसीलिए आचार्यों ने इसको 'प्रथमोपशम' के नाम से भी पुकारा है। कोई भी मिथ्यादृष्टि हो चाहे वह अनादि मिथ्यादृष्टि हो या सादि मिथ्यादृष्टि हो वह जब भी उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा वह प्रथमोपशम ही कहलायेगा, चाहे वह कितने भी बार प्राप्त क्यों न करे। अनादि मिथ्यादृष्टि जब पहली बार औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद जब वह सम्यक्त्व से च्युत होता है तो तभी उसके पहली बार दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्व से टूटकर तीन भागें होते हैं। अन्यथा उससे पहले तो उसके एक ही मिथ्यात्व भेद था। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्त और सर्व विशुद्ध होता है। नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव ये चारों ही मिथ्यादृष्टि इसको प्राप्त कर सकते हैं।¹

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर सात दिन-रात है। एक जीव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है।²

इसी प्रसंग में आचार्य कहते हैं कि औपशमिक सम्यग्दर्शन के दो भेद होते हैं-1. प्रथमोपशम सम्यक्त्व तथा 2. द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। प्रथमोपशम का स्वरूप तो पहले ही कह गये हैं। अब द्वितीयोपशम का स्वरूप कहते हुए आचार्य लिखते हैं - क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी के सन्मुख होते हुए अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की विसंयोजना पूर्वक मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करके जो श्रद्धान उत्पन्न करता है वही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।³

2. क्षायिक सम्यक्त्व

अन्तरंग हेतु के आधार पर सम्यक्त्व के तीन भेदों में से द्वितीय क्षायिक सम्यक्त्व है जो कि सबसे अधिक शुद्ध, निर्मल तथा चिरस्थायी सम्यक्त्व है। इसके

¹ रा. वा. 2/3/2, ल. सा. गा. 41, गो. कर्म का. गा. 550

² स. सि. 1/8

³ ल. सा. भाषा 2/42/1

स्वरूप का व्याख्यान सभी आचार्यों ने बड़े ही महत्त्व के साथ किया है। इसका स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - दर्शन मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय अर्थात् नष्ट हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।¹ यह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मों का नाश करने का प्रमुख कारण है। इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं कि - सात प्रकृतियों अर्थात् दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार क्रोधादि के अत्यन्त विनाश हो जाने से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।² क्षायिक सम्यक्त्व की महिमा का गुणगान करते हुए धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, किसी प्रकार के कोई सन्देह को भी नहीं करता और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर आश्चर्य नहीं करता है।³ कई आचार्य इसको मेरु के समान निष्कम्प, निर्मल और अक्षय अनन्त कहते हैं और कहते हैं कि - क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर उस जीव के ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढबुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ भी अनहोनी घटनायें देखकर भी विस्मय या क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है। आचार्य ब्रह्मदेवसूरि अपनी शैली में क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप को उल्लिखित करते हैं कि - शुद्ध आत्मा आदि पदार्थों के विषय में विपरीत अभिनिवेश रहित परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।⁴

क्षायिक सम्यक्त्व की विशेषता बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - क्षायिक सम्यक्त्व सीधा मिथ्यादृष्टि अवस्था से कभी नहीं होता है। सर्वप्रथम औपशमिक, फिर क्षयोपशमिक और उसके बाद क्षायिक सम्यक्त्व होता है अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व क्षयोपशमिक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व अकस्मात् अथवा एकाएक नहीं होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व रूपी सीढ़ी से चढ़कर ही क्षायिक सम्यक्त्व रूपी छत पर पहुँचा जा सकता है।⁵ क्षायिक सम्यक्त्व सदैव केवली अथवा श्रुत केवली के पादमूल में ही सम्भव है। इसी कारण यह सम्यक्त्व शुद्ध निर्मल जल के समान शुद्ध

¹ पे. सं. प्रा. 1/160, गो. जी. का. गा.

² स. सि. 2/4/154, रा. वा. 2/4/7, ल. सा. 164/217, भा. सं. गा. 267

³ ध. 1/1, 1, 12/171

⁴ द्र. सं. टीका गा. 14

⁵ रा. वा. 2/1/8, गो. जी. / जी. प्र. 704

और पवित्र होता है, और कभी भी छूटता नहीं है, क्योंकि यह सम्यक्त्व सात प्रकृतियों के क्षय करने से होता है। जो प्रकृति नष्ट हो चुकी है तो वह फिर पुनः उदय में नहीं आ सकती है इसीलिये, यह सम्यक्त्व नित्य होता है।

3. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्व

यह सम्यक्त्व दोनों सम्यक्त्वों अर्थात् औपशमिक और क्षायिक का मिश्रण रूप है। इसी कारण तो इसका मिश्ररूप नामकरण हुआ है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। आचार्यों ने इसका दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व दिया है। इस दूसरे नाम के रखने का कारण स्पष्ट करते हुए ध्वलाकार कहते हैं कि - जिसको सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शन मोहनीय कर्म की भेद रूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यक्त्व का एकदेश रूप से वेदन कराने वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के कारण इसका नाम वेदक सम्यक्त्व है।¹

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी आदि आचार्य लिखते हैं कि - चार अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय अथवा स्तिबुक संक्रमण और इन्हीं छहों का सदवस्थारूप उपशम अर्थात् उदीरणा का अभाव होने से और देशघाती स्पर्द्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।² ध्वलाकार इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।³ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उदाहरण देते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जिस प्रकार किसी गन्दे पानी में फिटकरी घुमा देने से जो मैल नीचे बैठ गया था अब उस पानी को दूसरे बर्तन में निकालते समय थोड़ा सा मैल पानी के साथ में आ जाता है। वह पानी पूर्ण निर्मल एवं शुद्ध नहीं रह पाता है, उसी प्रकार इसमें भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय रहने से सम्यक्त्व में पूर्ण निर्मलता नहीं आ पाती है। इसी कारण से इसको सदोष सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति के उदय

1 ध. 1/1, गा. 172, पं. सं. प्र. 1/164

2 स. सि. 2/5, रा. वा. 2/5/8, गो. जी. का. गा. 25, भा. सं. गा. 268,269

3 ध. 1/1, गा. 215, गो. जी. का. गा. 649

में रहने के कारण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते रहते हैं। ये दोष इतने ज्यादा प्रभावशाली तो नहीं होते कि सम्यक्त्व को ही नष्ट कर दें परन्तु सम्यक्त्व में दोष उत्पन्न करते रहते हैं, जिस कारण वह पूर्ण निर्मल नहीं रह पाता। वे तीनों दोष आचार्यों ने इस प्रकार कहे हैं -

चलदोष - नाना प्रकार की आत्मा के विशेषों में (गुणपर्यायों में) जो श्रद्धान, उसमें चलायमान होना चलदोष है। जैसे-अपने द्वारा स्थापित कराई प्रतिमा में 'यह देव मेरे हैं' और अन्य के द्वारा स्थापित प्रतिमा में 'यह अन्य के देव हैं' इस प्रकार देव का भेद करना चलदोष है। जिस प्रकार जल एक होते हुए भी नाना तरंगों में भ्रमण करता है उसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान भी भ्रमणरूप चेष्टा करता है।

मलदोष - सम्यक्त्व प्रकृति जो कि मिथ्यात्व का ही एक भाग है, के उदय से वेदक सम्यक्त्व को सम्यक्त्व का माहात्म्य प्राप्त नहीं होता। जैसे-शुद्ध स्वर्ण मल से मलिन हो जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व भी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से शंकादि दोषों से मलिन हो जाता है। उसे ही मल दोष कहा है।

अगाढ़दोष - श्रद्धान चञ्चल तो होता है, परन्तु यथार्थ श्रद्धान में स्थित रहता है, अपने स्थान से च्युत नहीं होता है, वह अगाढ़ दोष है। जैसे वृद्ध के हाथ की लकड़ी कांपती तो है, परन्तु हाथ से गिरती नहीं है। और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - यद्यपि सभी अर्हन्त भगवान् अनन्तशक्ति वाले होने से समान हैं तथापि शान्तिनाथ भगवान् शान्ति के कर्ता हैं और भगवान् पार्श्वनाथ विघ्नों के हर्ता हैं। इस प्रकार वेदकसम्यग्दृष्टि का श्रद्धान शिथिल होने के कारण अगाढ़ दोष युक्त है।

वेदक सम्यक्त्वी तीनों सम्यग्दर्शनों में संसारावस्था का सबसे अधिक काल 66 सागर प्रमाण वाला एकमात्र यही है। यही सम्यक्त्व कर्मक्षपण का हेतु है अर्थात् वेदक सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई भी जीव (मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि) दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा नहीं कर सकता। वेदक सम्यग्दृष्टि दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी चतुर्क, इन सात प्रकृतियों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मप्रकृतियों के क्षपण का हेतु नहीं है, क्योंकि यह चतुर्थ गुणस्थान

¹ गो. जी. का. गा. 25 टीका

से सप्तम गुणस्थान तक ही होते हैं। इसके चल-मलादि दोष होने से क्षपक और उपशम श्रेणी में चढ़ना नहीं बनता।¹

सम्यग्दर्शन के दस भेद

सम्यग्दर्शन के अन्य भेदों में आचार्यों ने दस भेद भी स्वीकार किये हैं। उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं²-

1. **आज्ञासम्यक्त्व** - दर्शन मोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वह आज्ञासम्यक्त्व कहलाता है।
2. **मार्गसम्यक्त्व** - दर्शनमोह का उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी अपरिग्रही मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है वह मार्गसम्यक्त्व कहलाता है।
3. **उपदेशसम्यक्त्व** - तीर्थङ्करादि तिरैसठ शलाका पुरुषों के शुभचरित्र के उपदेश से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं।
4. **सूत्रसम्यक्त्व** - मुनि आदि दीक्षा-चारित्रादि के निरूपक आचारांगादि सूत्रों को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं।
5. **बीजसम्यक्त्व** - जिन जीवादि पदार्थों के समूह अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है, उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशम वश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं।
6. **संक्षेपसम्यक्त्व** - जो भव्यजीवों को पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्वश्रद्धान होता है वह संक्षेपसम्यक्त्व कहलाता है।
7. **विस्तारसम्यक्त्व** - अंग, पूर्व के विषय, प्रमाण, नय आदि के विस्तार कथन से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं।

¹ ध. पु. 1, पृ. 357

² रा. वा. 3/36/2, आ. अनु. 12-14, द. पा. टी. 12/12/20, अन. ध. 2/62

8. **अर्थसम्यक्त्व** - अंगबाह्य आगमों के पढ़ने के बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं।
9. **अवगाढसम्यक्त्व** - अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत में जो अतिदृढ़ श्रद्धान होता है उसे अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं।
10. **परमावगाढसम्यक्त्व** - परमावधि या केवलज्ञान दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाश से जिनकी आत्मा विशुद्धि को प्राप्त होती है उसे परमावगाढसम्यक्त्व कहते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के एक, दो, तीन, दस आदि भेद आचार्यों ने स्वीकार किये हैं। राजवार्तिककार लिखते हैं कि शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों एवं अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है।

अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ सम्यग्दर्शन से सहित एवं व्रतों से रहित जीव अविरत सम्यक्त्वी कहलाते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में स्थित जीव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के उपासक, तत्त्वश्रद्धानी एवं भेद विज्ञानी होते हैं।
- ❖ अविरत सम्यक्त्वी जीव 8 अंगों का पालन करते हुए एवं शंकादि 25 दोषों से रहित होता है।
- ❖ अविरत सम्यक्त्वी संसार, शरीर, भोगों से उदासीन अनीति, अन्याय एवं अभक्ष्य का त्यागी होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है।
- ❖ जिसके अंतरंग में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य होते हैं वह सराग सम्यक्त्वी कहलाता है।

रा. बा. 1/7/14, द. पा. टी. 12/12

- ❖ यदि यह क्षायिक सम्यक्त्वी है तो इसकी सत्ता में 7 प्रकृति नहीं होती हैं।
- ❖ यदि वह क्षायोपशामिक सम्यक्त्वी है तो इसकी सत्ता में 7 प्रकृतियाँ होती हैं, लेकिन उदय में सम्यक्त्व प्रकृति मात्र ही होती है।
- ❖ यदि वह औपशामिक सम्यक्त्वी है तो उसके 7 प्रकृतियों का उपशम होता है।
- ❖ नरक एवं देवगति में चार गुणस्थान ही होते हैं।
- ❖ मनुष्य एवं तिर्यञ्च गति सम्बन्धी भोगभूमि एवं कुभोगभूमि में चार गुणस्थान तक ही होते हैं।
- ❖ सम्यग्दृष्टि देव एवं नारकी नियम से मनुष्य आयु का ही बंध करते हैं।
- ❖ सम्यग्दृष्टि कुभोगभूमिज, भोगभूमिज सौधर्म ईशान सम्बन्धी स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।
- ❖ छठवीं पृथ्वी तक के नारकी क्षायोपशामिक सम्यग्दर्शन के साथ वहाँ से निकल सकते हैं, परन्तु पहली पृथ्वी के नारकी क्षायिक सम्यक्त्व के साथ भी आते हैं।
- ❖ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के साथ किसी भी गति के जीव का मरण नहीं होता है।
- ❖ सामान्य क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं तिर्यञ्च मरण करके मनुष्य और तिर्यञ्च नहीं हो सकते हैं।
- ❖ सामान्य क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टि जीव नरक गति को प्राप्त नहीं होता है।
- ❖ सामान्य क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टि जीव (मनुष्य एवं तिर्यञ्च) मरण कर नियम से वैमानिकों में ही जाते हैं।
- ❖ कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरण करके चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है। विशेष यह है कि नरक में पहली पृथ्वी तक, तिर्यञ्च या मनुष्य में जावे तो भोगभूमि में, देवगति में वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।
- ❖ तीर्थङ्कर प्रकृति का आस्रव को करे तो इस गुणस्थान से ही शुरु होता है।
- ❖ क्षायोपशामिक एवं क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थङ्कर प्रकृति के आस्रव करने के अधिकारी हैं।

- ❖ नाना जीवों की अपेक्षा इस गुणस्थान में 18 प्रकृतियों का अनुदय होता है।
- ❖ कोई भी वज्रवृषभ नाराच संहनन वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव केवली एवं श्रुतकेवली के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।
- ❖ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक के साथ एवं सादि मिथ्यादृष्टि जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करता है।
- ❖ तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ ही चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानवर्ती जीव अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानवर्ती औपशमिक सम्यक्त्वी जीव उपशम सम्यक्त्व के साथ चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं।
- ❖ शुभोपयोग एवं धर्म्यध्यान का प्रारम्भ इसी चतुर्थ गुणस्थान से होता है।
- ❖ कोई भी उपशम श्रेणी माड़ने वाला द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी जीव यदि कालक्षय से गिरे तो क्रम से चतुर्थ गुणस्थान तक आ सकता है।
- ❖ क्षायिक सम्यक्त्वी तिर्यञ्च भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।
- ❖ अचिरत सम्यक्त्वी जीव 41 प्रकृतियों का बंध नहीं करता है, मिथ्यात्व सम्बन्धी 16 अनंतानुबन्धी 25 प्रकृतियाँ।
- ❖ एकेन्द्रिय से लेकर असेनी पञ्चेन्द्रिय तक के जीव अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं।
- ❖ सैनी पञ्चेन्द्रियों में क्षेत्रस्थ म्लेच्छों को छोड़कर समस्त जीव सम्यग्दर्शन प्राप्ति की योग्यता रखते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल 33 सागर में एक समय कम + एकपूर्व कोटि में अन्तर्मुहूर्त कम है।
- ❖ औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

- ❖ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट 66 सागर × 2 में अन्तर्मुहूर्त कम है।
- ❖ क्षायिक सम्यक्त्व का जघन्य काल संसारापेक्षा अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट काल 2 पूर्व कोटि में 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम 33 सागर है।
- ❖ नरक गति में चतुर्थगुणस्थान का उत्कृष्टकाल 2 अन्तर्मुहूर्त कम 33 सागर है।
- ❖ तिर्यञ्चगति में क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा उत्कृष्ट काल 3 पल्य, क्षयोपशम की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि (सम्मूर्च्छन जन्म), उपशम की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है।
- ❖ मनुष्यगति में क्षायिक की अपेक्षा साधिक 3 पल्य, उपशम की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त, क्षयोपशम की अपेक्षा 24 दिन कम 3 पल्य है।
- ❖ सम्यग्दर्शन के बाद सृष्टि तो वही रहती है, दृष्टि बदल जाती है।

5. विरताविरत गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम 'संजदासंजदा' है। इस गुणस्थान को 'विरयाविरओ' भी कहते हैं। यहाँ संजद और विरय शब्द अर्थान्तर नहीं हैं अर्थात् दोनों एकार्थवाची हैं। संयतासंयत अथवा विरताविरत अथवा संयमासंयम का स्वरूप उल्लिखित करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो जीव एकमात्र जिन भगवान् में अपनी श्रद्धा रखते हुए त्रस जीवों के घात से विरत है और इन्द्रिय विषयों से एवं स्थावर जीवों के घात से विरक्त नहीं है वह जीव प्रतिसमय विरताविरत कहलाता है।¹ इसी स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - भावों से स्थावर वध और पाँचों इन्द्रियों के विषयसम्बन्धी दोषों से विरत नहीं होने किन्तु त्रस वध से विरत होने को संयमासंयम कहते हैं।² पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त होना विशिष्ट संयमासंयम है। उसके धारक और असंख्यात गुणश्रेणीरूप निर्जरा के द्वारा कर्मों के झाड़ने वाले ऐसे सम्यग्दृष्टि

¹ पं. सं. प्रा. गा. 1/13, भा. सं. गा. 351, गो. जी. गा. 31

² पं. सं. प्रा. 1/134

जीव देशविरत या संयतासंयत कहलाते हैं।¹ संयमासंयम के स्वरूप को अतिसंक्षेप में व्यक्त करते हुए आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि - क्षायोपशमिक विरताविरत परिणाम को संयमासंयम कहते हैं। अथवा अनात्यन्तिकी अर्थात् आंशिक विरक्तता को संयमासंयम कहते हैं। अन्तरंग निमित्त रूप से संयतासंयत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि - प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय से सकलसंयम नहीं होता, किन्तु स्तोकव्रत अर्थात् अणुव्रत होते हैं। इसलिये देशव्रत या देशसंयम रूप पञ्चम गुणस्थान होता है।²

अन्य आचार्यों की भाँति आचार्य देवसेन स्वामी भी यह स्वीकार करते हैं कि - जो विरताविरत पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव होता है वह श्रावक के अष्टमूलगुण और बारह व्रतों (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) इनका पालन तो वह नियमपूर्वक करता ही है।³ श्रावक के अष्टमूलगुणों में मद्य, मांस, मधु इन तीन मकार का त्याग और पाँच उदुम्बर फल (बड़, पीपल, पाकर, ऊमर, कठूमर) का त्याग करना समायोजित है।

यहाँ कोई शंका करता है कि एक जीव में एक साथ संयम भाव और असंयम भाव कैसे रह सकता है, जबकि ये दोनों भाव परस्पर में विरोधी हैं? इस शंका का समाधान करते हुए धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि - विरोध दो प्रकार का होता है; परस्पर परिहारलक्षण विरोध प्रथम और सहानावस्था लक्षण विरोध द्वितीय। इनमें से प्रथम परस्पर परिहारलक्षण विरोध की अपेक्षा कई गुण एक दूसरे का विरोध न करते हुए अनेकान्तिक रूप से एक साथ रह सकते हैं, क्योंकि संयम और असंयम इन दोनों भावों की उत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न है। संयमभाव की उत्पत्ति का कारण त्रसहिंसा से विरतिभाव है और असंयम भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से अविरति भाव है। अतः संयम और असंयम भाव के एक साथ रहने में कोई भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि यदि एक दूसरे का परिहार करके गुणों का अस्तित्व न माना जाये तो उनके स्वरूप की हानि का प्रसंग उपस्थित होता है जो किसी के लिये भी इष्ट नहीं है।⁴

1 पं. सं. प्रा. 1/135, ध. 1/1, गा. 192, गो. जी. गा. 476

2 गो. जी. गा. 30

3 भा. सं. गा. 352

4 ध. 1/173

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - जो संयत होते हुए भी असंयत है वह संयतासंयत कहलाता है। इसी प्रसंग में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जो एकदेश विरति में लगा हुआ है वह श्रावक होता है।¹ श्रावक का स्वरूप प्रकाशित करते हुए पं. आशाधर जी लिखते हैं कि - पञ्च परमेष्ठी की भक्ति में लीन, प्रधानता से दान और पूजन करने वाला, भेदज्ञान रूपी अमृत का पिपासु और मूलगुणों एवं उत्तरगुणों को पालन करने वाला श्रावक कहलाता है।² विद्वान् भी अपने विचार व्यक्त करते हुए श्रावक शब्द में से ही परिभाषा निकालते हुए कहते हैं कि - जो श्रद्धौवान्, विवेकवान् और क्रियावान् होता है वही श्रावक कहलाता है।

श्रावक को बारह व्रत और अष्ट मूलगुण से सहित आचार्य देवसेन स्वामी ने भी स्वीकार किया है और भावसंग्रह में उन बारह व्रतों का संक्षेप में स्वरूप भी लिखा है। उन बारह व्रतों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है - त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, बिना दिये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण न करना, परस्त्रीसेवन त्याग और परिग्रह का परिमाण करना ये पाँच अणुव्रत कहलाते हैं।³ इसके बाद दिशा-विदिशाओं में आने जाने का नियम करके शेष दिशा-विदिशा में आने-जाने का त्याग करना, पाँचों प्रकार के अनर्थदण्डों का त्याग करना, भोगोपभोग पदार्थों की संख्या नियतकर शेष पदार्थों का त्याग कर देना ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।⁴ प्रातः, मध्याह्न, संध्याकाल इन तीनों समयों में परमेष्ठी की स्तुति करना, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधोपवास करना, प्रतिदिन अतिथियों को दान देना और सल्लेखना धारणा करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।⁵

देशव्रती पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक इन बारह व्रतों का पालन करता है। इन बारह व्रतों का विस्तार से वर्णन अगले चतुर्थ अध्याय जो कि 'आचार्य देवसेन की

- 1 पु. सि. उ. 41
- 2 सा. ध. 1/15
- 3 भा. सं. गा. 353
- 4 वही गा. 354
- 5 वही गा. 355

कृतियों में साधनापरक दृष्टि' नाम से है, उसमें किया जायेगा। अतएव यहाँ इनका संक्षेप रूप से ही गुणस्थान के विषय की उपयोगिता के अनुसार वर्णन कर दिया गया है।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव तीनों होते हैं।¹ ये तीनों भाव सम्यक्त्व की अपेक्षा से होते हैं। मुख्यतया संयमासंयम भाव में क्षायोपशमिक भाव होता है।² इसी गुणस्थान में आर्तध्यान, रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान होते हैं। इसका कारण बताते हुए लिखते हैं कि - इस गुणस्थान में इस जीव के बहुत सा आरम्भ होता है बहुत सा ही परिग्रह होता है, इसलिये इसमें धर्म्यध्यान नहीं होता है। आचार्य देवसेन स्वामी ने धर्म्यध्यान की भूमिका स्वरूप भद्रध्यान माना है। भद्रध्यान को जो अच्छी प्रकार से करने लगता है उसके ही धर्म्यध्यान होता है ऐसा मानते हैं।³

यह गुणस्थान अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय अर्थात् उदय में न होने से होता है न कि प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय ही देशसंयम अथवा संयमासंयम की विरोधी प्रकृति है इसी के कारण जीव के देशसंयम नहीं होता और जैसे ही इस प्रकृति का अनुदय होता है तभी संयमासंयम प्रकट हो जाता है।

संयतासंयत गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ इस गुणस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा से पाँचों भाव सम्भव हैं, परन्तु एक जीव की अपेक्षा तीन या चार भाव हो सकते हैं।
- ❖ समस्त प्रतिमाधारी, ऐलक, छुल्लक, छुल्लिका और आर्यिकाओं का पंचम गुणस्थान होता है।
- ❖ तिर्यञ्च गति में जीव पंचम गुणस्थान तक ही होते हैं।
- ❖ सम्मूर्च्छन सैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों की अपेक्षा इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि काल तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

1 भा. सं. गा. 350

2 ध. 1/174, रा. वा. 2/5/8

3 भा. सं. गा. 357

- ❖ गर्भज तिर्यञ्चों की अपेक्षा इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल 2,4,5,6,8,10 आदि माह कम एक पूर्वकोटि प्रमाण है।
- ❖ मनुष्यों की अपेक्षा इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि प्रमाण है।
- ❖ इस गुणस्थानवर्ती जीव मरण करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं।
- ❖ छठवें गुणस्थान वाला जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से पंचम गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय से पंचम गुणस्थान प्राप्त करते हैं।
- ❖ अविरत सम्यक्त्वी जीव अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय से पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है।
- ❖ तीर्थङ्करों के 8 वर्ष अन्तर्मुहूर्त बाद (जन्म के) पंचम गुणस्थान हो जाता है।
- ❖ सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ ही पंचम गुणस्थान में जाते हैं।
- ❖ गर्भज तिर्यञ्च उपशम एवं क्षयोपशम सम्यक्त्व के साथ पंचम गुणस्थान में जाते हैं।
- ❖ मनुष्य गति के जीव तीनों ही सम्यक्त्वों के साथ पंचम गुणस्थान को पा सकते हैं। विशेषता यह है कि यदि क्षायिक के साथ जावे तो चतुर्थ एवं छठवें गुणस्थानवर्ती एवं उपशम के साथ जावे तो मिथ्यादृष्टि, द्वितीयोपशम के साथ जावे तो 6वें गुणस्थानवर्ती एवं क्षयोपशम के साथ जावे तो मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यक्त्वी, संयती जाता है।
- ❖ तिर्यञ्चों में यदि कोई व्रत धारण करे तो वह नियम से संयतासंयती ही होता है।
- ❖ संयतासंयती तिर्यञ्च असंख्यात हैं एवं मनुष्य 13 करोड़ हैं।
- ❖ पंचम गुणस्थानवर्ती तिर्यञ्च क्षायिक सम्यक्त्वी नहीं होते हैं ऐसा नियम है।

- ❖ पंचम गुणस्थानवर्ती जीव के नरकायु का सत्त्व नहीं होता है। भुज्यमान तिर्यञ्चायु की अपेक्षा तिर्यञ्चों में तिर्यञ्च आयु का सत्त्व होता है।
- ❖ विजयाद्वर्ष पर्वत पर विद्याधर अपनी विद्याओं सहित पंचम गुणस्थान तक ही जा सकते हैं ऊपर नहीं।
- ❖ स्वयम्भूरमणद्वीप का बाहरी आधा भाग एवं स्वयम्भूरमण समुद्र में स्थित तिर्यञ्चों के पंचम गुणस्थान तक सम्भव हैं।
- ❖ पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्यों के भुज्यमान की अपेक्षा मनुष्यायु एवं बध्यमान की अपेक्षा देवायु का सत्त्व होता है अन्य नहीं।
- ❖ पंचम गुणस्थानवर्ती जीव 53 प्रकृतियों का अबंधक होता है एवं 35 प्रकृतियाँ अनुदय योग्य होती हैं।
- ❖ जो संयत होते हुए भी असंयत है उसे संयतासंयती कहते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में 11 अविरति एवं 1 विरति होती है।
- ❖ इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण का अनुदय होता है एवं प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा यथायोग्य नव नोकषायों का उदय होता है।

6. प्रमत्तविरत गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम 'पमत्तसंजद' है। इस गुणस्थान का नाम 'पमत्तविरदो' भी है। संजद और विरद ये दोनों शब्द अनर्थान्तर अर्थात् अन्य अर्थ वाले न होकर एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

प्रमाद सहित महाव्रती साधु को प्रमत्त-विरत या प्रमत्तसंयत कहते हैं। पाँचों पापों का सम्पूर्ण रूप से त्याग होने से संयत और प्रमाद के होने से इन्हें प्रमत्त कहते हैं। यह प्रमाद संज्वलन कषाय की तीव्रता में होता है। यह गुणस्थान प्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय होने से प्राप्त होता है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय ही सकल संयम की घातक प्रकृति है और उसका उदय न होने से सकल संयम प्रकट हो जाता है। संज्वलन कषाय का उदय होने से यथाख्यात चारित्र नहीं हो पाता, इसी के कारण से ही सकल संयम

होते हुए भी वह प्रमत्त की संज्ञा को प्राप्त होता है। यहाँ प्रमाद से तात्पर्य यह नहीं है कि वह कोई भी शुभ कार्य करने में अनादर अथवा आलस्य करते हों बल्कि शुद्धोपयोग में अधिक समय नहीं रह पाते हैं तो प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि शुभोपयोग की क्रियायें करने लगते हैं; इनको ही आचार्यों ने प्रमाद की क्रियायें कहा है। इन क्रियाओं से उनका संयतपना घाता नहीं जाता, क्योंकि वह अपनी भूमिका के अनुसार ही वे क्रियायें करता है, उसको उल्लंघन करके नहीं।

संयत का स्वरूप बताते हुए धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि -
 सम् उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक जो अन्तरंग और बहिरंग आस्रवों से विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं।' इसी प्रकार प्रमत्त संयत को व्याख्यायित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि -

वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओ होइ।

सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो।¹

अर्थात् जो पुरुष सकल गुणों से और शील अर्थात् उत्तरगुणों से सहित है, अतएव महाव्रती है तथा व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद से रहता है अतएव चित्रल आचरणी है वह प्रमत्त संयत कहलाता है। इसी गाथा को कई आचार्यों के ग्रन्थों में बिना किसी परिवर्तन के ऐसे ही पाया जाता है। आचार्य देवसेन स्वामी ने भी इस गाथा को ऐसे ही ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। इसमें प्रमत्तविरत का एकदम सटीक स्वरूप वर्णित है। इस गाथा में जो व्यक्त और अव्यक्त शब्द आये हैं, उन शब्दों से तात्पर्य यह है कि जो स्व और पर या दोनों में से किसी एक के ज्ञान का विषय है वह व्यक्त कहलाता है और जो स्व और पर दोनों में से किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं बन पाता, मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो वह अव्यक्त है। ऐसे दोनों प्रकार के प्रमादों से सहित होने के कारण ही यह प्रमत्त की संज्ञा को प्राप्त है। इसमें जो चित्रल आचरण है अर्थात् चित्तल (चित्तल) सारङ्ग (हिरण) को कहते हैं इसलिये जो आचरण सारङ्ग के समान अनेक रंग वाला (चित्तकवरा) होता है वह ही चित्रलाचरण कहलाता है।

¹ ध. 1/369

² पं. सं. ग्रा. 1/14, ध. 1, गा. 113, गो. जी. का. गा. 33, भा. सं. गा. 601

इसी प्रमत्त संयत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि - उस संयम लब्धि रूप आभ्यन्तर संयम परिणामों के अनुसार बाह्य साधनों के सन्निधान को स्वीकार करता हुआ प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम को पालता हुआ भी पन्द्रह प्रकार के प्रमादों के वश कहीं कभी चारित्र परिणामों से स्खलित होता रहता है, अतः वह प्रमत्तसंयत कहलाता है।¹

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि प्रमत्तता और संयतपना दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के बाधक हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि पाँचों पापों से विरतिभाव को संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पाँच समितियों से अनुरक्षित हैं। वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संयम में प्रमाद से केवल मल की ही उत्पत्ति हो सकती है। वहाँ होने वाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयम का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि सकल संयम का उत्कट रूप से प्रतिबन्ध करने वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का नाश नहीं पाया जाता।²

संयम की अपेक्षा यहाँ क्षायोपशमिक भाव है, क्योंकि वर्तमान अवस्था में प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से तथा संज्वलन कषाय के उदय से संयम उत्पन्न होता है।³

सम्यक्त्व की अपेक्षा तो इसमें उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये तीनों भाव सम्भव हैं। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि इनके कारण इसमें तीनों भावों को ग्रहण करना चाहिये ना कि क्षायोपशमिक भाव अकेला ही ग्रहणीय है? तब इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमादि से संयमासंयम आदि भावों की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि यहाँ सम्यक्त्व विषयक कोई भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता है।⁴

1 रा. का. 9/1/17/590

2 ध. 1/176

3 वही

4 ध. 5/203

इस गुणस्थान में होने वाले प्रमाद जो हैं वे आचार्यों ने 15 बताये हैं। जिनमें चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय होते हैं।¹ संयम की विरोधी अथवा जिनके सुनने एवं कहने से पाप का ही बन्ध होता है उनको विकथा कहते हैं। वे राजकथा, भोजकथा, स्त्रीकथा और चौरकथा हैं। जो संयम का घात करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं। ये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के विषयों में रागादि भाव होना इन्द्रियरूप प्रमाद है। निद्रा, प्रचला आदि दर्शनावरण कर्म के उदय से जो जौड़्य अवस्था होती है वह निद्रा कहलाती है। ममत्व भाव होना, हंसी आदि की तीव्रता होना प्रणय कहलाता है। इन्हीं प्रमादों के कारण चारित्र की अत्यन्त शुद्धता नहीं होती। प्रमादों के कारण उनमें दोष अथवा अशुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। इसलिये यहाँ चित्तल आचरण कहा गया है।

इस गुणस्थान में आर्तध्यान और धर्म्यध्यान सम्भव हैं।² रौद्रध्यान सिर्फ 1-5 गुणस्थानवर्ती जीवों के ही होते हैं। आर्तध्यान में भी प्रारम्भ के तीन ही भेद होते हैं, चौथा निदान नामक आर्तध्यान नहीं होता। यदि ऐसा होता है तो मुनिराज का छठा गुणस्थान छूट जाता है। मुनियों के कभी-कभी नोकषाय के उदय आ जाने से उनके आर्तध्यान हो भी जाता है तो वे मुनिराज अपने आवश्यकों आदि को पूर्ण रीति से पालन करके उस स्वल्प आर्तध्यान से उत्पन्न हुए कर्मों को अथवा उनके प्रभाव को वहीं अवरुद्ध कर देते हैं अथवा नष्ट कर देते हैं। इसके अलावा वे मुनि उस आर्तध्यान के कारण अपनी निन्दा, गर्हा आदि करते रहते हैं और प्रतिक्रमणादि करते रहते हैं।

इस गुणस्थान में जो 'संयत' पद है वह आदि दीपक है अर्थात् इस गुणस्थान से लेकर 14वें गुणस्थान तक के सभी जीव संयत ही होंगे। संयत से यह अभिप्राय है कि वे दिगम्बर जैन मुनि सकल संयम से सहित ही होंगे। श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, यति, भदन्त, दान्त ये सभी एकार्थवाची हैं।

इस गुणस्थान की एक विशेषता यह है कि यह गुणस्थान सदैव अवरोहण क्रम में बनता है अर्थात् कोई भी मिथ्यादृष्टि (सादि या अनादि) तीनों सम्यक्त्व से सहित

¹ पं. सं. प्रा. 1/15, र. वा. 8/1/30, भ. आ. वि. 612/812, ध. 1/4, गा. 114, गो. जी. का. गा. 34, भा. स. गा. 602

² र. सा. 110-111, ज्ञा. 26/41, भा. स. गा. 603

जीव और पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव ये सब सीधे अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। पुनः सप्तम गुणस्थान से गिरकर 6वें गुणस्थान को प्राप्त होता है। कोई भी जीव सीधे 6वें गुणस्थान पर आरोहण नहीं कर सकता है ऐसा सिद्धान्त है। ऐसे कई दृष्टान्त आचार्यों ने ग्रन्थों में उल्लिखित किये हैं जिनसे ये सिद्ध होता है कि कोई भी जीव सीधे 6वें गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है। वह सप्तम गुणस्थान से गिरने की अपेक्षा ही बनता है।

प्रमत्त विरत गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ इस गुणस्थान में 12 कषायों का तो अनुदय होता है एवं संज्वलन और यथायोग्य नव नोकषायों का उदय होता है।
- ❖ क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अनन्तानुबंधी कषाय का सत्त्व न होने से आठ कषायों का अनुदय एवं संज्वलन और नव नोकषायों का उदय होता है।
- ❖ छठवाँ गुणस्थान हमेशा गिरने की अपेक्षा ही बनाता है। अर्थात् पहले गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थान तक के कोई भी जीव प्रमत्तसंयत को प्राप्त नहीं हो सकते।
- ❖ अप्रमत्त संयती ही इस गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ छठवें गुणस्थान वाला जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से पंचम गुणस्थान को, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से चौथे गुणस्थान को, सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से तीसरे गुणस्थान को, अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से दूसरे गुणस्थान को तथा मिथ्यात्व के उदय से पहले गुणस्थान को प्राप्त होते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त एवं सामान्य अवस्था में जघन्य काल भी अन्तर्मुहूर्त है। मरण की अपेक्षा जघन्यकाल एक समय भी घटित होता है।
- ❖ सप्तम गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान का काल दुगुना है।
- ❖ मुनिराज यदि देवायु का बंध का प्रारम्भ करें तो इसी गुणस्थान से करते हैं तथा पूर्णता छठवें एवं सातवें गुणस्थान में सम्भव है।

- ❖ 33 सागर की देवायु का बंध सप्तम गुणस्थान में ही होता है।
- ❖ आहारक समुद्घात, आहारक काय योग, आहारक मिश्र अवस्था, शुभ-अशुभ तैजस शरीर इसी गुणस्थान में ही होते हैं।
- ❖ सम्यक्त्व की अपेक्षा यहाँ तीनों सम्यक्त्व संभव हैं एवं चारित्र की अपेक्षा क्षायोपशमिक चारित्र होता है।
- ❖ सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि चारित्र का प्रारम्भ इसी गुणस्थान से होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में प्रमत्त शब्द अन्त दीपक है एवं संयत शब्द आदि दीपक है।
- ❖ इस गुणस्थान में मरण करने वाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।
- ❖ आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रुतकेवली, गणधर इत्यादि मुनि-ज्ञानी जन इसी गुणस्थान से प्रारम्भ माने जाते हैं।
- ❖ वर्द्धमान चारित्री, सर्वावधिज्ञानी, परमावधिज्ञानी, विपुलमती मनःपर्ययज्ञानी, इस गुणस्थान से नीचे नहीं गिरते।
- ❖ इस गुणस्थान में जघन्य ज्ञान आचार वस्तु प्रमाण। अष्टप्रवचन मात्र प्रमाण एवं उत्कृष्ट सम्पूर्ण द्वादशांग का ज्ञान होता है।
- ❖ छठवाँ गुणस्थान मनुष्य गति में ही संभव है।
- ❖ इस गुणस्थान में जीवों की उत्कृष्ट संख्या 5 करोड़ 93 लाख 98 हजार 206 है तथा जघन्य कुछ कम लगा सकते हैं।
- ❖ सप्तम गुणस्थान में जीवों की संख्या इस गुणस्थान से आधी जाननी चाहिये।
- ❖ नाना जीवों की अपेक्षा इस गुणस्थान में पाँचों भाव संभव हैं एवं एक जीव की अपेक्षा 3 अथवा 4 भाव संभव हैं।
- ❖ कोई मिथ्यादृष्टि मुनि उपशम सम्यक्त्व एवं अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायों का अनुदय एक साथ प्राप्त करे तो वह जीव अप्रमत्त अवस्था में आ

जाता है और वहाँ से गिरकर छठवें गुणस्थान में आ जाता है। इस अवस्था में छठवें गुणस्थानवर्ती जीव के चार भाव घटित हो जाते हैं।

- ❖ कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मुनि जब उपशम श्रेणी भाङ्गने के सम्मुख होता है, उस समय वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। इस अपेक्षा से भी छठवें गुणस्थान में चार भाव घटित हो जाते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में 53 प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य नहीं हैं एवं उदय की अपेक्षा 41 प्रकृतियाँ अनुदय योग्य हैं।
- ❖ छठवें गुणस्थान में जीव रहने वाले के भुज्यमान आयु की अपेक्षा मनुष्य आयु, बध्यमान की अपेक्षा देव आयु का सत्त्व होता है।
- ❖ यह जीव शुभोपयोगी होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में तीन शुभ लेश्यायें होती हैं।
- ❖ पुलाक, बकुश, कुशील (प्रतिसेवना, कषाय) इसी गुणस्थान से प्रारम्भ होते हैं।

7. अप्रमत्त संयत गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम 'अप्रमत्तसंजद' है। इस गुणस्थान को 'अप्रमत्तविरदो' भी कहते हैं। संजद और विरद शब्द एकार्थवाची हैं। प्रमाद रहित साधु अप्रमत्त संयत कहलाते हैं। इस गुणस्थान में जो 'अप्रमत्त' शब्द है वह आदि दीपक है अर्थात् इस गुणस्थान से लेकर 14वें गुणस्थान तक के सभी जीव अप्रमत्त ही रहते हैं। अप्रमत्त विरत का स्वरूप बताते हुए आचार्य करणानुयोग की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि - संज्वलन कषाय और नोकषाय का जब मन्द उदय होता है तो वह अप्रमत्तविरतगुणस्थान कहलाता है और इसमें रहने वाले मुनिराज अप्रमत्तविरत कहलाते हैं।¹ यहाँ पर यह आशय है कि - अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय का तो अनुदय रहता है तथा संज्वलन और नोकषाय का भी मन्द उदय होने से वह प्रमाद को उत्पन्न नहीं कर पाता है। इसी कारण यह गुणस्थान अप्रमत्त कहलाता है।

¹ गो. जी. का. गा. 45

इस गुणस्थान के आचार्यों ने दो भेद बताये हैं-1. स्वस्थान अप्रमत्तविरत तथा 2. प्रातिशय अप्रमत्तविरत। अप्रमत्तविरत के भेदों में स्वस्थान अप्रमत्तविरत का स्वरूप उल्लिखित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि-

गट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।

अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो सो॥'

यही गथा कई आचार्यों ने ऐसी ही अपने ग्रन्थों में उद्धृत की है। इसमें आचार्य कहते हैं कि - जिस संयत के सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और जो समग्र ही महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण तथा शील से युक्त हैं और शरीर आत्मा के भेदविज्ञान में एवं मोक्ष के कारणभूत ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं करता तब तक उसको स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहते हैं। इस अवस्था में जब वह श्रेणी आरोहण नहीं कर रहा होता है तब वह 6वें 7वें गुणस्थानों में झूलता रहता है, क्योंकि इन दोनों का ही काल अन्तर्मुहूर्त होता है और 6वें गुणस्थान की अपेक्षा 7वें गुणस्थान का काल आधा होता है। ऐसे ही आगे-आगे के गुणस्थानों का काल पहले वाले गुणस्थान की अपेक्षा आधा-आधा होता जाता है। इस प्रकार 6वें-7वें गुणस्थान में डोलायमान रहने वाली अवस्था को कुछ विज्ञान इस प्रकार समझाने का प्रयास करते हैं कि - जब मुनिराज आहार का शोधन कर रहे हैं तब 7वाँ गुणस्थान तथा ग्रहण करते समय 6वाँ गुणस्थान अथवा जब प्रवचन दे रहे हैं तब 6वाँ तथा विचार करते समय 7वाँ गुणस्थान होता है। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं में भी लगाते हैं।

परन्तु यह तथ्य विचारपूर्ण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों का समय अत्यन्त सूक्ष्म है; जिस कारण इनका अन्तर स्पष्ट नहीं होता है। उपर्युक्त कथन स्वीकार न करने पर मुनिराज जब शयन करेंगे तब भी उनका छठा गुणस्थान मानना पड़ेगा, परन्तु छठा गुणस्थान एक, दो, चार या छह घण्टे तक नहीं हो सकता है। अतः इस सूक्ष्म विषय को जानना सामान्य मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के धारियों के लिये संभव नहीं है। यह डोलायमान होने की क्रिया काक-नेत्र के समान है जो नित्य चञ्चल रहता है

1 पं. सं. प्रा. 1/16, ध. 1, गा. 115, गो. जी. का. 46, भा. सं. गा. 614

और उसे काना सिद्ध कर पाना प्रत्यक्ष रूप से सम्भव नहीं है। इस प्रकार पुनः पुनः 6वें 7वें गुणस्थान में डोलायमान होने का कारण कोई बाह्य क्रिया न होकर मात्र अन्तरंग में स्थित संज्वलन कषाय का तीव्र एवं मन्द उदय ही है। संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में 6वाँ तथा मन्द उदय में सातवाँ गुणस्थान होता है।

इसी प्रकार जो द्वितीय भेद है सातिशय अप्रमत्तविरत, उसका स्वरूप निर्देशित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण- संज्वलन सम्बन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा हास्यादि नव नोकषाय मिलकर मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम या क्षय करने को आत्मा तीन करणों में से जो प्रथम अधः प्रवृत्तकरण करता है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है।¹

यहाँ आचार्य का यह आशय है कि - चौथे गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक (पर्यन्त) किसी भी गुणस्थान में जिस वेदक सम्यग्दृष्टि ने अधः करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों द्वारा अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करके पुनः तीन करणों के द्वारा दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि हो जाता है अथवा इन्हीं तीनों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारित्र मोहनीय की अप्रत्याख्यानावरणादि 21 प्रकृतियों का उपशम करने के योग्य होता है, किन्तु चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों के क्षपण के योग्य मात्र क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होता है, क्योंकि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी पर आरोहण नहीं कर सकता। परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों श्रेणियों पर आरोहण कर सकता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि प्रमत्त से अप्रमत्त में और अप्रमत्त से प्रमत्त में संख्यात बार भ्रमण करके अनन्तगुणी विशुद्धि के द्वारा विशुद्ध होता हुआ सातिशय अप्रमत्त हो जाता है।

यह वैसी ही अवस्था है जैसी कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व का ग्रहण करने से पहले जब पहला अधः प्रवृत्तकरण करता है तब आचार्यों ने उसको सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा है। ऐसा ही यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी आरोहण करने के लिये प्रथम अधः प्रवृत्त करण कर रहा है। प्रमाद पर पूर्ण विजय प्राप्त कर स्थायी रूप से अप्रमत्त

¹ ल. सा. गा. 205, गो. जी. गा. 47

अवस्था प्राप्त करने वाले साधक सातिशय अप्रमत्त कहलाते हैं। इस गुणस्थान का 'अधः प्रवृत्तिकरण' भी नाम है। इस अवस्था में ये उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर नियम से आरोहण करेंगे ही। आत्म विशुद्धि के इस सोपान में समसमयवर्ती तथा विषमसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ आचार्य स्पष्ट करते हैं कि ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम और नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम जहाँ सदृश होना सम्भव है, विशुद्धि और संख्या की अपेक्षा समान हो सकते हैं। उसको अधः प्रवृत्तिकरण कहते हैं।¹ अधः अर्थात् नीचे, प्रवृत्त अर्थात् होना, अर्थात् आगे के समय में स्थित जीव के परिणाम जो पीछे हैं उससे मिलना। उदाहरणार्थ - जैसे किसी मुनिराज के अधः प्रवृत्त में प्रवेश किये हुए दो समय हो गये हैं और किसी दूसरे मुनिराज को चार समय हो गये हैं तो उन दोनों मुनिराजों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी हो सकते हैं तथा दस मुनिराज एक साथ अधः प्रवृत्त में प्रविष्ट हुए हैं तो भी उन सबके परिणाम समान असमान दोनों तरह से हो सकते हैं।

इस अधः प्रवृत्तिकरण में चार कार्य होते हैं। प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती जाती है, प्रशस्त कर्मों का अनुभाग बढ़ता है, अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटता जाता है और वर्तमान में बंध रहे कर्मों की स्थिति घटा-घटा के बाँधता है।

यह अवस्था पूर्णरूप से ध्यानावस्था है तथा इसमें बाह्यक्रिया कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होती है।

अप्रमत्त-विरत गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ जब संज्वलन एवं नव नोकषायों का मन्द उदय होता है उस समय संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद नहीं होता है, उस समय जीव को अप्रमत्त संयती कहते हैं। इस गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक क्रियाओं की निवृत्ति हो जाती है।
- ❖ इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त एवं जघन्य काल सामान्य से अन्तर्मुहुर्त है, परन्तु मरण की अपेक्षा एक समय है।
- ❖ छठवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान का काल आधा होता है।

¹ ल. सा. गा. 35, गो. जी. गा. 48

- ❖ कोई भी मिथ्यादृष्टि जीव 12 कषायों का अनुदय करके एवं मिथ्यात्वादि तीन का उपशम करके अप्रमत्तविरत गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है।
- ❖ कोई भी अविरत सम्यक्त्वी अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण के अनुदय से इस गुणस्थान को पाता है। कोई भी संयमासंयमी प्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय से अप्रमत्त विरत गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है।
- ❖ उपशम श्रेणी से गिरने वाला अष्टम गुणस्थानवर्ती जीव नियम से सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है, यदि मरण न करे तो।
- ❖ देवायु का आस्रव इसी गुणस्थान तक होता है, विशेषता यह है कि सातिशय अप्रमत्ती नहीं करता है।
- ❖ आहारक शरीर एवं अंगोपांग के बंध की शुरुआत इसी गुणस्थान से होती है।
- ❖ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव इसी गुणस्थान तक पाये जाते हैं एवं क्षायोपशमिक चारित्र भी।
- ❖ यदि रहे तो, सम्यक्त्व प्रकृति का उदय इसी गुणस्थान तक रहता है, आगे नहीं।
- ❖ तीर्थङ्कर प्रकृति का प्रस्थापक सप्तम गुणस्थानवर्ती भी हो सकता है।
- ❖ किसी भी ऋद्धि के प्रयोग की शुरुआत अप्रमत्ती जीव नहीं करता, लेकिन प्रयोग के समय यह गुणस्थान संभव है।
- ❖ मनः पर्यय ज्ञान की उत्पत्ति अप्रमत्त गुणस्थान में ही होती है।
- ❖ सप्तम गुणस्थान में शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग दोनों संभव हैं, अर्थात् प्रवृत्ति की अपेक्षा शुभोपयोग एवं निवृत्ति की अपेक्षा शुद्धोपयोग होता है।
- ❖ पीत, पद्म लेश्या इसी गुणस्थान के स्वस्थान अवस्था तक होती है।
- ❖ निश्चय रत्नत्रय, वीतराग चारित्र, निर्विकल्प समाधि, अपने स्वरूप में स्थिरता एवं अतीन्द्रिय सुख का प्रारम्भ इसी गुणस्थान से होता है।
- ❖ इस गुणस्थान के दो भेद होते हैं- (प) स्वस्थान अप्रमत्त विरत (पप) सातिशय अप्रमत्त विरत

- (i) स्वस्थान अप्रमत्त विरत - जो मुनि सातवें से छठवें में, फिर सातवें में आकर गिरते हैं पुनः चढ़ते हैं उन्हें स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते हैं। इसका दूसरा नाम निरतिशय अप्रमत्त विरत है।
- (ii) सातिशय अप्रमत्त विरत - उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी माड़ने के सम्मुख हुआ जीव जो नियम से अष्टम गुणस्थान को प्राप्त करेगा उसे सातिशय अप्रमत्तविरत कहते हैं। इसका दूसरा नाम अधःकरण प्रवृत्त भी है।
- ❖ अन्त के तीन संहननों का उदय इसी गुणस्थान तक है।
 - ❖ वर्तमान पंचमकाल में ये तीन संहनन ही पाये जाते हैं, इसलिये मुनिगण श्रेणी नहीं माड़ सकते।
 - ❖ इस गुणस्थान में 61 प्रकृतियों का बंध नहीं होता है एवं 46 प्रकृतियाँ अनुदय योग्य कही गयी हैं।
 - ❖ यह जीव यदि क्षायिक सम्यक्त्वी है तो इसके 9 प्रकृतियों का सत्त्व नहीं होता है। वे 4 अनंतानुबंधी, 3 मिथ्यात्वादि, नरकायु एवं तिर्यञ्चायु हैं।
 - ❖ प्रथमोपशम सम्यक्त्वी जीव यहीं तक जाते हैं, आगे नहीं।
 - ❖ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद यह जीव हजारों बार 6वें 7वें गुणस्थान को प्राप्त कर फिर सातिशय अप्रमत्ती होता है।
 - ❖ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के नरकायु एवं तिर्यञ्चायु का सत्त्व नहीं होता है।
 - ❖ छठवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में जीवों की संख्या आधी है।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम 'अपुव्वकरण पविट्ठसुद्धि संजद' है। इसको लघु रूप से 'अपुव्वकरण' कहा जाता है। इस गुणस्थान का शाब्दिक दृष्टि की अपेक्षा से अर्थ प्रकट करते हुए राजवार्तिककार आचार्य अकलंक स्वामी कहते हैं कि - करण शब्द का अर्थ है परिणाम और जो पूर्व अर्थात् पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं।' इसका

¹ रा. वा. 9/1/13, ल. सा. 51, ध. 1/180

तात्पर्य यह है कि नाना जीवों की अपेक्षा आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए संख्यात लोक प्रमाण परिणाम वाले इस गुणस्थान के अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं। इसी विषय के सन्दर्भ में आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि - इस गुणस्थान में विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समय में रहने वाले जीव जो पूर्व में कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे, ऐसे अपूर्व परिणामों को ही धारण करते हैं। इसलिये इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है।¹

इस गुणस्थान के सर्वकाल में भिन्न समयों में स्थित जीवों के परिणाम सदृश अर्थात् समान नहीं होते किन्तु एक ही समय में स्थित जीवों के परिणाम सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं।²

जिस गुणस्थान में अपूर्व अर्थात् पूर्व में अनुभूत आत्मशुद्धि का अनुभव होता है। यहाँ पर भी चार आवश्यक कार्य होते हैं जो निम्न हैं-

अनुभागखण्डन, स्थितिखण्डन, गुणसंक्रमण और असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा³

अनुभागखण्डन - सत्ता में स्थित कर्मों के अनुभाग को समूह रूप से घटाना अनुभागखण्डन कहलाता है।

स्थितिखण्डन - सत्ता के कर्मों की स्थिति को समूह रूप से घटाना (कम करना) स्थितिखण्डन है।

गुणसंक्रमण - सत्ता के कर्मों के प्रदेश प्रथम समय में जितने अन्य सजातीय कर्मरूप किये, उनसे अधिक गुणाकार रूप से दूसरे-तीसरे आदि समयों में संक्रमित करते जाना गुणसंक्रमण कहलाता है।

असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा - सत्ता के कर्मों की प्रथम समय में जितनी निर्जरा हुई, उससे अधिक गुणाकार रूप से दूसरे आदि समयों में कर्म निर्जरा होते जाना असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा कहलाती है।

ध. 1/117, गो. जी. गा. 51

ध. 1/1,1,16/116, गो. जी. गा. 52

ल. सा. गा. 53-54, ध. 6/224, 227, क्ष. सा. 397, गो. जी. 54

चारित्र मोहनीय के क्षय या उपशम का विशेष उपक्रम यहीं से प्रारम्भ होता है। यहाँ से ही उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ होता है। इन दो प्रकार की श्रेणियों का स्वरूप द्रष्टव्य है-

उपशम श्रेणी - चारित्र मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों का उपशम करने के लिये किया जाने वाला आरोहण उपशम श्रेणी कहलाता है। इसमें साधक मोहनीय कर्म का समूल नाश नहीं कर पाता अपितु उसे दमित करता हुआ अर्थात् दबाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। जिस प्रकार शत्रुसेना को खदेड़कर की गई विजय यात्रा राज्य के लिये अहितकर होती है, क्योंकि वह कभी भी समय पाकर राज्य पर पुनः आक्रमण कर सकता है। उसी प्रकार इस विधि से प्रथमावस्था को प्राप्त कर्म शक्ति भी समय पाकर आत्मा का अहित कर सकती है। कर्मों के उपशमजन्य अल्पकालिक विशुद्धि के कारण आत्मा में स्वच्छता तो आ जाती है, लेकिन मोह का उदय हो जाने के कारण अपनी उपरिम भूमिका से फिसलकर जीव नीचे गिर जाता है। इस श्रेणी के गुणस्थान आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ तथा ग्यारहवाँ हैं। ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर कर्मों के पुनः प्रकट हो जाने से अनिवार्यतः उसका पुनः पतन हो जाता है।

क्षपक श्रेणी - क्षपक श्रेणी का अर्थ है - चारित्र मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों के क्षय के लिये किया जाने वाला आरोहण। जो साधक अपनी विशुद्धि के बल पर चारित्र मोहनीय कर्म का समूल विच्छेद करते हुए आगे बढ़ते हैं वे क्षपक श्रेणी वाले कहलाते हैं। इसमें कर्म शत्रुओं का उपशम नहीं होता अपितु समूल विध्वंस कर दिया जाता है। इसी कारण ये पुनः जागृत नहीं हो पाते। इस श्रेणी वाले साधकों का अधः पतन नहीं होता है।

इस श्रेणी के गुणस्थान क्रमशः आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने वाले साधक अपना आत्मिक विकास करते हुए समस्त कर्मों का समूल नाश करके अन्त में सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। इन श्रेणियों के कारण इस गुणस्थान के भी दो भेद हो जाते हैं। उपशम श्रेणी वाला चारित्र मोहनीय का उपशम करके तथा क्षपक श्रेणी वाला क्षय करके परिणाम की अपूर्वता को प्राप्त करता हुआ, इस गुणस्थान को प्राप्त करता है।¹

¹ भावसंग्रह गा. 642

अपूर्वकरण गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ अपूर्वकरण गुणस्थान में स्थिति काण्डक घात, अनुभाग काण्डक घात, गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण ये चार कार्य होते हैं।
- ❖ उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ इसी गुणस्थान से होता है।
- ❖ शुक्ल ध्यान का प्रारम्भ इसी गुणस्थान से होता है। इस गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान होता है।
- *❖ इस गुणस्थान में जाते समय जब तक निद्रा, प्रचला की बंध व्युच्छित्ति नहीं हो जाती तब तक जीव का मरण नहीं होता है।
- ❖ इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त एवं जघन्य काल सामान्य से अन्तर्मुहुर्त होता है।
- ❖ उपशम श्रेणी से गिरते समय अष्टम गुणस्थान में आते ही यदि जीव का मरण हो जाये तो जघन्य काल एक समय भी घटित हो जाता है।
- ❖ कोई भी मुनि एक भव में तीन बार 8वें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् उपशमश्रेणी की अपेक्षा दो बार, क्षपक श्रेणी की अपेक्षा तीसरी बार प्राप्त करता है।
- ❖ कोई भी जीव संसार काल में 9 बार अष्टम गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। कालक्षयापेक्षा।
- ❖ एकजीव की अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य विरह काल अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट विरह काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण है।
- ❖ नाना जीवों की अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य विरह काल एक समय एवं उत्कृष्ट विरहकाल क्षपक श्रेणी की अपेक्षा 6 माह तथा उपशमश्रेणी की अपेक्षा पृथक्त्व वर्ष है।
- ❖ इस गुणस्थान में 62 प्रकृतियाँ अबन्ध के योग्य होती हैं एवं 36 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है।
- ❖ इस गुणस्थान में अनुदय योग्य 50 प्रकृतियाँ हैं एवं 72 प्रकृतियाँ उदय योग्य होती हैं।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम 'अणियट्टि बादर साम्पराइय पविट्ठ सुद्धि संजद' है। इस गुणस्थान को लघुरूप में 'अणियट्टिकरण' भी कहते हैं। इसका अपर नाम 'बादर साम्पराइय' भी है।

जिस प्रकार उत्तरोत्तर अपूर्व - अपूर्व परिणाम होने से आठवें गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण गुणस्थान है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर जो परिणामों की विशुद्धता होती जाती है वह, शुद्धता बढ़ती जाती है फिर कम नहीं होती। जिसमें परिणामों की शुद्धता निवृत्त न हो सके और बढ़ती ही चली जाय उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।¹ उनके प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ एक जैसा ही परिणाम होता है। वे परिणाम अतिविमल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं के कर्मरूप वन को जला डालते हैं।²

अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिये प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। यही कारण है कि यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा विसदृशता (असमानता) और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता (समानता) ही पाई जाती है।

यह गुणस्थान दोनों श्रेणियों में होता है। उपशम श्रेणी में इस गुणस्थान के परिणामों द्वारा मोहनीय कर्म की शेष 21 प्रकृतियों में से 20 प्रकृतियों का उपशम हो जाता है और संज्वलन लोभ को भी इस गुणस्थान के अन्त तक सूक्ष्म किया जाता है। क्षपक श्रेणी में मोहनीय की इन 20 प्रकृतियों का क्षय किया जाता है और गुणस्थान के अन्त तक संज्वलन लोभ को सूक्ष्म किया जाता है।

इस गुणस्थान में प्रथम समय सम्बन्धी विशुद्धि सबसे कम है। उससे द्वितीय समय की विशुद्धि अनन्तगुणित है। तृतीय आदि समयों से लेकर अन्तिम समय तक यह अनन्तगुणित विशुद्धि चलती रहती है।³

¹ प्रा. पं. सं. 1/20, ध. पु. 1/186/17, गो. जी. 56, भा. सं. 649

² ध. पु. 1/186/17, गो. जी. 57

³ ध. 6/221

इन्हीं परिणामों से आयुकर्म को छोड़कर शेष सातकर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन और अनुभागखण्डन होता है तथा मोहनीय कर्म की बादर कृष्टि एवं सूक्ष्म कृष्टि आदि हुआ करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ 9वें गुणस्थान में पूर्वस्पर्द्धक, अपूर्वस्पर्द्धक, बादर कृष्टि, सूक्ष्म कृष्टि ये कार्य होते हैं। जैसे हल्दी की गाँठ से उसका चूर्ण बनने की प्रक्रिया है, उसी प्रकार उपरोक्त क्रियाओं के द्वारा ये कर्म भी अनुभाग शक्ति की हीनता को प्राप्त होते जाते हैं और नष्ट होते जाते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान के 9 भाग होते हैं, जिसमें क्षपकश्रेणी स्थित जीव 36 प्रकृतियों का क्षय करता है। वे निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, मोहनीय की 20 प्रकृति, नामकर्म की 13 (नरकगति, गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, स्थावर) हैं।
- ❖ उपशम श्रेणी में स्थित जीव इस गुणस्थान में 20 प्रकृतियों का उपशम करता है।
- ❖ इस गुणस्थान में 5 प्रकृतियों की बंध व्यच्छित्ति होती है। वे चार संज्वलन और पुरुष वेद हैं।
- ❖ इस गुणस्थान को बादर साम्पराय भी कहते हैं।

10. सूक्ष्म साम्पराय

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम 'सुहुम साम्पराय्य पविट्ठ सुद्धि संजद' है। साम्पराय का अर्थ कषाय है, जिस गुणस्थान में यह कषाय सूक्ष्म रह जाती है वह ही सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान कहलाता है। इसे सूक्ष्म कषाय, सूक्ष्म लोभ तथा सूक्ष्म सराग गुणस्थान भी कहते हैं।

सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। उनमें जिन संयतों की शुद्धि ने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत कहते हैं।¹ इस प्रकार का स्वरूप आचार्य वीरसेन स्वामी प्रदर्शित करते हैं। इसी तथ्य को उदाहरण देकर और अधिक पुष्ट

¹ ध. पु. 1/3

करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार कुसुमली रंग भीतर से सूक्ष्म रक्त अर्थात् कम लालिमा वाला होता है। उसी प्रकार सूक्ष्म राग सहित जीव को सूक्ष्म कषाय या सूक्ष्म साम्पराय जानना चाहिये।'

इस गुणस्थान में होने वाले आवश्यक कार्यों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि - पूर्व स्पर्द्धक से अपूर्वस्पर्द्धकों का अनुभाग, अपूर्वस्पर्द्धकों से बादर कृष्टि का अनुभाग और बादर-कृष्टि से सूक्ष्मकृष्टि का अनुभाग क्रमशः अनन्त गुणा हीन होता है। पहले-पहले वाले के जघन्य से बाद-बाद वाले का उत्कृष्ट अनुभाग और अपने उत्कृष्ट से अपना जघन्य अनुभाग भी अनन्तगुणे हीनक्रम से होता है।²

अब इनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य लिखते हैं-

स्पर्द्धक - अनेक प्रकार की शक्तियों से युक्त कार्मण वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

पूर्व स्पर्द्धक - अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के पहले जो स्पर्द्धक पाये जाते हैं उन्हें पूर्वस्पर्द्धक कहते हैं।

अपूर्व स्पर्द्धक - अनिवृत्तिकरण द्वारा जिसका अनुभाग क्षीण कर दिया गया है उन्हें अपूर्व स्पर्द्धक कहते हैं।

कृष्टि - कर्म की शक्ति को कृश (कम) करना ही कृष्टि कहलाता है।

बादर कृष्टि - अपूर्व स्पर्द्धक से अनन्त गुणी हीन शक्ति जिसमें हो उसे बादर कृष्टि कहते हैं।

सूक्ष्म कृष्टि - बादर कृष्टि से अनन्त गुणा हीन अनुभाग जिसमें हो वह सूक्ष्म कृष्टि कहलाता है।

यह गुणस्थान भी उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी दोनों में होता है। उपशम श्रेणी में सूक्ष्म लोभ के अतिरिक्त समस्त मोहनीय कर्म का उपशम पाया जाता है तथा क्षपक

प्रा. पं. सं. 1/22, गो. जी. गा. 59, भा. सं. गा. 654

गो. जी. गा. 58

श्रेणी में क्षय ही पाया जाता है। उपशम श्रेणी वाला इस गुणस्थान से आगे बढ़कर 11वें गुणस्थान में जाता है तथा क्षपक श्रेणी वाला जीव 12वें गुणस्थान में जाता है। इस गुणस्थान में सूक्ष्मसाम्पराय नामक चारित्र होता है जो कि यथाख्यात चारित्र से किञ्चित् न्यून होता है।'

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ चारित्र मोहनीय सम्बन्धी बीस प्रकृतियों का उपशम हो जाने के बाद संज्वलन लोभ कषाय जहाँ सूक्ष्मतर रह जाती है उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।
- ❖ साम्पराय अर्थात् कषाय, जहाँ कषाय सूक्ष्म होती है उसे सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं।
- ❖ जहाँ यथाख्यात चारित्र से कुछ न्यून चारित्र होता है उसे सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान कहते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में कषाय क्रमशः सूक्ष्मतर होती जाती है और गुणस्थान के अन्त में उसका उपशम या क्षय हो जाता है।
- ❖ इस गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त एवं सामान्यावस्था में जघन्य काल भी अन्तर्मुहुर्त है, परन्तु मरणापेक्षा एक समय है।
- ❖ उपशम श्रेणी वाला यहाँ से ऊपर ग्यारहवें गुणस्थान को, क्षपक श्रेणी वाला 12वें गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ उपशम श्रेणी से कालक्षय की अपेक्षा गिरने वाला 9वें गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ यदि उपशम श्रेणी चढ़ते समय अथवा उतरते समय मरण हो जावे तो यह जीव नियम से चौथे गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ इस गुणस्थान के अन्त में 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है। वे 5 ज्ञानावरण, 4 दर्शनावरण, 5 अन्तराय, यशः कीर्ति एवं उच्चगोत्र हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में अबंध योग्य 103 प्रकृतियाँ हैं। इस गुणस्थान में क्षपक श्रेणी की अपेक्षा 46 प्रकृतियों का असत्त्व होता है।

गो. जी. गा. 60

- ❖ उपशम श्रेणी की अपेक्षा द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के इस गुणस्थान में 6 प्रकृतियाँ असत्त्व योग्य हैं। वे अनन्तानुबंधी 4, नरकायु, तिर्यञ्चायु हैं।
- ❖ उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के 9 प्रकृतियाँ असत्त्व योग्य हैं। वे 7+2 आयु हैं।
- ❖ उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी का काल आधा होता है।
- ❖ उपशम श्रेणी सम्बन्धी 10वें गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट से 299 एवं जघन्य से 1 एकादि हो सकते हैं।

11. उपशान्त कषाय गुणस्थान

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम 'उवसंत कसाय वीयराय छद्मत्था' अर्थात् 'उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ' है। जिनकी कषाय उपशान्त (दमित/शान्त) हो गई है उन्हें उपशान्त कषाय कहते हैं। छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं। जो उपशान्त कषाय होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ होते हैं उन्हें उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इसमें आये हुए वीतराग विशेषण से दशम गुणस्थान तक के सराग-छद्मस्थों का निराकरण समझना चाहिये।

उपशान्त कषाय गुणस्थान को विशिष्ट प्रकार से प्रकाशित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि --

कसयाहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्लयं।

सयलोवसंत मोहो उवसंतकसाय होइ॥

अर्थात् कतकफल से सहित जल अथवा शरदकाल में सरोवर का पानी जिस प्रकार निर्मल होता है उसी प्रकार जिसका सम्पूर्ण मोहकर्म सर्वथा उपशान्त हो गया है, ऐसा उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीव अत्यन्त निर्मल परिणामवाला होता है।

ध. 1/198

पं. सं. प्रा. 1/24, ध. 1/16, गा. 122, गो. जी. गा. 61, पं. सं. 1/47

यहाँ आचार्यों का तात्पर्य है कि - जिस प्रकार शरद् ऋतु में कीचड़ सब तालाब के नीचे बैठ जाता है तथापि वह वायु आदि का निमित्त पाकर फिर ऊपर आ जाता है; उसी प्रकार आठवें, नवमें, दशमें, ग्यारहवें गुणस्थानों में जिस मोहनीय कर्म का उपशम किया था तथा ग्यारहवें गुणस्थान में आकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर दिया था वही मोहनीय कर्म इस ग्यारहवें गुणस्थान के अन्त समय में कारण पाकर उदय में आ जाता है। जब मोहनीय कर्म का उदय आ जाता है तब वे मुनि ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर सातवें आदि गुणस्थानों में आ जाते हैं।

इस गुणस्थान के पतन के दो कारण आचार्यों ने निर्दिष्ट किये हैं जो इस प्रकार हैं-1. कालक्षय 2. भवक्षय

कालक्षय - इस गुणस्थान की अवधि समाप्त हो जाने पर इस गुणस्थान का पतन हो जाता है। इसमें 11वें से गिरकर 10वें, 9वें, 8वें, 7वें, 6वें इस प्रकार क्रम से पतन होता है फिर 6-7वें गुणस्थान में बने रह सकते हैं। आचार्यों का कहना है कि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाने पर मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकते हैं।'

भवक्षय - 11वें गुणस्थान में ही किसी मुनिराज का मरण हो जाय तो वह मुनिराज 11वें से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में आ जाते हैं।

इस गुणस्थान में फिसलन होने के कारण इस से जीव गिरता ही है, क्योंकि जो कषायें उपशम कर देने से दब गई थीं वे पुनः उदय में आ जाती हैं और मुनिराज इस गुणस्थान से पतन को प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण इससे अपर को गमन नहीं हो पाता। इस गुणस्थान में चारित्र मोह की अपेक्षा औपशमिक भाव है और सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक भाव दोनों होते हैं।² इस गुणस्थान में जो 'वीतराग' पद है वह आदि दीपक है। इसका अभिप्राय यह है कि इस गुणस्थान से ऊपर सभी वीतराग ही पाये जाते हैं तथा इससे नीचे सभी सराग अवस्था में ही पाये जाते हैं। यह गुणस्थान उपशम श्रेणी की चरम अवस्था है।

उपशान्त मोह गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ एक समय में उदय में आने वाले कर्मों के समूह को निषेक कहते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान का पूरा नाम उपशान्त मोह छद्मस्थ वीतराग है।
- ❖ जहाँ पर सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम होने से वीतराग आ गई, परन्तु छद्मस्थ अवस्था है उसे उपशान्त मोह छद्मस्थ वीतराग कहते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान का जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त है।
- ❖ इस गुणस्थान वाला जीव नीचे गिरता ही है, गिरने के दो कारण हैं—काल क्षय, भव क्षय। गुणस्थान का समय पूर्ण होना काल क्षय, जीव की आयु पूर्ण होना भव क्षय है।
- ❖ काल क्षय से गिरने वाला जीव 10वें गुणस्थान को प्राप्त होता है तथा भवक्षय से गिरने वाला जीव चौथे गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ एक जीव की अपेक्षा इस गुणस्थान में पाँचों भाव सम्भव हैं।
- ❖ द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव एवं क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दोनों ही उपशम श्रेणी माड़ सकते हैं। इस अपेक्षा से यहाँ पाँचों भाव घटित हो जाते हैं।
- ❖ एक जीव एक भव में दो बार एवं संसार काल में चार बार प्राप्त हो सकता है।
- ❖ एक जीव की अपेक्षा इस गुणस्थान का जघन्य विरह काल अन्तर्मुहुर्त है एवं उत्कृष्ट विरह काल कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण है।
- ❖ जो जीव 4 बार उपशम श्रेणी माड़ लेते हैं वे 132 सागर के अन्दर कभी भी क्षपक श्रेणी माड़कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।
- ❖ वज्र नाराच संहनन एवं नाराच संहनन का उदय इसी गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं।
- ❖ प्रारम्भ के तीन संहनन वाले जीव इस गुणस्थान में पाये जा सकते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में मरण करने वाला जीव जघन्य से सौधर्म, ईशान स्वर्ग तक तथा उत्कृष्ट से सर्वार्थ सिद्धी तक उत्पन्न हो सकता है।

- ❖ इस गुणस्थान में ही मरण करने वाला जीव अनुत्तर विमानों में ही पैदा होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में किन्हीं आचार्यों की अपेक्षा एक शुक्लध्यान किन्हीं के अनुसार दो होते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में एक सातावेदनीय का ही बंध होता है जो कि एक समयवर्ती है। जिस समय कर्म का बंध होता है उसी समय बाद उदय में आकर नष्ट हो जाता है।
- ❖ इस गुणस्थान का नाना जीवों की अपेक्षा विरहकाल 1 समय जघन्य, 6 माह प्रमाण उत्कृष्ट है।

12. क्षीणमोह गुणस्थान

इस गुणस्थान का पूर्णनाम 'क्षीणकषाय वीतराय छद्मस्थ' है। अर्थात् क्षीण कषाय वीतराय छद्मस्थ है। जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराय होते हैं उन्हें क्षीणकषाय वीतराय कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण में रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराय होते हुए छद्मस्थ होते हैं क्षीणकषाय वीतराय छद्मस्थ कहते हैं।

इस गुणस्थान के स्वरूप को सोदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - मोहनीय कर्म सम्पूर्ण क्षीण हो जाने से जिसका चित्त स्फटिक के निर्मल भाजन में रखे हुए सलिल के समान स्वच्छ हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थ साधु को वीतरागियों ने क्षीणकषाय संयत कहा है।¹

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार निर्मली आदि से स्वच्छ किया हुआ जल शुद्ध स्वच्छ स्फटिक मणि के भाजन में नितरा लेने पर सर्वथा निर्मल, स्वच्छ एवं शुद्ध परिणाम वाला जानना चाहिये। यह गुणस्थान सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर प्राप्त होता है,² इसीलिये आचार्य इसको क्षीणमोह गुणस्थान भी कहते हैं।

¹ ध. 1/189

² प्रा. पं. सं. 1/25, ध. 1/123, गो. जी. गा. 62, भा. सं. गा. 662, पं. सं. सं. 1/48

³ रा. वा. 9/1/22

मोह दो प्रकार का है - द्रव्यमोह और भावमोह। प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश के भेद से द्रव्यमोह चार प्रकार का है। राग-द्वेष के भेद से भावमोह दो प्रकार का है। मोहनीय कर्मादय के चित्त में नाना प्रकार की तरंगें उठती थीं जिससे समचित्त (तरंगों रहित चित्त, निर्मलचित्त, शान्तचित्त) का अभाव था, किन्तु मोह के नष्ट हो जाने पर तरंगों का उठना समाप्त हो गया है। अतः समचित्त हो गया। यहाँ जो स्फटिक मणि के निर्मल भाजन में रखे जल का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध किया गया है कि - कीचड़ या मिट्टी की सत्ता का अभाव हो जाने से जल पुनः मलिन नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोह के सत्त्व का भी नाश हो जाने से चित्त पुनः मलिन नहीं हो सकता, अतः सर्वदा के लिये समचित्त हो गया।

क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव प्रथम समय से ही सर्व कर्मों के प्रकृति-स्थिति आदि का अबन्धक हो जाता है। मात्र योग के निमित्त से एकसमयवर्ती सातावेदनीय का ईर्यापथ आस्रव होता है। एक समय अधिक आवली मात्र छद्मस्थकाल के शेष रहने तक तीनों घातिया कर्मों की उदीरणा करता रहता है। इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा निद्रा और प्रचला का क्षय कर देते हैं। तदनन्तर चरम अर्थात् अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण की शेष प्रकृतियों और अन्तराय इनकी सभी प्रकृतियों और कुछ अघातिया कर्मों का भी क्षय करते हैं।'

आचार्य वीरसेन स्वामी प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि - क्षीणकषाय हुए जीव के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोद मरते हैं। दूसरे समय में विशेष अधिक जीव मरते हैं। इसी प्रकार तीसरे आदिक समयों में भी विशेष अधिक - विशेष अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषाय के प्रथम समय से लेकर आवलि पृथक्त्व काल तक चलता रहता है। इसके बाद इस गुणस्थान के काल में आवलि का संख्यातवाँ भाग काल शेष रहने तक संख्यात भाग अधिक जीव मरते हैं। इसके आगे के लगे हुए समय में असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीण कषाय के अन्तिम समय तक असंख्यात गुणे जीव मरते हैं।¹ इस गुणस्थान में इन जीवों का मरण किस कारण से होता है तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि ध्यान से निगोद जीवों की उत्पत्ति और

¹ ज. ध. मूल पृ. 2266, भा. सं. गा. 664

² ध. 14/5,6,93/85

उनकी स्थिति के कारण का निरोध हो जाता है। मुनिराज के अप्रमाद होने से, क्योंकि हिरण्य हिंसा से आस्रव नहीं होता इसलिये उनके महाव्रतों में कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है।

इस गुणस्थान में सम्यक्त्व और चारित्र्य दोनों की ही अपेक्षा क्षायिक भाव होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षयक श्रेणी चढ़ता हुआ 10वें गुणस्थान से सीधा 12वें गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है।

क्षीणमोह गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ 10वें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ का क्षय हो जाने से स्फटिक मणि के समान बर्तन में रखे हुए जल के समान आत्मा के निर्मल परिणाम होते हैं। वह क्षीणमोह गुणस्थान है।
- ❖ इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा, प्रचला का क्षय होता है, एवं अन्त समय में पाँच ज्ञानावरण, 4 दर्शनावरण एवं 5 अन्तराय इस प्रकार 16 प्रकृतियों का नाश होता है।
- ❖ किन्हीं आचार्यों की अपेक्षा से इस गुणस्थान में प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान होते हैं एवं किन्हीं के अनुसार एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान होता है।
- ❖ द्वितीय शुक्ल ध्यान के बल पर तीन घातिया कर्मों का नाश होता है।
- ❖ 10वें गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म की स्थिति समान हो जाती है तथा वे 12वें गुणस्थान में स्थितिकाण्डक घात के द्वारा बध्यमान स्थिति धीरे-धीरे क्षय होती जाती हैं। अन्त समय में एक साथ तीनों कर्मों का क्षय होता है।
- ❖ वज्र वृषभ नाराच संहनन वाला ही इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है।
- ❖ इस गुणस्थान के अन्त में उन मुनिराज के शरीर से समस्त बादर निगोदिया जीव एवं उनके योनिस्थान नष्ट हो जाते हैं।

- ❖ इस गुणस्थान वाला जीव नियम से 13वें गुणस्थान को प्राप्त होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में नियम से मरण नहीं होता है।
- ❖ इस गुणस्थान का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त होता है।
- ❖ इस गुणस्थान में कम से कम एक जीव तथा अधिक से अधिक 598 जीव हो सकते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान का जघन्य विरह काल एक समय एवं उत्कृष्ट विरह काल 6 माह है।

13. सयोग केवली गुणस्थान

इस गुणस्थान का नाम 'सयोग केवली' है। योग सहित होने से सयोग तथा केवलज्ञान से युक्त होने के कारण केवली होते हैं। जो केवलज्ञान से युक्त होते हुए भी योग सहित हैं वे सयोग केवली कहलाते हैं।

जिस कारण सब केवलज्ञान का विषय लोक-अलोक को जानते हैं और उसी तरह देखते हैं तथा जिनके केवल ज्ञान ही आचरण है इसीलिये वे भगवान केवली हैं।¹ घातिया कर्मों का (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) समूल नाश हो जाने से यह अवस्था प्राप्त होती है। इस गुणस्थान में अनन्त चतुष्टय इन चार कर्मों के अभाव का ही द्योतक है। ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन, मोहनीय कर्म के नाश होने से अनन्त सुख और अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से अनन्त वीर्य प्रकट होता है।² केवली सामान्य का लक्षण बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि - जिनका ज्ञान आवरण रहित है वे केवली कहलाते हैं।³ इसी परिभाषा का समर्थन कलिकाल सर्वज्ञ स्वरूप आचार्य वीरसेन स्वामी भी करते हैं। इसी प्रकरण में आचार्य अकलंक स्वामी भी परिभाषित करते हुए कहते हैं कि - ज्ञानावरण का अत्यन्त क्षय हो जाने पर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है जिनका ज्ञान इन्द्रिय, काल और दूर देशादि के व्यवधान से परे हैं और परिपूर्ण हैं वे

मू. आ. 564

भा. सं. गा. 666-667

स. सि. 6/13/331

केवली कहलाते हैं।¹ केवली सर्वज्ञ भी होते हैं और आत्मज्ञ भी। समस्त लोक-अलोक के पदार्थों को जानते और देखते हैं इसलिये वह व्यवहार नय की अपेक्षा सर्वज्ञ कहलाते हैं एवं स्वयं अपनी आत्मा को भी जानते हैं अतः निश्चय नय की अपेक्षा आत्मज्ञ कहलाते हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी ने सयोग केवली के स्वरूप को प्ररूपित करते हुए लिखा है कि -

घाइचउक्कविणासे उप्पज्ज सयल विमल केवलयां।

लोयालोयपयासं णाणं णिरूपद्दवं णिच्चं।²

अर्थात् जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उसी समय भगवान् के सकल निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वह केवलज्ञान लोक-अलोक सबको एक साथ प्रकाशित करता है। वह केवलज्ञान उपद्रव रहित एवं नित्य होता है। ऐसे केवलज्ञान से सहित केवली कहलाते हैं।

सयोग केवली के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि-जिनका केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से समस्त अज्ञान नष्ट हो चुका है, जिससे उन्हें परमात्मा की संज्ञा प्राप्त हुई है और असहाय ज्ञान एवं दर्शन से सहित होने के कारण केवली तथा घातिकर्मों के नाश होने से जिन एवं तीनों योगों से सहित होने के कारण वे सयोगी जिन अथवा केवली कहलाते हैं।³ इसी सन्दर्भ में आचार्य ब्रह्मदेव सूरि सयोग केवली के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि - समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों को एक साथ (युगपत्) सर्वथा क्षय करके मेघपटल से निर्गत सूर्य के समान केवलज्ञान की किरणों से लोकालोक प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभास्कर सयोग केवली कहलाते हैं।⁴

1 रा. वा. 9/1/23

2 भा. सं. 665

3 पं. सं. प्रा. 1/27-28, ध. 1/124-125, ज. ध. मूल पृ. 2270, गो. जी. गा. 63-64

4 बृ. द्र. सं. टीका 13/35

केवली के भेद

केवलज्ञान की अपेक्षा तो सभी केवली समान होते हैं, क्योंकि केवलज्ञान एक ही प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान है। जो भी केवली होता है वह 63 प्रकृतियों का नाश तथा द्वितीय शुक्ल ध्यान को ध्याकर ही बनता है। अतः इनमें भेद नहीं हो सकता है। फिर भी आचार्यों ने अलग-अलग अपेक्षाओं से केवली के भी भेद किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि केवली दो प्रकार के होते हैं¹-तद्भवस्थ अर्थात् जिस पर्याय में केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी पर्याय में स्थित केवली और सिद्ध केवली। कोई-कोई आचार्य केवली के दो ही भेद करते हैं - एक तीर्थङ्कर केवली और दूसरा सामान्य केवली। विशेष पुण्यशाली तथा साक्षात् उपदेशादि द्वारा धर्म की प्रभावना करने वाले तीर्थङ्कर होते हैं और इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य केवली होते हैं। सामान्य केवली भी दो प्रकार के होते हैं, कदाचित् उपदेश देने वाले और मूक केवली। उपरोक्त सभी केवलियों की दो अवस्थायें होती हैं - सयोग केवली और अयोग केवली। जब तक विहार एवं उपदेश आदि क्रियायें होती हैं तब तक सयोग केवली आयु के अन्तिम कुछ क्षणों में जब इन क्रियाओं को त्याग सर्वथा योग निरोध कर देते हैं तब वे अयोग केवली कहलाते हैं।

एक आचार्य केवलियों के सात भेद स्वीकार करते हैं² - पाँच कल्याणक वाले, तीन कल्याणक वाले, दो कल्याणक वाले, सामान्य केवली, मूक केवली, उपसर्ग केवली और अन्तःकृत केवली। यहाँ पर आचार्य का मन्तव्य यह है कि - विदेह क्षेत्र में तीन प्रकार के तीर्थङ्कर होते हैं - एक जो पूर्व में ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करके आते हैं उनके पाँच कल्याणक ही होते हैं, ऐसे तीर्थङ्कर अपने भरत क्षेत्र में भी होते हैं, लेकिन कुछ वहाँ श्रावक अवस्था में तीर्थङ्कर बन जाते हैं। अतः उनके तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक होने से वह तीन कल्याणक वाले तीर्थङ्कर कहलाते हैं। जो मुनि अवस्था में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करते हैं और उसी भव में तीर्थङ्कर बनते हैं तो उनके ज्ञान और मोक्ष दो कल्याणक होते हैं, इसीलिये वह दो कल्याणक वाले तीर्थङ्कर कहलाते हैं। इस प्रकार विदेह क्षेत्र में तीन प्रकार के तीर्थङ्कर होते हैं। जिन केवलियों के ऊपर मुनि

1 क. पा. 1/1/16

2 जै. सि. को. भाग 2, पृ. 155

3 सत्ता स्वरूप 38

अवस्था में उपसर्ग हुआ था वे उपसर्ग केवली कहलाते हैं। जिनके ऊपर ऐसा उपसर्ग होता है कि उनका मरण समीप आ जाता है और आवृ के अन्तिम अन्तर्महर्त में केवली होकर मोक्ष भी चले जाते हैं, वह अन्तःकृत केवली कहलाते हैं। जैसे-तीन पाण्डव, गजकुमार मुनि आदि।

यहाँ कोई शङ्काकार शङ्का करता है कि केवली भगवान् कवलाहारी अर्थात् आहार को हाथ से उठाकर मुँह में देकर भोजन करते हैं। जब वे समवसरण में विराजमान होते हैं, क्योंकि उनके भी औदारिक शरीर का सद्भाव होता है। अन्य मनुष्य आदि के समान असाता वेदनीय कर्म का उदय होने से कवलाहार होता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - उन केवली भगवान् का शरीर औदारिक नहीं होता अपितु परमौदारिक होता है - 'शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधामुविवर्जितम्।'

असाता वेदनीय के उदय से जो कवलाहार कहा है उसका परिहार करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार किसी बीज को अंकुरित करने के लिये जल सहकारी कारण होता है वैसे ही असाता वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधादि कार्य मोहनीय कर्म के उदय के साथ ही सम्भव है और केवली भगवान् के मोहनीय कर्म का तो सर्वथा अभाव है। यदि मोह के उदय का अभाव होने पर भी क्षुधादि परीषह उत्पन्न होते हैं तो वध रोगादि परीषह भी उत्पन्न हो जायेंगे परन्तु भगवान् के भुक्ति और उपसर्ग का अभाव होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो उनके अनन्तवीर्य नहीं होगा और क्षुधा की वेदना को न सह पाने के कारण उनके अनन्त सुख भी नहीं होगा। और भी कहते हैं कि - रसना इन्द्रिय रूप परिणत मतिज्ञान होने से उनके केवलज्ञान का भी अभाव हो जायेगा जो कि कदापि सम्भव नहीं है। यहाँ पर असाता वेदनीय की अपेक्षा साता वेदनीय कर्म का उदय अनन्तगुणा है। जैसे महान् शर्करा राशि के मध्य में नीम का एक कण होते हुए भी विद्यमानता को प्राप्त नहीं हो पाता। वैसे ही एक और बाधक को कहते हैं - जैसे प्रमत्त संयतादि के वेद का उदय होने पर भी मन्द मोह के उदय होने से स्त्रीपरीषह बाधा नहीं होती, जैसे नवग्रैवेयक आदि अहमिन्द्रों के वेद का उदय होने पर भी मोह का मन्द उदय

होने से स्त्रीविषय बाधा नहीं है, वैसे ही भगवान् में असाता वेदनीय का उदय होने पर भी सम्पूर्ण मोह का नाश होने से क्षुधा बाधा नहीं है।

अब यहाँ कोई पुनः शङ्का करता है कि मिथ्यादृष्टि आदि सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानों वाले जीव आहारक होते हैं, ऐसा आगम में आहारक मार्गणा में कहा है इसलिये केवलियों के आहार होता है। तो आचार्य कहते हैं कि - आहार 6 प्रकार के होते हैं-नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिकाहार।¹ इनमें से नोकर्माहार की अपेक्षा केवली के आहारकपना जानना चाहिये, न कि कवलाहार की अपेक्षा। कवलाहार के बिना भी कुछ कम एक पूर्व कोटि तक शरीर की स्थिति के कारणभूत प्रतिक्षण पुद्गलों का आस्रव होता है, क्योंकि उनका शरीर परमौदारिक है और लाभान्तराय कर्म का सम्पूर्ण नाश हो चुका है इसलिये केवलियों के नोकर्माहार की अपेक्षा ही आहारकपना है।² यहाँ कोई शंका करता है कि - नोकर्माहार की अपेक्षा से आहारकपना और अनाहारकपना यह आपकी कल्पनामात्र है, तब इसका समाधान करते हुए आचार्य जयसेन स्वामी लिखते हैं कि - तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में 'एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः' इस सूत्र में कहा गया है कि यह जीव जब एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाता है तब वह एक समय, दो समय और तीन समय तक अनाहारक रहता है। नोकर्माहार का लक्षण बताते हुए कहा है तीनों शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिण्ड का ग्रहण करना नोकर्माहार कहा जाता है।³ ऐसा आगम में बताया गया है। यहाँ पुनः कोई शंका करता है कि - बिना आहार के कोई भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता वर्तमान मनुष्यवत्। इस दोष का परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं - प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिराज यद्यपि आहार ग्रहण करते हैं तथापि वह ज्ञान, संयम, ध्यान की सिद्धि के लिये करते हैं न कि शरीर की पुष्टि के लिये। इसी तरह देवगति के देवता भी कई-कई दिनों तक भोजन नहीं करते हैं और फिर भी उनकी कई दिनों तक स्थिति देखी जाती है। अतः परमौदारिक शरीर होने से केवली के भुक्ति का अभाव होता है।

1 भा. स. गा. 110

2 प्र. सा. गा. 20 टीका

3 वही

इसी सन्दर्भ में आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि जो पुरुष कवलाहार करता है वह सोता भी है। जो सोता है वह पुरुष अन्य अनेक इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है तथा जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह वीतराग और सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।¹

यद्यपि केवली भगवान् के नोकर्माहार और कर्माहार आगम में बतलाया है परन्तु वह भी उपचार से बतलाया है। निश्चय नय से देखा जाय तो वह भी नहीं है। इसका भी कारण यह है कि केवली भगवान् परम वीतरागी हैं, इसलिये उनके आहार की कल्पना हो ही नहीं सकती। फिर भी केवली भगवान् के कवलाहार मानना अज्ञानता ही है और ऐसा कहने से केवली का अवर्णवाद होता है जिससे दर्शन मोहनीय का ही आस्रव होता है।²

आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि केवली उपसर्ग, कषाय और क्षुधादिक बाईस परीषहों एवं राग-द्वेष से परित्यक्त हैं।³ यहाँ कोई शंका करता है कि जब मोहनीय का सद्भाव नहीं है तो 'एकादश जिने' इस प्रकार उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में 11 परीषह क्यों माने हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्य पूज्यपाद एवं अकलंक स्वामी कहते हैं कि द्रव्यकर्म के सद्भाव की अपेक्षा यहाँ परीषहों का उपचार किया गया है जबकि वेदना का तो यहाँ अभाव है।⁴ यहाँ आचार्य का यह आशय है कि घातिया कर्म रूपी सहायक के अभाव से अन्य कर्मों की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है जैसे मन्त्र-औषधि के प्रयोग से जिसकी मारण शक्ति क्षीण हो गई है ऐसे विष को खाने पर भी मरण नहीं होता इसीलिये असाता का उदय होने पर भी केवली भगवान् के क्षुधादि परीषह उपचार से होते हैं।

पञ्चेन्द्रियों के विषय में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि - केवलियों के यद्यपि भावेन्द्रियों का नाश हो चुका है और बाह्य इन्द्रियों का व्यापार भी बन्द हो गया है तो भी छद्मस्थ अवस्था में भावेन्द्रियों के निमित्त से निर्मित हुई द्रव्येन्द्रियों के सद्भाव

1 भावसंग्रह गा. 114

2 त. सू. 6/13

3 ति. प. 1

4 स. सि. 9/11, रा. वा. 9/11/1

की अपेक्षा उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहा गया है।¹ इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय जाति नाम कर्म का उदय होने से केवली पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। यहाँ और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि - आवरण के क्षीण होने से, पञ्चेन्द्रियों के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने पर भी क्षयोपशम से उत्पन्न और उपचार से क्षयोपशमिक संज्ञा को प्राप्त पाँचों बाह्येन्द्रियों का अस्तित्व पाये जाने से सयोगी और अयोगी जिनों के पञ्चेन्द्रियत्व सिद्ध होता है।²

केवली के मन तथा मनोयोग होता है या नहीं, इसके विषय में आचार्य कहते हैं कि - सयोग केवली के वास्तविक रूप से देखा जाय तो मन नहीं है फिर भी छद्मस्थ जीवों के वचन मनोयोग पूर्वक होते हैं उस बात को देखकर केवली के दिव्यध्वनि रूप वचन देखकर इनके भी उपचार से मनोयोग स्वीकार किया है। और भी कारण बताते हुए कहते हैं कि - केवली के द्रव्यमन मौजूद है तथा उनके मनोवर्गणा का ग्रहण भी पाया जाता है, इन कारणों से इन्द्रियज्ञान से रहित होते हुए भी उनके मन का सद्भाव तथा मनोयोग उपचार से माना जाता है।³

योगों के विषय में आचार्य कहते हैं कि वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर भी सयोगकेवली के तीन प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा आत्मप्रदेश में परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिये।⁴

द्रव्येन्द्रियों के अभाव होने के कारण केवली के कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं।⁵

सयोग केवली के लेश्या के विषय में आचार्यों का यह मत है कि - जो योगप्रवृत्ति कषाय के उदय से अनुरंजित है वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापन नय की अपेक्षा उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानों में भी लेश्या का उदय मान्य है।⁶ यहाँ

1 ध. 1/37

2 ध. 7/15

3 गो. जी. का. ग. 228-229

4 स. सि. 6/1, ध. 1/123

5 ध. 2/1, 1/444

6 स. सि. 2/6/160, रा. वा. 2/6/8/109, गो. जी. का. गा. 533

आचार्य कहते हैं कि - शरीर नामकर्मोदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्म के बन्ध में निमित्त होता है। इस कारण कषाय के नष्ट हो जाने पर भी चूँकि योग रहता है, इसलिये क्षीणकषाय जीवों के लेश्या मानने में कोई विरोध नहीं आता।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि केवली में बुद्धिपूर्वक सावद्ययोग की निवृत्ति तो पाई नहीं जाती है इसलिये उनमें संयम का अभाव हो जाता है। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - चार घातिया कर्मों के विनाश करने की अपेक्षा और समय-समय में असंख्यातगुणी श्रेणी रूप से कर्म निर्जरा करने की अपेक्षा समस्त पापक्रिया के निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रकट हो जाता है इसलिये इस अपेक्षा से वहाँ संयम का उपचार किया जाता है। अथवा वहाँ प्रवृत्ति के अभाव की अपेक्षा मुख्य संयम है।

इस गुणस्थान में सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती नामक तृतीय शुक्ल ध्यान होता है।¹ यहाँ कोई शंका करता है कि केवली के मन का निरोध तो बनता नहीं है तब फिर उनके ध्यान कैसे बन सकता है? क्योंकि मन का निरोध किये बिना ध्यान नहीं बन सकता है। इसका परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि - यहाँ उपचार से योग का अर्थ चिन्ता है। उसका एकाग्र रूप से निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यान में किया जाता है वही ध्यान यहाँ ग्रहण किया गया है। इसका आशय यह है कि - एकाग्ररूप से जीव के चिन्ता का निरोध अर्थात् परिस्पन्द का अभाव होना ही ध्यान है। इस दृष्टि से यहाँ ध्यान की संज्ञा दी गई है।² तो फिर केवली क्या ध्यान करते हैं? तो बताते हैं कि - अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ यह जीव सर्वबाधा रहित और सम्पूर्ण आत्मा में परिपूर्ण सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध रहता हुआ परम सौख्य का ध्यान करता है।³

इस गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में यदि अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा होती है तो वह केवली, केवली समुद्घात करते हैं। इस समुद्घात के

-
- 1 ध. 1/124
 - 2 भा. सं. गा. 668
 - 3 ध. 13/26
 - 4 प्र. सा. गा. 198

द्वारा तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कर देते हैं। आचार्य अकलंक स्वामी समुद्घात की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - जैसे मंदिरा में फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह देहस्थ आत्मप्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीर में समा जाते हैं उसे समुद्घात कहते हैं।¹ समुद्घात 7 होते हैं। उनमें से प्रसंगवशात् केवलीसमुद्घात के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि - दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जीवप्रदेशों की अवस्था को केवलीसमुद्घात कहते हैं।² केवली समुद्घात के चार भेद होते हैं जैसा कि आचार्य वीरसेन स्वामी ने केवलीसमुद्घात के स्वरूप वर्णन में उल्लेख भी किया है-दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण। इनका स्वरूप इस प्रकार है³-

दण्ड - जिसकी अपने विष्कम्भ से कुछ अधिक तिगुणी परिधि है ऐसे पूर्व शरीर के बाह्यरूप दण्डाकार से केवली के जीव प्रदेशों का कुछ कम चौदह राजु उत्सेधरूप फैलना दण्ड समुद्घात कहलाता है। इस अवस्था में जीव के प्रदेश डण्डे के समान लम्बे आकार में त्रस नाड़ी में फैल जाते हैं। ये कुछ कम चौदह राजु में फैलते हैं इसमें कुछ कम का अर्थ है - जो चारों तरफ तीन वलय हैं वे नीचे और ऊपर इन जीव के प्रदेशों से इस अवस्था में रिक्त रहते हैं।

कपाट - दण्ड समुद्घात में बताये गये बाह्य और आयाम के द्वारा पूर्व-पश्चिम में वातवलय से रहित सम्पूर्ण क्षेत्र के व्याप्त करने का नाम कपाट समुद्घात है। यहाँ यह आशय है कि अब आत्मा के प्रदेश कपाट अर्थात् दरवाजे के समान पूर्व और पश्चिम में खुल जाते हैं अर्थात् फैल जाते हैं।

प्रतर - केवली भगवान् के जीव प्रदेशों का वातवलय से रुके हुए क्षेत्र को छोड़कर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होने का नाम प्रतर समुद्घात है। यहाँ आचार्य का तात्पर्य यह है कि जो निस्कृष्ट आदि क्षेत्र शेष रह गया था, उसमें वातवलय को छोड़कर आत्मप्रदेश फैल जाते हैं।

1 रा. वा. 1/20/12

2 ध. 13/2/61/300/9

3 ध. 4/1,8,2/28/8

लोकपूरण - घन लोक प्रमाण केवली भगवान् के जीवप्रदेशों का सर्वलोक के व्याप्त करने को लोकपूरण समुद्घात कहते हैं। यहाँ यह आशय है कि आत्मप्रदेश जो वातवलय शेष रह गये थे अब उनमें भी फैल जाते हैं। इस तरह सम्पूर्ण लोक के प्रत्येक प्रदेश में आत्म प्रदेश व्याप्त हो जाते हैं।

केवली समुद्घात करने से सभी अधातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त कैसे हो जाती है? जबकि उनकी स्थिति ज्यादा होती है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सिमटी हुई गीली साड़ी को फैला दिया जाय तो वह तुरन्त सूख जाती है। इसी प्रकार आत्मप्रदेशों को सम्पूर्ण लोक में फैला दिया जाता है जिससे कर्मों की स्थिति अनुभागादि शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त हो जाती है। जबकि केवली समुद्घात के होने में मात्र आठ समय लगते हैं।¹ इसमें दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण फिर प्रतर, कपाट, दण्ड और स्वशरीर प्रवेश इस तरह आठ समय लगते हैं।²

केवली समुद्घात किन-किन जीवों के होता है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - जिनकी आयु 6 माह शेष रह गई हो और ऐसे में उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हो तो वे केवली नियम से समुद्घात करते हैं। शेष केवली कर भी सकते हैं नहीं भी करते हैं, कोई नियम नहीं है।³

परन्तु यतिवृषभाचार्य के अनुसार सभी केवली, केवली समुद्घात करके ही भुक्ति को प्राप्त होते हैं। केवली समुद्घात के आठ समयों में दण्ड द्विक अर्थात् पहले और सातवें समय की दोनों अवस्थाओं में औदारिक काय योग होता है।⁴ कपाट समुद्घात के दो समय दूसरा और छठवाँ समय में औदारिक मिश्र काय योग होता है और प्रतर, लोकपूरण और प्रतर इन तीसरे, चौथे, पाँचवें समय में कार्मण काय योग हैं तथा इन्हीं तीनों समयों में नोकर्माहार का ग्रहण नहीं होता है इसलिये अनाहारक होते हैं। शेष समयों में आहारक रहते हैं।⁵

1 रा. वा. 1/20/12, भ. आ. 2113-2116

2 पं. सं. प्रा. गा. 197,198, भ. आ. 2115, क्ष. सा. 627

3 भ. आ. 2109, पं. सं. प्रा. 1/200, ध. 1/30, ज्ञा. 42/42, व. श्रा. 530

4 पं. सं. प्रा. 199

5 क्ष. सा. 619

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जिन केवलियों के केवल समुद्घात नहीं होता है उनके अघातिया कर्मों की स्थिति आयु कर्म के बराबर कैसे होती है? तो इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि स्थितिकाण्डक घात के द्वारा उक्त स्थिति का घात बन जाता है।¹

इस प्रकार इस गुणस्थान में यह केवलीसमुद्घात की एक विशेष प्रक्रिया भी होती है। परन्तु इस गुणस्थान में कोई भी कर्म प्रकृति नाश को प्राप्त नहीं होती है।

सयोग केवली गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ घातियों कर्मों की 47, नामकर्म की 13 एवं आयु कर्म की 3, इस प्रकार 63 प्रकृतियों के क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त हो गया है तथा योग से सहित है ऐसे जीव सयोग केवली कहलाते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में सयोग पद अन्त दीपक और केवली पद आदि दीपक है। सयोग केवली जीव अनन्त चतुष्टय एवं नव केवल लब्धियां से युक्त होते हैं। घातिया कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने वाले होने से इन्हें अरिहन्त कहते हैं।
- ❖ जरा, व्याधि, जन्म, मरण आदि से रहित होने से ये अरिहन्त कहलाते हैं।
- ❖ केवलज्ञान को असहाय ज्ञान भी कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन और आलोक आदि की सहायता नहीं होती है।
- ❖ केवलज्ञान होते ही सामान्य केवली चित्रा पृथ्वी से 500 धनुष ऊपर एवं तीर्थङ्कर केवली 5000 धनुष ऊपर चले जाते हैं।
- ❖ समवसरण में जब किन्हीं मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तो वे जहाँ विराजमान हैं वहाँ से चार अंगुल ऊपर उठ जाते हैं।
- ❖ तीर्थङ्करों की तीन बार अथवा चार बार दिव्यध्वनि खिरने का नियम है। सामान्य केवली की देशना कभी भी खिर सकती है।

¹ ध. 13/31

- ❖ केवली समवसरण में जब तक स्थित हैं तब तक उनकी देशना नहीं खिरती है। समवसरण के बाहर जाने पर देशना हो भी सकती है, नहीं भी। तीर्थङ्कर केवली की दिव्यध्वनि वर्ष पृथक्त्व नियम से खिरती है।
- ❖ सामान्य केवली का जघन्य काल अन्तर्मुहुर्त एवं उत्कृष्ट काल 8 वर्ष अन्तर्मुहुर्त कम एक पूर्व कोटि प्रमाण है।
- ❖ सामान्य केवली की अपेक्षा दिव्यध्वनि खिरने का उत्कृष्ट काल 8 वर्ष अन्तर्मुहुर्त कम एक पूर्व कोटि है।
- ❖ इस गुणस्थान में हर अन्तर्मुहुर्त बाद से सातावेदनीय एवं असातावेदनीय का उदय युगपत् होता है तथा बीच के काल में बंधी एवं बंधने वाली साता का उदय होता है।
- ❖ इस गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहुर्त में यदि अघातिया कर्म की स्थिति अन्तर्मुहुर्त से ज्यादा है, तो वे केवली, केवली-समुद्घात करते हैं।
- ❖ समुद्घात के बल पर तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अन्तर्मुहुर्त कर देते हैं।
- ❖ जिन जीवों को उम्र पूर्ण होने से 6 माह पूर्व केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, वे जीव नियम से समुद्घात करते हैं। 6 माह से अधिक स्थिति वाले जीव समुद्घात करें अथवा न करें।
- ❖ इस गुणस्थान के जीवन काल में अन्तिम अन्तर्मुहुर्त को छोड़कर कोई भी ध्यान नहीं होता है।
- ❖ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरा शुक्ल ध्यान अन्तिम अन्तर्मुहुर्त में होता है, जिसके बल पर सूक्ष्म काय योग का निरोध होता है।
- ❖ तीसरे शुक्ल ध्यान के बल पर ही तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु के बराबर होती है।
- ❖ इस गुणस्थान वाले जीव को भूख-प्यासादि 18 दोष नहीं होते।
- ❖ इस गुणस्थान में केवल सातावेदनीय का ही बंध होता है जो कि उसी समय फल देकर खिर जाता है।

- ❖ इस गुणस्थान में 42 प्रकृतियों का उदय तथा 85/84 प्रकृतियों की सत्ता होती है।
- ❖ सातावेदनीय कर्म का बंध एवं योग सद्भाव यहीं तक है।
- ❖ इस गुणस्थान में किसी भी कर्म का क्षय नहीं होता।
- ❖ इस गुणस्थान में 30 प्रकृतियों को उदय व्युच्छिति होती है।
- ❖ कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण ही होते हैं।
- ❖ शरीर नामकर्म का उदय इसी गुणस्थान तक है। अन्तिम शरीर से कुछ कम जो सिद्धों की अवगाहना है वह इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाती है।
- ❖ शरीरघाती उपसर्ग किन्हीं मुनि के हो और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो नियम से वे अन्तकृत केवली कहलाते हैं, और अन्तर्मुहुर्त बाद उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

14. अयोग केवली गुणस्थान

इस गुणस्थान का पूर्ण नाम 'अयोग केवली' है। योग से रहित होने से अयोग तथा केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने से केवली संज्ञा प्राप्त होती है। जो योगरहित होते हुए केवली होता है उसे अयोग केवली कहा गया है।¹ अयोग केवली का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जो अट्ठारह हजार शीलों के स्वामी हैं, जो आस्रवों से रहित हैं, जो नूतन बंधने वाले कर्मरज से रहित हैं और जो योग से रहित हैं तथा केवलज्ञान रूपी सूर्य से सहित हैं, उन्हें अयोगी परमात्मा कहा जाता है।² और विशेषतायें बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - जिनके पुण्य और पाप के संजनक अर्थात् उत्पन्न करने वाले शुभ और अशुभ योग नहीं होते हैं वे अयोगी जिन कहलाते हैं, जो कि अनुपम और अनन्तगुणों से सहित हैं।³ और अधिक सरल और स्पष्ट भाषा में व्यक्त करते हुए ब्रह्मदेव सूरी लिखते हैं कि - मन, वचन, काय वर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में

¹ रा. वा. 9/1/24

² प्रा. पं. सं. 1/30, ध. 1/21, गो. जी. का. गा. 65

³ जेसिं ण सति जोगा, सुहासुहा पुण्णपापसंजणया।

ते होति अजोइजिणा, अणोवमाणंतगुणकलिया।। प्रा. पं. सं. अ. 1/100

कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन रूप योग है, उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं।'

आचार्य देवसेन स्वामी ने अयोग केवली के स्वरूप को विशेष रूप से अपने भावसंग्रह ग्रन्थ में उल्लिखित किया है। आचार्य लिखते हैं कि - सयोग केवली गुणस्थान के पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में आकर अघातिया कर्मों का क्षय करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं। इस गुणस्थान का काल लघुषञ्चाक्षर के उच्चारण मात्र है।² अर्थात् यहाँ आचार्य के कथन का आशय यह है कि वचनबल ऋद्धि के धारक मुनिराज जो अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठ कर लेते हैं ऐसे मुनिराज जितने समय में अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरों का उच्चारण करते हैं उतना समय चौदहवें गुणस्थान का होता है। इस गुणस्थान में कैसी स्थिति होती है? यह बताते हुए आचार्य कहते हैं कि इस गुणस्थान में समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है तथा चौथा शुक्ल ध्यान जो कि व्युपरत क्रिया निवर्ति नाम का है, होता है। इस गुणस्थान में क्षायिक और शुद्ध भाव होते हैं, इसीलिये वे भगवान् निरञ्जन और परम वीतरागी कहे जाते हैं।³ इस गुणस्थान के अन्त में उनका वह परमौदारिक शरीर शिथिल होकर गल जाता है, कई आचार्य ऐसा मानते हैं कि उनका परमौदारिक शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है तथा उनके घनीभूत निविड आत्मा के प्रदेश शुद्ध स्वभाव रूप होकर रह जाते हैं। इस प्रकार वे भगवान् परमात्मा हो जाते हैं।⁴

इस गुणस्थान में चौथे शुक्लध्यान के द्वारा 85 कर्म प्रकृतियों का नाश होता है। इस गुणस्थान के उपान्त्य समय में 72 प्रकृतियों का और अन्तिम समय में 13 प्रकृतियों का क्षय होता है। समस्त कर्मों का नाश होते ही जीव मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

इस गुणस्थान में ध्यान के विषय में आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार का ध्यान सयोग केवली के होता है, उस प्रकार का भी ध्यान इसमें नहीं होता है। इस गुणस्थान में वास्तव में ध्यान होता ही नहीं है। इसमें तो भूतार्थनय की अपेक्षा से उपचार से ध्यान

¹ वृ. द्र. सं. टीका 13

² भा. सं. गा. 679

³ भा. सं. गा. 681

⁴ भा. सं. गा. 680

माना जाता है, क्योंकि कर्मों का नाश बिना ध्यान के नहीं होता और चौदहवें गुणस्थान में अघातिया कर्मों का नाश होता है। इसलिये उपचार से ध्यान माना जाता है वास्तविक नहीं।¹ ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्प ये सब मन सहित जीवों के होते हैं, 13वें, 14वें गुणस्थान में मन नहीं होता है। मन की प्रवृत्ति कार्मण काय योग से होती है, जहाँ कार्मण काय योग, वहाँ कर्म का उदय, जहाँ उदय वहाँ शुभ-अशुभ विकल्प होते हैं। जहाँ अशुभोपयोग वहाँ अशुभ ध्यान, जहाँ शुभोपयोग वहाँ शुभ ध्यान होता है और जहाँ शुद्धोपयोग होता है वहाँ शुद्ध ध्यान होता है। वह शुद्ध ध्यान भी दो प्रकार का है - आस्रव सहित और आस्रव रहित। प्रारम्भ के तीन शुक्लध्यान आस्रव सहित होते हैं और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्रव अर्थात् आस्रव रहित होता है। यही चौथा शुक्लध्यान उपचार से 14वें गुणस्थान में होता है।² चौथा शुक्ल ध्यान ही है जिसमें कोई योग नहीं होता अन्यथा प्रथम शुक्ल ध्यान में तीनों योग, द्वितीय शुक्लध्यान में तीनों में से कोई एक योग और तृतीय शुक्ल ध्यान में काय योग होता है।³ इस गुणस्थान में रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट संख्या 598 है।

अयोग केवली गुणस्थान की विशेषतायें

- ❖ केवली भगवान् के योग का अभाव होने पर मोक्षगमन रूप अत्यन्त विशुद्धि होती है, उसे अयोग केवली गुणस्थान कहते हैं।
- ❖ 18 हजार प्रकार के शील के स्वामी होते हैं, जिनके सम्पूर्ण कर्मों का संवर हो चुका है, जो अघातिया कर्मों का क्षय करने के चतुर्थ शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हो चुके हैं, ऐसे योग से रहित केवली अयोग केवली कहलाते हैं।
- ❖ वचनबल ऋद्धि के धारक मुनिराज को अ इ उ ऋ लृ ये पाँच लघु अक्षर बोलने में जितना समय लगता है, उतना काल इस गुणस्थान का है।
- ❖ इस गुणस्थान में साता अथवा असाता किसी एक का उदय रहता है, बल्कि साता दोनों की है।

¹ भा. सं. गा. 682

² वही माथा 684-686

³ त. सू. 9/40

- ❖ इस गुणस्थानवर्ती जीव के एक आयु प्राण होता है।
 - ❖ इस गुणस्थान में शरीर नामकर्म का उदय नहीं होता है, परन्तु शरीर होता है।
 - ❖ इस गुणस्थान में शरीर का जैसा आकार होता है सिद्धों के आत्मप्रदेशों का आकार भी वैसा ही होता है।
 - ❖ इस गुणस्थान में 85 प्रकृतियों की सत्ता होती है, जिनमें से उषान्त्य समय में 72 और अन्त्य समय में 13 प्रकृतियों का नाश होता है।
 - *❖ (A) मोक्ष होने पर इनका शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है। नख, केश रह जाते हैं, जिन्हें देवतागण अग्नि में संस्कार करके उसकी राख अपने-अपने मस्तक पर लगाते हैं।
 - (B) मोक्ष प्राप्ति होने पर उनका शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है, देवतागण आकर उस शरीर का अग्नि संस्कार करते हैं और अस्थियों को क्षीरोदधि समुद्र में विसर्जित कर देते हैं।
 - (C) मोक्षप्राप्ति होने पर उनका पार्थिव शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है। देवतागण मायावी शरीर की रचना करके अग्नि संस्कार करते हैं।
- इस प्रकार इस सम्बन्ध में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं।
- ❖ 14वें गुणस्थानवर्ती जीव का काल हमेशा समान होता है।
 - ❖ इस गुणस्थान का जघन्य विरह काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल 6 माह प्रमाण है।
 - ❖ इस गुणस्थान में जीव निरन्तर प्रवेश करें जघन्य काल दो समय है एवं उत्कृष्ट काल 8 समय है। 8 समय के बाद नियम से विरह होता है।
 - ❖ 6 महीने 8 समय में 608 जीव इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। न कम न ज्यादा।
 - ❖ यदि 6 माह का विरहकाल पड़े तो इस गुणस्थान में अगले 8 समय में प्रवेश का क्रम इस प्रकार से होगा-पहले समय में 32, द्वितीय समय में 48, तीसरे समय में

60, चतुर्थ समय में 72, पंचम समय में 84, छठवें समय में 96, सप्तम समय में 108 और अष्टम समय में 108। इस प्रकार 608 जीव इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं।

- ❖ मोक्षप्राप्ति के लिये दो आसन बताये गये हैं, एक पद्मासन, एक खड्गासन।
- ❖ जिनकी अवगाहना 7 हाथ से कम होती है वे जीव खड्गासन से मोक्ष जाते हैं। इससे अधिक अवगाहना वाले जीव दोनों आसनों से मोक्ष जाते हैं।
- ❖ इस गुणस्थान में अघातिया कर्मों का तीव्र उदय होता है और अन्त्य समय में मन्द उदय होता है। इसलिये परम यथाख्यत चारित्र इस गुणस्थान के अन्त में होता है और जीव समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।
- ❖ किस गुणस्थान में कितनी कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है इसके लिए एक तालिका निम्न है-

गुणस्थान	कर्म प्रकृतियों का क्षय
4-7	7
9	36
10	1
12	16
14	<u>85</u>
	145

गुणस्थानातीत सिद्ध

जिस जीव ने अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है और जो संसार और गुणस्थानों आदि की संज्ञा से अतीत हो गये हैं वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं। उनके नाम से ही ज्ञात होता है कि जिसने अपने आपकी सिद्धि कर ली है वह सिद्ध है। सिद्ध का स्वरूप कैसा होता है? तो इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि - आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य ऐसे वे सिद्ध होते हैं।¹

¹ नि. सा. 72, क्रि. क. 3/1/2/142

सिद्धों के स्वरूप में और विशेषता व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

अट्ठविह कम्म-वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।

अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।¹

अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों से रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरञ्जन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं वे सिद्ध भगवान् हैं।

इस गाथा में दिया गया एक-एक शब्द सिद्ध भगवान् की विशेषता को प्रकट करने वाला है। आचार्य का आशय यह है कि - सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्ध-साध्य ये एकार्थवाची हैं।² मुक्तजीव सिद्ध होते हैं। वे सिद्ध भगवान्, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन मूलप्रकृति रूप आठ कर्मों का, इन्हीं की उत्तर प्रकृतियाँ 148 हैं और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात हैं, अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अनन्त हैं, इन सबका क्षय और इन सब प्रकृतियों सम्बन्धी स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के बन्ध, उदय और सत्त्व आदि का सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने से इन कर्मों से 'विपला' विगत अथवा प्रत्युत हैं।

दूसरा विशेषण है 'सीदीभूदा' पूर्व संसारावस्था में जन्म-मरणादि दुःखों से तथा राग-द्वेष-मोह रूप दुःखों के ताप से तप्त अशान्त थे। अब मोक्षावस्था में इन सबका अभाव हो जाने से और आत्मोत्पन्न अनन्त सुखामृत का पान करने से अत्यन्त शान्त हो गये हैं।

तृतीय विशेषण है 'णिरंजणा' अर्थात् अंजन, कज्जल, कालिमा रहित। यह कालिमा जिस प्रकार पदार्थ के स्वरूप को मलिन कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म विशुद्ध आत्मस्वभावादि की मलिनता का कारण होने से कर्म अञ्जन हैं। इन कर्मों को निष्क्रान्त कर देने से सिद्ध भगवान् निरञ्जन हैं।

चतुर्थ विशेषण है 'णिच्चा' अर्थात् नित्य। यद्यपि सिद्धों में प्रतिसमय अगुरुलघुगुण के द्वारा स्वभाविक अर्थ पर्याय रूप उत्पाद व्यथ होता रहता है तथापि

¹ पं. सं. प्रा. 1/31, ध. 1/23, गो. जी. का. 68

² ध. पु. 1 पृ. 200

अनन्त ज्ञानादि विशुद्ध चैतन्य की अपेक्षा सिद्ध भगवान् नित्य हैं अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव से कभी विचलित नहीं होते।

पञ्चम विशेषण 'अट्ठगुणा' है। अष्ट कर्मों का क्षय होने से सिद्धों में आठ गुण होते हैं¹ -

ज्ञानावरण के क्षय से क्षायिक ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से क्षायिक दर्शन, वेदनीय के क्षय से अव्याबाधत्व, मोहनीय के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व/सुख, आयु के क्षय से अवगाहनत्व, नाम कर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व, गोत्र के क्षय से अगुरुलघुत्व और अन्तराय के क्षय से क्षायिक वीर्य नामक 8 गुण प्राप्त होते हैं। ये गुण तो कर्मों के क्षय की अपेक्षा हैं, नहीं तो सिद्धों में अनन्त गुण होते हैं। उनका इन आठ में अन्तर्भाव हो जाता है।

छठा विशेषण है 'किदकिच्चा'। समस्त कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर मोक्ष अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने से सिद्ध भगवान् को अब कुछ करना शेष नहीं रहा इसलिये वे कृतकृत्य कहलाते हैं।

सातवाँ विशेषण है 'लोगगणिवासिणो'। यद्यपि अनन्तानन्त प्रदेशी आकाश द्रव्य एक है तथापि धर्मास्तिकाय के कारण उसका लोकाकाश और अलोकाकाश रूप विभाजन हो गया, क्योंकि गमन में सहकारी कारण धर्म द्रव्य के अभाव में जीव और पुद्गल द्रव्य लोक के आगे नहीं जा सकते।²

इन सातों विशेषणों के देने का क्या प्रयोजन है उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी लिखते हैं कि-

सदासिव संखो मक्कडि बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।

ईसर मंडलिदंसणविदूसणट्ठं कयं एदं।³

अर्थात् सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, ईश्वर और मंडलि इन दर्शनों अर्थात् मतों को दूषण करने के लिये सिद्धों के विशेषण कहे गये हैं।

¹ सिद्धभक्ति गा. 7

² पं. का. गा. 92-93

³ गो. जी. गा. 69

यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - सदाशिव मत वाले जीव को सदा मुक्त और कर्ममल से अस्पृष्ट शाश्वत मानते हैं। उसका निराकरण करने के लिये ही 'सिद्धभगवान् आठ कर्मों से रहित हैं' ऐसा कहा है। पूर्व में जो बंधा हुआ होता है उसी के लिये 'मुक्त' पद का व्यवहार किया जाता है। अबद्ध होने से आकाशादि को 'मुक्त' शब्द का व्यवहार नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है।

सांख्य मत मानता है कि प्रकृति को ही बन्ध-मोक्ष एवं सुख-दुख होता है आत्मा को नहीं। इसका निराकरण करने के लिये कहा गया है कि 'सिद्ध शान्तिमय हो गये'। आत्मा ही मिथ्यादर्शनादि भावरूप परिणत होती है और उसके कारण कर्मबन्ध होता है, उसके फलस्वरूप ही दुःख होता है। सम्यग्दर्शनादि परिणत आत्मा को मोक्ष होता है और उसका फल सुखरूप शान्तिभाव है। प्रकृति अचेतन है, उसको सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। मस्करी का सिद्धान्त है कि - मुक्तजीव भी कर्मरूप अंजन का संश्लेष सम्बन्ध होने से पुनः संसारी हो जाते हैं, क्योंकि सभी जीवों के मुक्त हो जाने पर संसार रिक्त हो जायेगा। इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि - सिद्धजीव निरञ्जन हैं। समस्त भावकर्म-द्रव्यकर्म के पूर्णरूप से नष्ट हो जाने पर विशुद्ध स्वभाव वाले जीव के बन्ध के कारण मिथ्यादर्शनादि भावकर्म का अभाव है। आयरहित और व्ययसहित होने पर भी जिस राशि का अन्त न हो वह अनन्त है और जीव अनन्तानन्त हैं, इसलिये संसारी जीवों का अभाव नहीं होगा। बौद्धमत वाले मानते हैं कि ज्ञान-संतान का अभाव मोक्ष है' इसका निराकरण करने के लिये आचार्य ने 'णिच्चा' विशेषण दिया है। यदि ज्ञानसंतानक्षय रूप मोक्ष हो तो ऐसे मोक्ष के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि अनिष्टफल के लिये प्रयत्न करना अशक्य है। लोक में प्रसिद्ध है कि बुद्धिमान पुरुष कभी अपने अहित के लिये प्रवृत्ति नहीं करता। जीवादि सब द्रव्य अनादि-निधन हैं। बौद्धों का द्रव्यों को क्षणिक मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं कि - बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, आत्मा के इन नौ विशेष गुणों की अत्यन्त व्युच्छित्ति मुक्ति है। उनका निराकरण करने के लिये 'अट्टगुणा' विशेषण दिया है। परमात्मा के स्वाभाविक केवलज्ञानादि गुण हैं। गुणों का नाश होने पर उन गुणों से अभिन्न

स्वरूप द्रव्य के नाश का प्रसंग प्राप्त होता है। मुक्ति में ज्ञानादि गुणों का अभाव मानने पर परमात्मा के अचेतनत्व का प्रसंग आ जायेगा।

ईश्वरवादी परमात्मा को सदा मुक्त मानते हुए भी उसको सृष्टि का कर्ता मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिये 'किदकिच्चा' विशेषण दिया है। अनन्त चतुष्टय को धारण किये हुए भी विशुद्ध स्वभाव वाले सिद्ध परमेष्ठी प्रयोजन के अभाव के कारण तथा कर्म निर्जरा और तत्सम्बन्धी अनुष्ठान कर चुकने के कारण कृतकृत्य हो चुके हैं। अतः परमात्मा सृष्टिकर्ता है, यह कहना अयुक्त है।

मंडलिक दार्शनिक मानते हैं कि - परमात्मा ऊर्ध्व स्वभाव के कारण बिना रुकावट ऊपर चले जा रहे हैं। इनका निराकरण करने के लिये ही कहा है कि - लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं। गमन में सहकारी धर्मद्रव्य लोक के बाहर नहीं है', इसलिये वे आगे नहीं जाते बल्कि लोक के 'अग्रभाग' में विराजमान रहते हैं।

इसी विषय को आचार्य देवसेन स्वामी ने बड़ी सरलता और संक्षेप रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि - 14वें गुणस्थान में आठों कर्मों का नाश करके ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से एक ही समय में लोक के अग्रभाग में पूर्व शरीर से किञ्चित् ऊन आकार में विराजमान हो जाते हैं।¹ किञ्चित् ऊन से यह आशय है कि - शरीर में जहाँ -जहाँ आत्मा के प्रदेश नहीं हैं, ऐसे पेट, नासिका और कान आदि के छिद्र। अतः चरम शरीर के आकार के घनफल से सिद्धों के आत्मा के आकार का घनफल कुछ कम हो जाता है।

¹ त. सू. 10/8, धर्मास्तिकायाभावात्।

² भा. सं. गा. 687-688

द्वितीय परिच्छेद : भाव एवं गुणस्थान

संसार में समस्त पदार्थों से भिन्न स्वभाव वाला जीव ही भावों से सहित है, अन्य अजीवादि पदार्थ के भाव नहीं होते हैं, इसलिये भावों को जीवों के असाधारण भाव कहा गया है। जो जीव राग-द्वेष, मोह आदि समस्त विकारों से रहित हैं और समस्त कर्मों से रहित हैं वे सिद्ध अथवा मुक्त जीव हैं तथा जो जीव सदा काल चारों गतियों की पर्यायों में परिणत होते रहते हैं, वे संसारी जीव हैं। ये सभी जीव अपने-अपने परिणामों से प्राप्तिपार्जन, पुण्योपार्जन और मोक्ष की प्राप्ति करता है। अतः कहा जा सकता है कि यह जीव अशुभ, शुभ और शुद्ध भावों को प्राप्त होता है। इन तीनों भावों में शुद्ध भाव ही धारण करने योग्य है, शेष शुभ और अशुभ भाव दोनों ही त्याज्य हैं। शुद्ध भावों को छोड़कर जो शेष शुभ और अशुभ भाव हैं, वे दोनों ही भाव पुण्य और पाप को उत्पन्न करने वाले हैं तथा वे दोनों ही औदायिक आदि पापों भावों से मिलकर गुणस्थानों के आश्रय से रहते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक और पारिणामिक भाव मुख्य हैं। इन्हीं में जब अशुभ, शुभ और शुद्ध भाव मिल जाते हैं, तब गुणस्थानों की रचना बन जाती है। इन भावों की वे पर्यायें ही चौदह गुणस्थानों के नाम से कही जाती हैं। अब बताते हैं कि कौन सा भाव कौन से गुणस्थान तक होते हैं, यह दोनों में सम्बन्ध प्ररूपित करता है। सामान्य रूप से औपशमिक भाव 4-11 गुणस्थान तक होता है। उसमें भी औपशमिक सम्यक्त्व 4-11 तथा औपशमिक चारित्र 8-11 गुणस्थान तक होता है। क्षायिक भाव 4-14 गुणस्थान और सिद्ध तक होता है। उनमें से क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य 13-14 गुणस्थान और सिद्धावस्था में भी होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व 4-14 गुणस्थान और सिद्धावस्था में होता है एवं क्षायिक चारित्र 8-14 गुणस्थान तक होता है। इसमें विशेष यह है कि 11वें गुणस्थान में संभव नहीं है, क्योंकि इसमें औपशमिक भाव ही संभव है। अतः इस गुणस्थान को छोड़कर सिद्धावस्था तक होता है।

क्षायोपशमिक भाव 1-12 गुणस्थान तक होता है, जिसमें कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभङ्गावधिज्ञान 1-2 गुणस्थान तक होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान 1-12 गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्ययज्ञान 6-12 गुणस्थान तक होता है। पाँच लब्धियाँ

(दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य), चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन 1-12 गुणस्थान तक होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व 4-7 गुणस्थान तक, संयमासंयम 5वें गुणस्थान में और क्षायोपशमिक चारित्र 6-7 वें गुणस्थान में होता है। अवधिदर्शन 4-12 गुणस्थान तक होता है। औदयिक भाव सामान्यरूप से 1-14 गुणस्थान तक होता है। उसमें से देवगति, नरकगति, असंयतभाव, कृष्ण, नील और कापोत लेश्या 1-4 गुणस्थान तक होती हैं। तिर्यञ्च गति में 1-5 गुणस्थान ही संभव हैं। मनुष्य गति और असिद्ध भाव 1-14 गुणस्थान तक होते हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया कषाय 1-9 गुणस्थान तक होते हैं। लोभ कषाय 1-10वें गुणस्थान तक होती है। अज्ञानभाव 1-12 तक, पीत और पद्म लेश्या 1-7 तक, शुक्ल लेश्या 1-13 गुणस्थान तक होते हैं और मिथ्यादर्शन पहले गुणस्थान तक ही रहता है। पारिणामिक भाव सामान्यतः 1-14 और सिद्धावस्था तक संभव है। जीवत्व भाव 1-14 और सिद्धों तक होता है एवं भव्यत्व भाव 1-14 गुणस्थान तक होता है तथा अभव्यत्व भाव पहले गुणस्थान में ही होता है।

तृतीय परिच्छेद : ध्यान एवं गुणस्थान

सामान्य रूप से देखा जाए तो ध्यान 1-14 गुणस्थान तक होते हैं। विशेष रूप से चारों ध्यानों के चारों भेदों को आचार्यों ने इसप्रकार से गुणस्थानों में विवेचित किया है- आर्त्त ध्यान के चारों भेदों को 1-6 गुणस्थान तक कहा गया है। उनमें से इष्टवियोगज आर्त्तध्यान, अनिष्टसंयोगज और पीडा चिन्तन 1-6 गुणस्थान तक होते हैं और निदान बंधा 1-5 गुणस्थान तक होता है। चारों रौद्रध्यान 1-5 गुणस्थान तक होते हैं। धर्म्यध्यान 4-7 गुणस्थान तक होते हैं। उनमें से आज्ञा विचय और अपाय विचय 4-7 गुणस्थान तक एवं विपाक विचय 5-7 गुणस्थान तक तथा से संस्थान विचय धर्म्यध्यान 6-7 गुणस्थान में संभव है। इसीप्रकार शुक्लध्यान 8-14 गुणस्थान तक होता है। उनमें से पृथक्त्व वितर्क वीचार 8-11 गुणस्थान तक, एकत्व वितर्क अवीचार 12 वें गुणस्थान में, सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती 13 वें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में और व्युपरत क्रिया अनिवर्ती शुक्लध्यान 14 वें गुणस्थान में होता है।

चतुर्थ परिच्छेद : लेश्या एवं गुणस्थान

कषायों से अनुरीजित जीव के योगों की प्रवृत्ति का भाव लेश्या कहते हैं। कषायों की तीव्रता और मंदता से लेश्या का ज्ञान किया जा सकता है। आचार्य परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि लिम्पति इति लेश्या अर्थात् जो आत्मा को कर्मों से लीपता है उसे लेश्या कहते हैं। कषायों की मंदता से शुभ लेश्या और कषायों की तीव्रता से अशुभ लेश्या जीवों में संभव हैं। इनमें शुभ, शुभतर, शुभतम और अशुभ, अशुभतर, अशुभतम के भेद से लेश्या 6 बटाई गई हैं जिनके नाम हैं- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। लेश्यायें पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक होती हैं। कृष्ण, नील, कापोत पहले से चौथें गुणस्थान तक होती हैं। पीत, पद्म लेश्यायें पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक होती हैं और शुक्ल लेश्या पहले से तेरहवें गुणस्थान तक होती हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होने से लेश्या नहीं है। राग और कषाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीवों के लेश्या नहीं होती है। पूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से 11,12,13 वें गुणस्थान में भाव लेश्या औदयिक हैं। देव और नारकियों में द्रव्य तथा भाव लेश्या समान होती है परन्तु मनुष्य और तिर्यचों में समानता नहीं है। द्रव्य लेश्या आयु पर्यन्त एक जैसी रहती है परन्तु भाव लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बदलती रहती है।

जैन आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों ने गुणस्थान के माध्यम से तीन लोक में व्याप्त समस्त जीवों का वर्गीकरण करके अध्ययन करने का मार्ग पर्याप्त रूप से प्रशस्त किया है। गुणस्थान पद्धति से जीवों के भावों का ज्ञान करना सरल हो गया है। गुणस्थानों में गति आदि की अपेक्षा से संक्षिप्त वर्णन करने से गुणस्थान का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

गति विमर्श - नरकगति में तथा देवगति में प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं। तिर्यञ्चगति में प्रथम से पाँच गुणस्थान तक और मनुष्यगति में एक से चौदह गुणस्थान सम्भव हैं।

इन्द्रिय विमर्श - एक से लेकर चार इन्द्रिय जीव मात्र प्रथम गुणस्थान में सम्भव हैं। पञ्चेन्द्रिय जीवों में सम्पूर्ण गुणस्थान सम्भव हैं।

संज्ञित्व विमर्श - संज्ञी के सम्पूर्ण गुणस्थान सम्भव हैं परन्तु असंज्ञी प्रथम गुणस्थानवर्ती होते हैं।

वेद विमर्श - द्रव्य वेद की अपेक्षा पुरुष वेद में सभी गुणस्थान संभव हैं, स्त्रीवेद में पञ्चम तक तथा नपुंसक वेद में भी पञ्चम गुणस्थान तक संभव हैं।

सम्यक्त्व विमर्श - औपशमिक सम्यक्त्व के साथ 4,5,6,7,8,9,10 और 11 गुणस्थान संभव हैं। क्षायिक सम्यक्त्व के साथ 4 से 14 गुणस्थान संभव हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ 4,5,6 और 7वाँ गुणस्थान संभव हैं।

संयम विमर्श - एक से चार गुणस्थान तक असंयम होता है। पञ्चम गुणस्थान में संयमासंयम होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना संयम 6वें से 9वें गुणस्थान तक, परिहारविशुद्धि 6-7वें गुणस्थान में, सूक्ष्मसाम्पराय 10वें में तथा यथाख्यात 11वें से 14वें तक होता है।

संख्या विमर्श - प्रथम गुणस्थान में जीवों की संख्या अनन्तानन्त है, द्वितीय गुणस्थान में पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण तथा मनुष्यों की संख्या 52 करोड़, तृतीय गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण और मनुष्यों की संख्या 104 करोड़, चतुर्थ गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण तथा मनुष्यों की संख्या 700 करोड़, पञ्चम गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण तथा मनुष्यों की संख्या 13 करोड़ है। षष्ठ गुणस्थान में मनुष्यों की संख्या 59398206 है तथा सप्तम गुणस्थान में 29699103 है। अष्टम, नवम, दशम गुणस्थान में उपशम श्रेणी में 299 तथा क्षपक श्रेणी में 598 मनुष्य संभव हैं। 11वें गुणस्थान में 299 तथा 12वें गुणस्थान में 598 मनुष्य संभव हैं। 13वें गुणस्थान में मनुष्यों की संख्या 898502 तथा 14वें गुणस्थान में 598 है। यह उत्कृष्ट प्रमाण बताया गया है।

क्षेत्र विमर्श - ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक में एक से चार गुणस्थान तक संभव हैं। मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र में सभी गुणस्थान संभव हैं। अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के अर्द्धभाग में और स्वयंभूरमण समुद्र में एक से पाँच गुणस्थान तक संभव हैं तथा शेष भाग में एक से चार गुणस्थान तक हो सकते हैं। उपसर्ग की अपेक्षा के अतिरिक्त

भोगभूमि, कुभोगभूमि में 1-4 गुणस्थान तक, म्लेच्छखण्डों और समुद्रों में मात्र पहला गुणस्थान ही होता है। और अधिक सूक्ष्मज्ञान करने के लिये सिद्धान्त ग्रन्थों का मनन करना चाहिये।

स्थिति विमर्श - प्रथम गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त एवं सादि-सान्त की अपेक्षा एक अन्तर्मुहूर्त कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल है। द्वितीय गुणस्थान का जघन्य काल एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण है। तीसरे गुणस्थान का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। चतुर्थ गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल एक समय और अन्तर्मुहूर्त कम 33 सागर और एक पूर्वकोटि है। पञ्चम गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि है।

षष्ठ गुणस्थान से 11वें गुणस्थान तक प्रत्येक का जघन्य काल मरण की अपेक्षा एक समय तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। 12वें गुणस्थान का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। 13वें गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि है। 14वें गुणस्थान का काल पञ्च लघु अक्षर प्रमाण है। इसमें जघन्य और उत्कृष्ट का भेद नहीं है।

जैनागम में गुणस्थान मूलतत्त्व की तरह काम करता है। गुणस्थान के द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म विषय का गम्भीरतम तत्त्व भी साररूप में प्रदर्शित करना जैन आचार्यों और दार्शनिकों की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराता है।

वर्तमान काल में सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टि देने पर प्रतीत होता है कि विश्व जनसंख्या का अधिकाधिक हिस्सा प्रथम गुणस्थान के अन्तर्गत हैं। कुछ अंगुलियों में गिनने योग्य मनुष्य ही चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ और सप्तम गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। उत्कृष्ट संहनन का वर्तमान में अभाव होने से उपशम और क्षपक श्रेणी का भी अभाव है। अतः सप्तम गुणस्थान से ऊपर जाना संभव नहीं है। पञ्चम काल में मनुष्य मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार का उपदेश देना ही जैन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य है। गुणस्थान आरोहण की प्रेरणा भी इस उपदेश में गर्भित है।

निष्कर्ष

जैन आगम में वर्णित गुणस्थान वस्तुतः जैन दार्शनिकों, आचार्यों एवं तीर्थङ्करों की उन असंख्य मौलिक विवेचनाओं में से एक है, जिसे आज तक अन्य जैनेतर दर्शन स्पर्श भी नहीं कर पाये, न शब्दों से न ही अर्थ से। गुणस्थान को प्राथमिक दृष्टि से देखने पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की तरह दिखता है, परन्तु इस शिक्षा प्रणाली से पूर्णतया अलग ही है, न ही इसके प्रत्येक दर्जे पर समान समय लगता है, न ही क्रम से आगे बढ़ने की अनिवार्यता है और न ही सभी जीव इसमें समान रूप से आगे बढ़ सकते हैं। जैन आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों ने गुणस्थान के माध्यम से तीन लोक में व्याप्त समस्त जीवों का वर्गीकरण करके अध्ययन करने का मार्ग पर्याप्त रूप से प्रशस्त किया है। गुणस्थान पद्धति से जीवों के भावों का ज्ञान करना सरल हो गया है। गुणस्थानों में गति आदि की अपेक्षा से संक्षिप्त वर्णन करने से गुणस्थान का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हुआ है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने गुणस्थानों का वर्णन सम्पूर्ण भावसंग्रह ग्रन्थ में विस्तृत रूप से किया है। गुणस्थानों के अन्तर्गत ही सभी विषयों का वर्णन किया है। तत्पश्चात् छोटे-छोटे परिच्छेदों में भाव, लेश्या और ध्यान को गुणस्थान से योजित करके पृथक्-पृथक् वर्णन भी किया है। गुणस्थानों के नामों का उल्लेख करके उनके समयों का निर्धारण, गुणस्थानों में स्थित जीवों की भावों की विविधता विवेचित की है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान के पांच भेदों का वर्णन करते हुए मिथ्यात्व से होने वाली हानि के विषय में विवेचन किया है। सभी गुणस्थानों के अन्त में उनकी विशेषतायें भी बताई गई हैं। अन्त में गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी विशेष रूप से प्ररूपित किया है।

जैनागम में गुणस्थान मूलतत्त्व की तरह काम करता है। गुणस्थान के द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म विषय का गम्भीरतम तत्त्व भी सार रूप में प्रदर्शित करना जैन आचार्यों और दार्शनिकों की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराता है। वर्तमान काल में सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टि देने पर प्रतीत होता है कि विश्व जनसंख्या का अधिकाधिक हिस्सा प्रथम गुणस्थान के अन्तर्गत हैं। कुछ अंगुलियों में गिनने योग्य मनुष्य ही चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ और सप्तम

गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। उत्कृष्ट संहनन का वर्तमान में अभाव होने से उपशम और क्षपक श्रेणी का भी अभाव है। अतः सप्तम गुणस्थान से ऊपर जाना संभव नहीं है। पञ्चम काल में मनुष्य मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार का उपदेश देना ही जैन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य है। गुणस्थान आरोहण की प्रेरणा भी इस उपदेश में गर्भित है।



चतुर्थ-अध्याय

.....
आचार्य देवसेन की कृतियों में साधनापरक दृष्टि

प्रथम परिच्छेद : आराधना का स्वरूप एवं भेद

अनादिकाल से यह संसारी प्राणी मिथ्यादर्शन और कषाय के वश में आकरके पञ्चेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होता हुआ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि अनेक दुःखों का भोग कर रहा है। अनन्तकाल तो इस संसारी प्राणी ने एकेन्द्रिय की पर्याय को प्राप्तकर निगोद में व्यतीत किया, जहाँ पर एक श्वास में अट्टारह बार जन्म और मरण किया। यदि कषायों की मन्दता और पुण्य के योग से भाग्यवशात् कर्मों के कुछ शक्ति सहित फल देने पर दो, तीन, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पद प्राप्त किया तो भी मन के बिना हित और अहित, हेय और उपादेय के विचार से रहित होने से आत्महित के विषय से विलग रहा। किसी पुण्योदय से सैनी पञ्चेन्द्रिय भी हुआ तो भी मिथ्यादर्शन और विषय-वासना के वशीभूत होकर आत्मतत्त्व को जानने की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई।

सांसारिक भोगों की वाञ्छा से मुनिव्रत धारण करके घोर उपसर्ग और परीषहों को सहन करके ग्रैवेयकों में पहुँच गया। दैविक सुखों का भोग किया किन्तु शुद्धात्मा का अनुभव एवं ज्ञान नहीं किया। अतः वहाँ से च्युत होकर कई मनुष्य और तिर्यञ्चों की योनियों में भ्रमण करके त्रस पर्याय का काल पूर्ण हो जाने से पुनः निगोद में चला गया।

इस संसार में परिभ्रमण करने वाले अनन्त जीव तो रत्नत्रय रूपी महौषधि का सेवन करके अजर-अमर रूप परम पद को प्राप्त करके सदैव के लिये सुखी हो गये, परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा के न होने पर संसार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच अनादिकाल से पिसते चले आ रहे हैं। इन दुःखों के नाश करने का एक ही उपाय है कि जिन्होंने मोक्षमार्ग को स्वीकार करके स्वयं मुक्तिधाम को प्राप्त किया और केवली की अवस्था में अपनी दिव्यध्वनि में मोक्ष का सच्चा मार्ग प्ररूपित किया और उस पर चलने की प्रेरणा प्रदान की। उस मार्ग को यदि हम स्वीकार नहीं करते हैं तो हम निजात्मा की उपलब्धि रूप शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से अथवा 'मैं ज्ञायक स्वभावी सिद्ध समान त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ, मैं अनन्त चतुष्टय का धनी हूँ' इस प्रकार के उद्गारों से हम सिद्ध अथवा शुद्ध अवस्था

को त्रिकाल में भी प्राप्त नहीं कर सकते। उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये हमें करना होगा - पुरुषार्थ अथवा प्रयत्न। वह पुरुषार्थ है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करके संसारी भव्यात्मा कर्म-कालिमा से रहित होकर शुद्ध बनता है। यद्यपि आराधना चार हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, परन्तु तप आराधना सम्यक्चारित्र में गर्भित है अथवा तप के द्वारा चारित्र में निर्मलता आती है, चारित्र वृद्धि को प्राप्त करता है। अतः तप आराधना का पृथक् कथन किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु उपाय रूप में इन चार प्रकार की आराधनाओं का वर्णन सहज एवं सरल रूप में प्ररूपित किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने अपनी कृति आराधनासार में गागर में सागर भर दिया है, जिससे उनकी दार्शनिक दृष्टि का स्पष्ट अनुभव प्रतीत होता है।

आराधना का स्वरूप एवं शाब्दिक अर्थ

आराधना शब्द 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'राध्' धातु से 'ल्युट्' और टाप् प्रत्यय से सम्पन्न हुआ है। (आ + राध् + ल्युट् + टाप्)।

वैसे तो 'आराधना' इस विषय पर पूर्वाचार्यों (आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना, आचार्य अमितगति कृत मरणकण्डिका) द्वारा पर्याप्त वर्णन हुआ है, परन्तु अत्यन्त विस्तृत कृति होने के कारण आचार्य देवसेन स्वामी ने उस महान् विस्तृत विषय को अपने 'आराधनासार' नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। आराधना के स्वरूप के साथ उसके भेदों को भी प्ररूपित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं-

आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ।

सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेग परमट्ठो॥'

अर्थात् तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समूह आराधनासार है, वह आराधना दो भेद वाली है, व्यवहार आराधना और परमार्थ (निश्चय) आराधना।

¹ आराधनासार गा. 2

यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी का आशय यह है कि इस गाथा में जो 'आदि' पद है, गाथा के आर्या छन्द के प्रथम चरण की 12 मात्राओं की पूर्ति के लिये ही है, इसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि छन्द की पूर्णता के लिये यदि कवि लोग आदि जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं है।

भगवती आराधनाकार ने आराधना पाँच प्रकार से निरूपित की हैं और इनकी मरण समय निरतिचार परिणति होना आराधना है, ऐसा कहा है-

उज्ज्वणमुज्ज्वणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन, निस्तरण को जिनेन्द्रदेव ने आराधना कहा है।

उद्योतन आदि के स्वरूप को प्ररूपित किया जाता है -

उद्योतन - सम्यग्दर्शनादि चारों के निर्मलीकरण को अर्थात् उसमें उत्पन्न चल-मल आदि दोषों को शान्त करना उद्योतन है।

उद्यवन - सम्यग्दर्शनादि का बार-बार दर्शनादि रूप परिणमन करना उद्यवन है।

निर्वहन - परीषह, उपसर्ग आदि बाह्य बाधा उत्पन्न होने पर भी सम्यग्दर्शनादि को यथावत् बनाये रखना निर्वहण कहलाता है अर्थात् धर्म से विचलित नहीं होना।

साधन - सांसारिक वस्तुओं के प्रति जब मन भटकने लगे तब पुनः उन्हें अपकारी मानते हुए आत्मध्यान में लीन होना साधन है।

निस्तरण - आगामी भवों में अथवा उसी भव में मरणपर्यन्त सम्यग्दर्शनादि गुणों को धारण करना निस्तरण है।

उपरोक्त हेतुओं से सम्यग्दर्शनादि को मजबूत आधार प्राप्त होता है। अतः भगवती आराधना में आराधना के अन्तर्गत इन हेतुओं को समाविष्ट किया गया है। कोई यहाँ प्रश्न कर सकता है कि गाथा में कहीं भी सम्यक् पद का प्रयोग नहीं किया गया है फिर इनमें सम्यक् पद की योजना किस कारण से ही है? उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि इनके पूर्व में सम्यक् पद लगाना सार्थक है, क्योंकि मिथ्यापद ग्रहण करने

पर मुक्ति की प्राप्ति होना असंभव है। अतः सम्यक् पद की योजना करने से इनकी परिभाषा में असाधारण परिवर्तन हो जाता है। सम्यक् पद के जुड़ने से दर्शन आदि समीचीनता को प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी ने आराधना के दो भेद नय की विवक्षा से किये हैं - व्यवहार आराधना और निश्चय आराधना। जो वस्तु के स्वरूप को अभिन्न/अखण्ड/अपृथक् रूप में ग्रहण करता है वह निश्चय नय है और जो वस्तु के स्वरूप को गुण-गुणी के भेद से सहित ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। व्यवहार नय में गुण-गुणी भेद रहता है, इसलिये आत्मा (गुणी) के सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यगतप ये चार गुण हैं और इन्हीं के अवलम्बन से आत्मा गुणी कहलाता है। इसी विवक्षा को ध्यान में रखकर सम्यग्दर्शनादि को चार आराधना कहा है, परन्तु निश्चय नय में गुण-गुणी का अभेद होने से विकल्प समाप्त हो जाते हैं इसलिये शुद्ध परमात्मा की स्तुति ही आराधना है।

1. व्यवहार आराधना - व्यवहार नय की अपेक्षा से आराधना का स्वरूप प्ररूपित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि-

व्यवहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउवकस्स।

दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणां।।

अर्थात् निश्चय से जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप व्यवहार नय से चार आराधनाओं का सार कहा गया है।

यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी का आशय यह है कि जिनेन्द्र भगवान् ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जैसा स्वरूप प्रतिपादित किया है उसके अनुरूप आचरण करना व्यवहार नय की अपेक्षा चारों आराधनाओं का सार है। व्यवहार नय में भेददृष्टि से कथन होता है इसलिये यहाँ आराधना के चार भेदों का कथन है।

प्रमादरहित होते हुए व्यवहार आराधना की अच्छी तरह आराधना अर्थात् उपासना करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना निश्चयनय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। वस्तुतः

आराधनासार गा. 3

व्यक्ति व्यवहारमार्ग में प्रवेश किये बिना निश्चयमार्ग को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आभा के विकास को देखे बिना कौन विवेकी मुनष्य सूर्योदय को कहता है? अर्थात् कोई भी नहीं कहता। जिस प्रकार सूर्य की प्रभा का विकास दिखता है तत्पश्चात् सूर्य के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार पहले व्यवहार आराधना का पालन होता है उसके बाद निश्चय आराधना का पालन होता है। तात्पर्य यह है कि न तो मात्र व्यवहार ही मुक्ति का हेतु है न मात्र निश्चय ही। एकान्त का पोषण सदैव कार्य के असफल होने में निमित्त है। जिस प्रकार रथ के चलने में दोनों चक्र सहायक होते हैं उसी प्रकार आत्मा रूपी रथ के गमन में व्यवहार एवं निश्चय रूपी चक्र सहायक हैं। अतः मिथ्या एकान्त मत का त्याग और अनेकान्त का धारण करना ही भव्यजीवों को निश्चित रूप से श्रेयस्कर है।

वर्तमान में कई धर्माधिकारी हैं जो या तो मात्र व्यवहार का पोषण करते हैं या फिर निश्चय का बिगुल बजाते हैं, किन्तु अनेकान्तमयी जिनधर्म के रहस्य को समझने वाले दोनों ही पक्षों का महत्त्व समीचीन रूप से जानते हैं। वस्तुतः किसी भी एक पक्ष को सशक्त नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का समीचीन प्रयोग ही लक्ष्य प्राप्ति के लिये उपयोगी साबित होता है। सापेक्ष कथन से तात्पर्य है किसी भी प्रसंग अथवा विषय का विश्लेषण मुख्यतया दो दृष्टियों को ध्यान में रखकर करना, व्यवहार दृष्टि और निश्चय दृष्टि। जहाँ व्यवहार दृष्टि में विषय-वस्तु को भेद-प्रभेद पूर्वक प्रस्तुत किया जाता है वहीं निश्चय दृष्टि में भेद-प्रभेदों को समाविष्ट करके एकरूपता प्रदान की जाती है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, इन्हें पृथक्पृथक् रूप में महत्त्व देने वाले को कभी भी मोक्षमार्गी (मुमुक्षु) नहीं माना है बल्कि जो इन्हें परस्पर पूरक मानता है वही मुमुक्षु है। व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य। बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती और साधन को ही पकड़े रहने से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती और मात्र साध्य का चिन्तन करने से भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवहार का आश्रय लेकर निश्चय तक पहुँचा जाता है। यही आचार्य का मन्तव्य है। अतः दोनों की ही उपयोगिता सिद्ध होती है।

2. निश्चय आराधना - व्यवहार आराधना जो कि निश्चय आराधना की कारण (हेतु) है, उसका कथन करने के पश्चात् अब आचार्य देवसेन स्वामी निश्चय आराधना का स्वरूप कहते हैं-

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं।

सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो।।'

अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा सभी विकल्पों से रहित, इन्द्रिय-विषयों के अवलम्बन को छोड़कर आलम्बन रहित होकर शुद्ध आत्मा की आराधना करता है, उसे ही चार प्रकार की आराधना कहा है।

यहाँ आचार्य का तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा में कर्म-कर्ता, राग-द्वेष आदि कोई विकल्प नहीं है। अतः आत्मा सर्व विकल्पों से रहित है। आत्मा कर्म-कलंक से रहित है अतः शुद्ध है। निश्चय नय से आत्मा पञ्चेन्द्रियों के विषयव्यापार और तत्सम्बन्धी सुखाभिलाषाओं से रहित है, इसीलिये वह निरालम्ब है। निश्चय नय से चित् चमत्कार, अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय का धारी आत्मा है, उसमें रमण करना ही चार प्रकार की आराधना है। इसी निश्चय आराधना की अन्य विशेषताओं को प्रतिपादित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं-

इसमें यह जीव अपने स्वभाव अर्थात् शुद्धात्मा का श्रद्धान करता है, अपने आप में आत्मा को जानता है और इन्द्रिय विषयों को संकुचित कर उसी शुद्धात्मा में अनुचरण करता है।¹

यहाँ आचार्य का आशय यह है कि जब यह संसारी आत्मा परमात्म स्वरूप निज शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, दृढ़ विश्वास करता है कि मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वास्तव में सिद्ध में और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है, वह आन्तरिक होती है मात्र वचनात्मक नहीं तब उसे सम्यग्दर्शन आराधना कहते हैं। जब निज शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है, शुद्धात्मा को जानता है वह ज्ञानाराधना कहलाती है और जब पञ्चेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषाओं का त्याग करके अपने निज शुद्ध रूप में रमण करता है, वही चारित्र और तप आराधना है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि चारित्र में तप कैसे गर्भित हो सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट करते आचार्य कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्यागकर अपने में रमण

¹ आराधनासार गा. 8

² आराधनासार गा. 9

करना तप है, क्योंकि पाँच इन्द्रियों की अभिलाषा (इच्छा) का परित्याग करना तप है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग किये बिना चारित्र की आराधना नहीं होती, अतः इन्द्रियनिरोध रूप तप, चारित्र में गर्भित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा में रमण करना निश्चय चारित्र है, उसी प्रकार निज शुद्धात्मा में तपना तप है।

जब आत्मा उस परमात्मा का श्रद्धान करता है तब दर्शन रूप होता है। जब उसे जानता है तब ज्ञानरूप होता है, जब उसमें रमण करता है तब चारित्र रूप होता है और जब अन्य भोगों की इच्छा से च्युत होता है तब तप रूप होता है। इस प्रकार निश्चय आराधना का स्वरूप जानकर साधक को संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर मात्र शुद्ध आत्मस्वरूप की ही आराधना करना चाहिये, ऐसा उक्त कथन का तात्पर्य है।

व्यवहार आराधना के भेद

व्यवहार आराधना के जो चार भेद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यगतप निरूपित किये गये हैं, उनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं-

सम्यग्दर्शन आराधना - सम्यग्दर्शन आराधना का स्वरूप कहते हैं-

भावाणां सददहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं।

आराहणा हु भणिया सम्पत्ते सा मुणिं देहिं॥'

अर्थात् सूत्र (जिनेन्द्र देव के वचन) में कही गई युक्तियों के द्वारा जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान करना मुनियों के इन्द्र अर्थात् केवली अथवा गणधरदेव ने सम्यग्दर्शन विषयक आराधना कहा है।

यहाँ आचार्य का आशय यह है कि यद्यपि भाव, पदार्थ, तत्त्व ये एकार्थवाची शब्द हैं फिर भी शब्दार्थ की अपेक्षा कुछ अन्तर भी है। स्वकीय-स्वकीय गुण-पर्यायों में जो होते हैं अथवा रहते हैं उन जीवादि को भाव कहते हैं। जो ज्ञान के द्वारा जाने हैं, ज्ञान के विषय हैं, ज्ञानगम्य हैं वे अर्थ या पदार्थ कहलाते हैं। तत्त्व शब्द सामान्यभाववाची है, जिसका अर्थ है - जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उनका उसी प्रकार से होना अथवा परिणामन करना तत्त्व कहलाता है। तत्त्व सात हैं - जीव, अजीव,

आम्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ हो जाते हैं। अधिक स्पष्ट विवेचन इसका गुणस्थानों के विवेचन में तृतीय अध्याय में कर चुके हैं। अतः संक्षेप से नव पदार्थ अथवा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान आराधना - अब व्यवहार सम्यग्ज्ञान आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा।

• **णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते।¹**

अर्थात् उन जीवादि नौ पदार्थों का जो अधिगम होता है उसको जिनागम में ज्ञान की भावना कहा है और उसी को परमागम में ज्ञान की आराधना कहा है अर्थात् यह सूत्रार्थ भावना ही परमागम में ज्ञान की आराधना अथवा ज्ञान की भावना है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि गाथा में सम्यग्ज्ञान आराधना की परिभाषा तीव्र क्षयोपशम तथा अल्प क्षयोपशम को ध्यान में रखकर कही गई है।

यह सम्यग्ज्ञान आराधना इन आठ अंगों के द्वारा होती है-

1. अक्षराचार - शब्द शास्त्र व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, वाक्य आदि का शुद्ध उच्चारण करते हुए शास्त्रों के पठन में विराम, विसर्ग, रेफादि का ध्यान रखकर पठन-पाठन करना अक्षराचार कहलाता है। श्रुताचार, व्यञ्जनाचार, ग्रन्थाचार इसके अन्य नाम हैं। अक्षर को शुद्ध नहीं पढ़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जैसे चिन्ता में अनुस्वार छोड़ देने से चित्ता अर्थ हो जाता है। अतः शुद्ध उच्चारण करना, ज्ञानाचार का प्रथम सोपान है।

2. अर्थाचार - जिन शब्दों का वाचन किया है उनका वाच्य अर्थ भी शुद्ध पढ़ना अर्थाचार कहलाता है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे - सैंधव का अर्थ घोड़ा भी है और सैंधा नमक भी। अर्थ प्रकरणवश किया जाता है, भोजन करते समय सैंधव का अर्थ नमक और कहीं बाहर घूमने जाने में घोड़ा। अन्यथा अज का अर्थ बकरा करके यज्ञ में बकरे की बलि देने जैसी कुरीतियों का प्रचलन हो सकता है, जबकि अज के

¹ आराधनासार गा. 5

बकरा, ब्रह्मा और जिसमें पुनः उत्पन्न होने की शक्ति नहीं है ऐसा शालि धान्य आदि अनेक अर्थ हैं। इसी प्रकार जितने मत-मतान्तर प्रचलित हुए हैं, वे अर्थ की विपरीतता से ही हुए हैं।

3. उभयाचार - शुद्ध उच्चारण सहित शुद्ध अर्थ का जानना उभयाचार कहलाता है।

4. कालाचार - चारों संध्याओं के अर्थात् सूर्योदय के दो घड़ी (48 मिनट) पूर्व और पश्चात्, मध्याह्न 12 बजे के दो घड़ी पूर्व और पश्चात्, सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व और पश्चात् और अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व और पश्चात्, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि प्राकृतिक उत्पातों के समय में सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करना वर्जित (निषिद्ध) है, परन्तु स्तोत्र, आराधना और धार्मिक कथा आदि के ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाता है। यही कालाचार कहलाता है।

5. विनयाचार - शास्त्रों का पठन-पाठन हाथ-पैर धोकर चौकी बिछाकर शुद्ध स्थान में पर्यकासन में बैठकर श्रुत भक्ति और आचार्य भक्ति बोलकर नमस्कार पूर्वक कार्यात्सर्ग करके स्वाध्याय करना विनयाचार कहलाता है। लेटकर या पैर फैलाकर स्वाध्याय करना वर्जित है। लेटकर या पैर फैलाकर बैठने से रीढ़ की हड्डी सीधी नहीं होने पर आलस्य बढ़ता है और नींद आने लगती है, जिससे स्वाध्याय में शिथिलता होती है। ऐसा होने पर शास्त्र एवं गुरु के प्रति विनयाचार का पालन नहीं हो पाता है।

6. बहुमानाचार - बार-बार नमस्कार करके अति भक्ति से शास्त्र स्वाध्याय करना बहुमानाचार है। विनय सामान्य है वह वाचनिक और कायिक भी हो सकती है, परन्तु बहुमान विशेष मानसिक अनुराग है। शास्त्र स्वाध्याय करते हुए गर्व महसूस करना कि मैं वीतरागी सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव की वाणी को श्रवण अथवा वाचन कर रहा हूँ। यदि गुरु अथवा शास्त्र के प्रति श्रद्धा न हो, आदर भाव न हो तो हमेशा उनमें शंकास्पद स्थिति बनी रहती है।

7. उपधानाचार - चित्त की स्थिरता के साथ में शास्त्र पठन के प्रारम्भ में कुछ नियम धारण करके हृदय में अर्थ की अवधारणा करना उपधानाचार कहलाता है। चित्त की एकाग्रता के बिना अध्ययन करने से सम्पूर्ण अर्थ अध्ययन व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि

ग्रन्थ में निर्दिष्ट विषय अक्सर पूर्व विषय से सम्बन्धित होता है और जिसे पूर्व का प्रसंग स्पष्ट नहीं होता उसे आगे का विषय भी स्पष्ट नहीं हो सकता।

8. अनिहवाचार - जिस गुरु के समीप अथवा जिस शास्त्र से ज्ञान की आराधना की है उसका नाम नहीं छिपाना अनिहवाचार कहलाता है। एक अक्षर पढ़ाने वाले को भी भूलना महापाप है और जो आत्मकल्याणकारी ज्ञान देने वाले को भूल जाता है उसके बराबर कोई पाप नहीं है। गुरु अथवा शास्त्र का नाम छुपाने से आगे ज्ञान की वृद्धि रुक जाती है। अतः ज्ञान की वृद्धि के लिये अनिहवाचार का पालन करना चाहिये।

वस्तुतः सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्राराधना का पालन असम्भव है। जैसा कि प्रायः दृष्टिगोचर होता है कि कोई व्यक्ति ज्ञान के बिना ही मात्र आचरण करता है तो व्यर्थ ही परिश्रम करता है, क्योंकि इस व्यर्थ परिश्रम से इच्छित फल की प्राप्ति असंभव है। अतः ज्ञानाराधना ही अज्ञान का नाश करने वाली है और मुक्तिपद देने वाली है। इस प्रकार जिनभाषित आठ अंग सहित ज्ञान की आराधना करनी चाहिये।

सम्यक्चारित्र आराधना

सम्यग्दर्शनाराधना और सम्यग्ज्ञानाराधना की व्याख्या करके अब सम्यक्चारित्र आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए।

दुविह असंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा।¹

अर्थात् भावों की शुद्धिपूर्वक तेरह प्रकार के चारित्र का आचरण करना और दो प्रकार के असंयम का त्याग करना चारित्राराधना कहलाता है। पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), पाँच समितियाँ (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापना/उत्सर्ग) और तीन गुप्ति (मन, वचन, काय) ये सब मिलाकर तेरह प्रकार का चारित्र कहलाता है।

आराधनासार के संस्कृत टीकाकार पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेव ने चारित्र की महिमा का गुणगान करते हुए कहा है-

¹ आराधनासार गा. 6

भावशुद्धिमविभ्राणाश्चारित्रं कलयति ये।

त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते तृतीर्षति महार्णवम्॥

अर्थात् जो पुरुष भावशुद्धि को धारण किये बिना चारित्र धारण करते हैं, वे नाव छोड़कर भुजाओं के द्वारा महासमुद्र को तैरना चाहते हैं। यहाँ यह आशय है कि भावों की शुद्धि ही मुख्य रूप से चारित्र कहा गया है।

पाँचों पापों का सर्वथा त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करणों समिति कहलाता है। सम्यक् रूप से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति कहलाता है। आचार्य देवसेन स्वामी ने 13 प्रकार के चारित्र के साथ दो प्रकार का असंयम भी प्रतिपादित किया है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन के विषयों में राग-द्वेष करना इन्द्रिय असंयम और पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकाय जीवों की विराधना करना प्राणी असंयम कहलाता है।

दोनों प्रकार के असंयम का त्याग करना संयम कहलाता है। इस प्रकार भावशुद्धि से तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करना और दो प्रकार के असंयम का त्याग करना सम्यक्चारित्र आराधना है। अतः इसका निरतिचार पालन करना चाहिये।

सम्यक् तप आराधना

इच्छा का निरोध (रोकना) करना तप कहलाता है 'इच्छा निरोधो तपः'। इच्छा में राग तथा द्वेष दोनों समाहित होते हैं, इसलिये राग-द्वेष को बढ़ाने वाली इच्छा का अन्त कर देना ही तप कहलाता है। वास्तविकता भी यही है कि संसार की समस्त समस्याओं का कारण राग और द्वेष हैं। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति आकर्षण होता है वह राग और व्यक्ति या वस्तु के प्रति अरति भाव का उत्पन्न होना द्वेष कहलाता है। जैसे - माता-पिता आदि सम्बन्धियों के प्रति आकर्षण भाव राग तथा अन्य अपने से सम्पन्न जनों के प्रति अरतिभाव द्वेष है। जब तक राग-द्वेष युक्त भाव से सहित होता है तब तक यह व्यक्ति चिन्तामुक्त नहीं हो सकता है। अतः जिससे राग है उसका अच्छा चाहना और जिससे द्वेष है उसका बुरा चाहना ही इच्छाओं को जीवित रखता है। इच्छाओं के रहने पर चिन्ता चारों ओर से इस जीव को बन्धन में रखती है। अतः चिन्तारहित जीवन की प्राप्ति

के लिये इच्छा को समाप्त अथवा सीमित करना तप आराधना है। इसी विषय पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं - 'तिष्णं रक्षणमाविम्भावट्ठमिच्छणिरोहो' अर्थात् तीनों रत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र) को प्रकट करने के लिये जो इच्छा को रोकना है वह तप है। ध्वलाकार भी इच्छा के निरोध को सूचित करते हैं, क्योंकि आकर्षण और प्रतिकर्षण जब तक व्यक्ति से लगा रहता है तब तक सही निर्णय लेना कठिन होता है और निर्णय रहित व्यक्ति के लिये कार्य करना असम्भव है।

इसी क्रम में आचार्य देवसेन स्वामी ने परम्परा का निर्वाह करते हुए आराधनासार में तप को इस प्रकार परिभाषित किया है-

बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए।

सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं॥

अर्थात् बारह प्रकार के तपश्चरण में जो अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम करता है, निश्चय से उसे जिनसूत्र (जिनागम) में तप आराधना कहा है।

'ससत्तीए' शब्द से आचार्य देवसेन स्वामी का यह आशय है कि अपनी शक्ति के अनुसार किया गया तप सार्थक है। इसमें न अपनी शक्ति से ज्यादा न अपनी शक्ति से कम, अन्यथा मन में अमंगल का विचार आये जिससे तप बोझ लगने लगे ऐसा तप व्यर्थ है, अथवा तप ऐसा हो जिससे इन्द्रियों को हानि न पहुँचे तथा योग भी नष्ट न हो।

इसी से सम्बन्धित विषय बौद्धधर्म में 'मध्यम प्रतिपदा' अर्थात् मध्यम मार्ग (बीच का रास्ता) कहा जाता है। किसी भी वस्तु में अत्यधिक तल्लीनता अथवा उससे अत्यधिक वैराग्य दोनों ही अनुचित है। इसलिये आचार्यों ने शक्तिस्तप का विधान किया है। उदाहरणार्थ अधिक भोजन करना भी कष्टप्रद है और बिल्कुल भी भोजन नहीं करना। अतः अनुकूलता दोनों के बीच में है। उपरोक्त कथन के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि जहाँ बौद्धदर्शन सदैव मध्यम मार्ग में स्थित रहने को उचित कहता है वहीं जैनदर्शन तप को सामर्थ्य के अनुरूप धारण करने और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि का संकेत करता है। वस्तुतः तप को इस प्रकार धारण करना चाहिये जिससे मन अमंगल का विचार न करे, इन्द्रियों की हानि न हो तथा जिससे योग नष्ट न हो इसलिये तप का मापदण्ड स्थापित

नहीं है, वह प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य पर आधारित है। फिर भी जैनदर्शन की मान्यता है कि इसमें वृद्धि होना ही श्रेष्ठ है। जिस प्रकार सम्मेद शिखर का दर्शनाभिलाषी साधु धीरे-धीरे विहार करते हुए लक्ष्य के निकट आने पर और अधिक दृढ़ता के साथ अधिकाधिक विहार करता है तथा शीघ्रातिशीघ्र पार्श्वनाथ की टोंक पर पहुँच कर उल्लासित होता है, उसी प्रकार निरन्तर तप में स्थित व्यक्ति मोक्षप्राप्ति होने पर ही तप की पूर्णता जानता है। जैसे-जैसे उसके परिणाम और अधिक विशुद्ध होते जाते हैं वैसे-वैसे वह और अधिक तप करने में तल्लीन होता जाता है। सम्यक् तप की आराधना निश्चित रूप से करना ही चाहिये, क्योंकि इसके बिना निधत्ति और निकाचित कर्मों से मुक्ति हो पाना सम्भव नहीं है।

उन निधत्ति और निकाचित का स्वरूप भी बताते हैं -

निधत्ति - जिन कर्मों में संक्रमण और उदीरणा का अभाव होता है, वे निधत्ति कर्म कहलाते हैं। संक्रमण अर्थात् एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में बदल जाना। जैसे - असाता वेदनीय का साता वेदनीय में बदल जाना और उदीरणा अर्थात् उदय से पहले अधिक द्रव्य का उदय में आ जाना।

निकाचित - जिसमें संक्रमण, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण का अभाव होता है वह निकाचित कर्म कहलाता है। अर्थात् कर्म जैसा बंधा है वैसा ही उदय में आता है। उत्कर्षण अर्थात् कर्म स्थिति का बढ़ना और अपकर्षण अर्थात् कर्मस्थिति का घटना।

सम्यक् तप आराधना की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित बाह्याभ्यन्तर दो प्रकार (6-6 प्रकार) के तपश्चरण में अपनी शक्ति के अनुसार जो भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करता है, चारित्र को निर्मल करने वाले तपश्चरण में उद्यमी रहता है, वह शीघ्र ही दुष्ट कर्मों के पुंज का क्षय करके समीचीन रूप से की गई परम ब्रह्म की आराधना से समुत्पन्न चिदानन्द को भोगने वाले पद को प्राप्त करता है।

तप के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं - बहिरंग तप और अन्तरंग तप। प्रत्येक के 6-6 भेद हैं। उनमें से जो बाह्य में दिखाई पड़ते हैं वे बहिरंग तप हैं। उसके 6 भेद इस प्रकार हैं -

1. **अनशन तप** - अनशन शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - अन् + अशन। यहाँ अशन का अर्थ भोजन है 'अन्' निषेध सूचक है। कहने का तात्पर्य है भोजन का न करना अर्थात् स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहारों का त्याग करना अनशन तप कहलाता है। इसके दो भेद हैं-सार्वकालिक और असार्वकालिक।¹ जो जीवन पर्यन्त के लिये आहार का त्याग करना है उसको सार्वकालिक अनशन कहते हैं। यह अनशन समाधिमरण काल में होता है। जो एक, दो, चार, दस आदि दिनों की मर्यादा लेकर किया जाता है उसको असार्वकालिक अनशन कहते हैं। इसकी अधिकाधिक मर्यादा छह मास की है।²
2. **अवमौदर्य (ऊनोदर) तप** - भूख से कम खाना अवमौदर्य तप कहलाता है। पुरुष का भोजन बत्तीस ग्रास प्रमाण है। एक ग्रास का प्रमाण एक हजार चावल माना गया है। उक्त प्रमाणभूत आहार में से एक-एक ग्रास कम करते हुए एक ग्रास प्रमाण तक घटाते जाना उत्कृष्ट अवमौदर्य तप है। स्वाभाविक आहार में से एक ग्रास भी कम लेना अवमौदर्य तप है। इस तप के करने से साधु के निद्राविजय आसानी से कर जाते हैं, जिससे स्वाध्याय आदि में प्रमाद नहीं आता।
3. **वृत्तिपरिसंख्यान तप** - आहार लेने को जाते समय साधु संघ अनेक प्रकार के नियम लेते हैं कि अमुक विधि, अमुक व्यक्ति अथवा अमुक वस्तु के द्वारा कोई पड़गाहन करेगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा। इस तरह किसी भी प्रकार के नियम का संकल्प करके आहार के लिये जाना, आहार ग्रहण करना और इस प्रकार के संकल्पों के पूर्ण न होने पर समताभाव पूर्वक लौटना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।
4. **रसपरित्याग तप** - इन्द्रियों को वश में करने के लिये घी, तेल, नमक, दूध, दही और मीठा (चीनी, गुड़ आदि) इन छहों रसों में से शक्त्यनुसार एक, दो अथवा तीन आदि रसों का त्याग करना रस परित्याग तप कहलाता है। इससे सन्तोषी वृत्ति बढ़ती है जो वैराग्य-वृद्धि में सहायक है।

¹ मरणकण्डिका 212-214

² भगवती आराधना गा. 212

5. **विविक्तशैयासन तप** - मन को स्थिरता प्रदान करने के लिए, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिये एवं स्वाध्याय की सिद्धि के लिये एकान्त, जन्तुओं की पीड़ा से रहित शून्य घर, वन, वृक्षों की कोटरों में विभिन्न प्रकार के आसन लगाकर बैठना अथवा शयन करना विविक्त शैयासन तप कहलाता है।
6. **कायक्लेश तप** - उपसर्ग और परीषहों को सहन करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये भीषण गर्मी में तप्त शिला पर बैठकर, शीत ऋतु में खुले आसमान में रातों को वृक्ष के नीचे बैठकर, बरसात में वृक्ष के नीचे बैठकर सामायिक अथवा ध्यान करना कायक्लेश तप कहलाता है। पर्यकासन, अर्द्धपर्यकासन, पद्मासन, गवासन, वीरासन, हस्ति शूण्डासन, गोदूहआसन, मकरासन, कुक्कुट आसन आदि ऐसे अनेक प्रकार के आसन जो शरीर को कष्ट देने वाले हों वह कायक्लेश तप है। मंजन नहीं करना, खुजली नहीं करना, अस्नान, थूंकने का त्याग, रात्रि में जागृत रहना और केशलेंच करना आदि ये सब कायक्लेश तप हैं।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि कायक्लेश और उपसर्ग में क्या अन्तर है? क्योंकि ये समान प्रतीत होते हैं। इसका समाधान करते हैं कि कायक्लेश तप और उपसर्ग वस्तुतः ये दोनों एकदम भिन्न हैं। कायक्लेश अपनी इच्छा से होता है और उपसर्ग अपनी इच्छा के बिना परिस्थितिवशात् अन्य के द्वारा किया जाता है।

ये छह प्रकार के बाह्य तप मिथ्यादृष्टि भी तपते हैं और बाह्य में दृष्टिगोचर भी होते हैं। अतः ये बाह्य तप कहलाते हैं। सोलहकारण आदि जितने भी व्रतों का कथन किया गया है, वे सब बाह्य तप हैं।

जो बाह्य में दिखाई न दे, अन्तरंग में ही हों वे अन्तरंग तप कहलाते हैं। ये अन्तरंग तप भी 6 होते हैं।

1. **प्रायश्चित्त तप** - प्रमाद और अज्ञान के कारण व्रतों में लगे हुए दोषों का प्रमार्जन करने विनय पूर्वक दण्ड लेना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।
2. **विनय तप** - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार भेद से विनय चार प्रकार का है अथवा तप के भेद से पाँच प्रकार का भी है। जीवादि पदार्थों के अस्तित्व में और आत्मतत्त्व में रुचि रखना अर्थात् समीचीन श्रद्धा रखना दर्शन विनय है।

अथवा व्यवहार में सम्यग्दर्शन की पूजा करना, उसके पच्चीस दोषों का निराकरण करना भी दर्शन विनय कहलाता है। सम्यग्ज्ञान के साधनभूत जिनेन्द्र कथित शास्त्रों की विनय करना, उनकी पूजा करना और शास्त्रज्ञों का सत्कार करना ज्ञान विनय है। तेरह प्रकार के चारित्र की विनय करना, चारित्र धारण करने का उत्साह रखना चारित्र विनय है। सम्यग्चारित्रधारी मुनिराज के आने पर खड़े हो जाना, चलने पर उनके पीछे-पीछे चलना, परोक्ष में उनको नमस्कार करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, ये सब उपचार विनय है। बारह प्रकार के तप करने का अनुराग रखना, तपश्चरण करने में उत्साह रखना तप विनय है।

3. **वैयावृत्य तप** - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के पात्रों की यथायोग्य सेवा करना वैयावृत्य कहलाता है। जो भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं, दैगम्बरी दीक्षा प्रदान करते हैं, प्रमाद और अज्ञान से लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिये प्रायश्चित्त देते हैं, वे चतुर्विध संघ के नायक आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं। जो 11 अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं, संघ में सभी साधुओं को पठन-पाठन कराते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

जो अनशन आदि घोर तपश्चरण करते हैं, वे तपस्वी कहलाते हैं। जो संघ में रहकर ज्ञानार्जन करते हैं, ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं, वे शैक्ष्य कहलाते हैं। वृद्ध रोगी साधु ग्लान कहलाते हैं। अपने गुरुओं के द्वारा दीक्षित अथवा गुरु परम्परा में दीक्षित मुनि कुल कहलाते हैं। साधुओं के समूह को गण कहते हैं। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के समूह को संघ कहते हैं। जो वाग्मी हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, जिनसे धर्मप्रभावना होती है, समाज पर जिनका प्रभाव पड़ता है, ऐसे मुनि, व्रती अथवा असंयमी विद्वान् मनोज्ञ कहलाते हैं। इनके समक्ष आगत विपत्तियों को दूर करना, आवश्यकतानुसार यथायोग्य सेवा करना वैयावृत्य तप कहलाता है।

4. **स्वाध्याय** - शास्त्रों का पठन (वाचना) करना, अपने संशय को दूर करने के लिये गुरुजनों से पूछना (पृच्छना), पठित ग्रन्थों के अर्थ का मन में चिन्तन

करना (अनुप्रेक्षा), पठित पाठ को बार-बार दुहराना (आम्नाय) और प्रथमानुयोग आदि ग्रन्थों के अर्थ को भव्यों को समझना, उनको तत्त्वज्ञान कराना (धर्मोपदेश), ऐसे पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना, स्वाध्याय तप कहलाता है।

5. **व्युत्सर्ग** - बाह्य में परिग्रह के प्रति ममत्व का त्याग करना और शरीर के प्रति भी ममत्व का और कषायों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप कहलाता है।
6. **ध्यान** - मन को सकाग्र करके अपने आप में स्थिर करना, सारे विकल्पों को दूर करके निर्विकल्पक समाधि में लीन हो जाना ध्यान तप है।

यहाँ विशेष बात यह जानने योग्य है कि मात्र चारित्र संसार के दुःखों का कारण (उपाय) नहीं हो सकता, वह ज्ञान से सहित हो तभी लाभकारी है। बिना ज्ञान के चारित्र धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव है। जैसे किसी व्यक्ति को दिल्ली जाना हो परन्तु वहाँ जाने का मार्ग उसे मालूम (ज्ञात) न हो तो वह अपनी स्वेच्छा से यहाँ-वहाँ विचरण करने लगे तो क्या वह अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है? नहीं। उसी प्रकार जो चारित्र के सही ज्ञान न होने पर यदि वह कुछ भी अपनी इच्छा से आचरण करने के कारण वह मोक्ष रूपी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकेगा। अतः इन दोनों के सामञ्जस्य बिना इष्टलक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता।

इसी विषय में विशेष प्रकाश डालते हुए डा. आनन्द कुमार जैन अपने लघु शोध प्रबन्ध में लिखते हैं कि - जैनदर्शन के सिद्धान्त क्षेत्र में रहते हुए यदि इस विषय पर मन्थन किया जाय तो फल यह होगा कि मेधावी व्यक्ति सदैव यथाशक्ति तप करने का विचार करता है और इसके पालन करने में प्रमाद नहीं करता, परन्तु इतनी बात अवश्य है कि जो निरुत्साहित होकर तप करता है तो वह मात्र कायक्लेश ही सहता है और उस तप से भवनत्रिक और वहाँ से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में अनन्त दुःखों का वेदन करता है। मोक्ष के इच्छुक साधुजनों की गणना इनमें नहीं की जाती है, क्योंकि वे तप गुप्ति सहित करते हैं। अतः मोक्षप्राप्ति में वही तप सार्थक है जो सामर्थ्यपूर्वक मोक्षरूप उद्देश्य सहित होता है।

चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति आराध्य है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में उपाय स्वरूप यह आत्मा ही आराधना है, उसी आत्मस्वरूप में अनुचरण करने वाला वह जीव ही आराधक

है और कर्मक्षय के कारण मोक्ष की प्राप्ति होना आराधना का फल है। इस प्रकार से आराधना आदि ये चार चरण हैं।

आचार्य कहते हैं कि आराधना की प्राप्ति करने के लिये संसार के कारणों का त्याग करना ही पड़ता है। तभी शुद्ध आत्मा की आराधना कर पाता है।¹ पञ्चेन्द्रिय विषय, परिजन, नातेदार आदि से मोह का त्याग किये बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

निश्चय आराधना की जितनी उपयोगिता है उतना ही महत्त्व व्यवहार आराधना का है। जिस प्रकार निश्चय आराधना साक्षात् मोक्षफल रूप कार्य की साधिका है, उसी प्रकार व्यवहार आराधना साक्षात् मोक्षफल की साधिका नहीं है अपितु परम्परा से मोक्ष की साधिका है, क्योंकि व्यवहार बीज है। जैसे बीज परम्परा से वृक्ष-फल को प्राप्त हुआ देखा जाता है, साक्षात् नहीं।² यहाँ इतनी बात ध्यान देने योग्य है कि निश्चय आराधना की प्राप्ति होने पर व्यवहार आराधना स्वयं छूट जाती है, छोड़ी नहीं जाती।

आराधक का स्वरूप

पहले कुछ गाथाओं में आचार्य ने आराधना का स्वरूप, भेद और उसके फल का वर्णन किया परन्तु जो उस आराधना को प्राप्त करता है ऐसे आराधक के स्वरूप को अभी तक प्ररूपित नहीं किया। इसलिये अब आचार्य देवसेन स्वामी आराधक का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो।

दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ।³

अर्थात् निश्चयनय से कषायों को नष्ट करने वाला भव्य, सम्यग्दर्शन से सहित, सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न और दोनों प्रकार के परिग्रह का त्यागी पुरुष मरण पर्यन्त आराधना करने वाला आराधक होता है।

¹ आराधनासार गा. 15

² वही गा. 16

³ आराधनासार गा. 17

यहाँ आराधक के पाँच विशेषण दिये गये हैं-

1. निहतकषाय - जिसने कषायों को नष्ट कर दिया हो।
2. भव्य - जो मोक्षप्राप्ति अथवा सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य हो।
3. सम्यग्दर्शनयुक्त - जीवादि तत्त्वों के स्वरूप पर समीचीन श्रद्धा रखने वाला हो।
4. सम्यग्ज्ञानयुक्त - जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानने वाला एवं हेय और उपादेय के ज्ञान से सहित हो।
5. द्विविध परिग्रहत्यागी - बाह्य रूप 10 और आभ्यन्तर रूप 14 ऐसे दोनों प्रकार के 24 परिग्रह से रहित हो।

गाथा में जो 'मरणे' पद प्रयुक्त हुआ है उसके तात्पर्य से मैं डा. आनन्द कुमार जैन के कथन से बिल्कुल सहमत हूँ कि - आराधना मरण पर्यन्त होती है। आराधना का अभ्यास जीवनपर्यन्त होता है न केवल मरणकाल में। जो जीवनभर इन आराधनाओं का अभ्यास करता है वही मरणकाल में समताभाव से आराधक रह सकता है, मात्र मरणकाल में आराधना द्वारा मुक्ति की प्राप्ति विरले (भरत चक्रवर्ती, जो जीवन पर्यन्त साधु की तरह वैरागी रहे) होते हैं अथवा सुकुमाल मुनि को ही होती है। अतः किसी एक के दृष्टान्त से सार्वभौमिक नियम नहीं बन सकता। इसलिये जो ये विचार करते हैं कि हम अन्त समय में ही धर्मधारण करके मुक्त हो जायेंगे तो वे भ्रम में ही जी रहे हैं।

इन सब लक्षणों के अलावा और भी आराधक के लक्षण कहते हैं-

संसार सुहविरत्तो वेरगं परमउवसमं पत्तो।

विविहतवतविय देहो मरणो आराहओ एसो।¹

अर्थात् जो संसार सुख से विरक्त है, परम वैराग्य और उपशम भाव को प्राप्त है और जिसने विविध तपों से अपने शरीर को तपाया है, ऐसा भव्य प्राणी मरण पर्यन्त आराधक होता है।

¹ आराधनासार गा. 18

यहाँ इस गाथा में आराधक के तीन विशेषण बताये गये हैं-

1. **संसार सुख विरक्त** - इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से उत्पन्न जो सुख अर्थात् सुखाभास है उसका जिसने त्याग कर दिया है वह संसार सुख से विरक्त है, वही आराधक है।
2. **परम वैराग्य उपशम को प्राप्त** - शारीरिक वस्तुओं में राग का अभाव होने से जो वैराग्य सम्पन्न है और जो मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम से उत्कृष्ट उपशमक भाव को प्राप्त हो चुका है वह आराधक है।
3. **विविधतपतप्त देह** - अन्तरंग और बहिरंग तपों से तप्त है देह जिसकी वह आराधक है।

इन अन्य लक्षणों का कथन करने के पश्चात् और भी लक्षण प्रतिपादित करते हैं-

अप्पसहावे णिरओ वञ्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो।

णिम्महिय रायदोसो हवइ आराहओ मरणो।।'

अर्थात् जो आत्म स्वभाव में लीन है, जिसने परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न सुख रूपी रस का त्याग कर दिया है और जिसने राग-द्वेष का मथन कर दिया है अर्थात् राग-द्वेष का नाश कर दिया है, ऐसा भव्य जीव मरण पर्यन्त आराधना का आराधक होता है।

इस गाथा में भी तीन विशेषतार्ये/लक्षण व्यक्त किये गये हैं-

1. **आत्मस्वभाव में निरत** - जो भव्य जीव अत्यन्त निर्मल ज्ञान और परम चिदानन्द एकमात्र लक्षण है, उसमें लीन रहता है। पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर होने पर वह निर्मल हो जाता है, ऐसा निर्मल ज्ञानमय तथा निर्मल आनन्द ही आत्मा का स्वभाव है, जो पुरुष ऐसे आत्मस्वभाव में तत्पर रहता है, वह आराधक है।
2. **परद्रव्य संग सौख्य रस रहित** - समस्त परद्रव्य जो परमात्म पदार्थ से विलक्षण है ऐसे द्रव्य के संयोग से उत्पन्न सौख्य रस से विरहित है, आराधक है।

¹ आराधनासार गा. 19

3. निर्मथित राग-द्वेष - अपनी आत्मा के समान समस्त जीवराशि का अवलोकन करने से जिसके हृदय से इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में होने वाली प्रीति एवं अप्रीति नष्ट हो गयी है, वह आराधना करने की क्षमता रखने वाला आराधक है।

इस प्रकार आराधक के 11 लक्षणों/विशेषणों को प्ररूपित किया।

विराधक - अब आराधक के विपरीत स्वभाव वाला जो होता है उस विराधक का स्वरूप कहते हैं-

जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।

चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ॥¹

अर्थात् जो प्राणी रत्नत्रय से सहित निज शुद्धात्मा के ध्यान को छोड़कर परद्रव्य का चिन्तन करता है वह निश्चय से आराधना का विराधक (घातक) कहलाता है। आचार्य देवसेन स्वामी के कथन का तात्पर्य यह है कि हेय और उपादेय वस्तुओं के ज्ञान से रहित होने के कारण जो आराधक पुरुष के विलक्षण है स्वभाव जिसका वह पुरुष विराधक कहा गया है। निज आत्मा ही उपादेय है इसलिये उसे छोड़कर परद्रव्य का चिन्तन करना आराधना में बाधा उत्पन्न करता है। यहाँ कोई शंका करता है कि यदि उपादेयभूत निजात्मा का चिन्तक आराधक है और पर पदार्थों का चिन्तन करने वाला विराधक है तो फिर पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करने वाला भी विराधक होगा। तो इस शंका का परिहार करते हुए कहते हैं कि यद्यपि आपका कथन सत्य है तथापि पंचपरमेष्ठी के चिन्तन से निजात्मा की ओर ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि आराधना के सम्मुख पुरुष की एकाग्रता निजात्मा में नहीं हो पाती। इसलिये उस स्थिरता की प्राप्ति के लिये और विषय-कषायों से बचने के लिये शुद्धात्मध्यान में निमित्तभूत पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना करता है, भले ही ये आत्मस्वरूप से भिन्न हैं। वह विराधक तब हो सकता है जब वह पंचपरमेष्ठी की आराधना संसार परिभ्रमण के कारणभूत इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी ख्याति, पूजा, लाभ, भोग आदि से उत्पन्न होने वाले सुख रूप निदान की अभिलाषा करता है, क्योंकि उसका यह कार्य संसार का ही कारण है।

¹ आराधनासार गा. 20

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो आत्मतत्त्व का चिन्तन करे वह आराधक और जो परद्रव्य का चिन्तन करे वह विराधक होता है। अब यहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जो न आत्मा को जानता है और न परपदार्थ को जानता है उसके आराधना सम्भव हो सकती है अथवा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं-

जो णवि बुञ्जइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज।

तस्स ण बोही भणिया सुसमाहीराहणा णेया।¹

* अर्थात् जो पुरुष निश्चय नय का आत्मबन्धन कर आत्मा को नहीं जानता है और न ही पर पदार्थों को जानता है उसके न तो बोधि कही गई है, न ही बोधि का फल सुसमाधि कही गई है और न ही आराधना कही गई है।

ज्ञान-दर्शन स्वभाव से युक्त जीव को ही आत्मा कहा गया है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप जो द्रव्य आत्मा के साथ संलग्न है वह परद्रव्य है। इस तरह निज और पर को जानना बोधि है। बोधि का ही निर्विघ्न रूप से भवान्तर (आगामी पर्याय) में प्राप्त होना समाधि है। आराधना का लक्षण पहले कह आये हैं। जितने भी अब तक सिद्ध हुए हैं वे सब भेद-विज्ञान के द्वारा ही हुए हैं और जिनके भेद-विज्ञान का अभाव है वे आज तक कर्मबन्धन में बंधे हुए हैं। ऐसे जीव के आराधना तो होती ही नहीं, उसकी पूर्ववर्तिनी समाधि और समाधि की पूर्ववर्तिनी बोधि भी नहीं होती। अतः निजात्मा को उपादेय और परद्रव्य को हेय समझना चाहिये।

आराधक के गुण - आराधक का स्वरूप वर्णित करने के पश्चात् अब आराधक में किस प्रकार के गुण विद्यमान होते हैं सो कहते हैं-

अरिहो संगच्चाओ कसायसल्लेहणा य कायव्वा।

परिसहचमूण विजओ उवसग्गाणं तहा सहणं।

इंदियमल्लाण जओ मणगयपसरस्स तह य संजमणं।

कारुण हणउ खवओ चिरभवबद्धाइ कम्माइं।²

¹ आराधनासार गा. 21

² आराधनासार गा. 22-23

अर्थात् क्षपक संन्यास धारण करने के योग्य होता हुआ, परिग्रह का त्यागी, कषायों को कृश करने वाला, परीषह रूपी सेना को जीतने वाला, उपसर्गों को सहन करने वाला, इन्द्रिय रूपी मल्लों पर विजय प्राप्त करने वाला और मनरूपी हाथी के प्रसार को अवरुद्ध करने वाले के चिरकाल से अनेक भवों में बंधे हुए कर्मों का क्षय करता है। कर्मों का क्षय करने में जो तत्पर है, उसे क्षपक कहते हैं। ऐसे क्षपक को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि सल्लेखना धारण करने से पहले उसको धारण करने के योग्य बनो, उसके पश्चात् द्विविध परिग्रह का त्याग करके चारों कषाओं को कृश करो और बाईस परीषहों की सेना पर जय प्राप्त करो। तदुपरान्त उपसर्गों को सहन करके स्पर्शादि पाँच इन्द्रियरूपी मल्लों को जीतकर अन्त में मनरूपी मदमत्त हाथी को जीतने से चिरसंचित कर्मों का क्षय हो सकेगा।

आराधक को ही क्षपक कहते हैं और आराधना का फल सल्लेखना कहा गया है। उसको प्राप्त करने के लिये क्या योग्यता होनी चाहिये, उसका वर्णन करते हैं-

1. संन्यास धारक

छंडियगिहवावारो विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो।

जीविय धणासमुक्को अरिहो सो होइ सण्णासे॥¹

अर्थात् जिसने गृहसम्बन्धी व्यापार छोड़ दिया है, पुत्र-पौत्रादि आत्मीय जनों से सम्बन्ध छोड़ दिया है, जो जीवन तथा धन की आशा से मुक्त है, ऐसा क्षपक ही संन्यास ग्रहण करने के योग्य होता है। अयोग्य का त्याग करना और योग्य को ग्रहण करना संन्यास कहा गया है। यह शरीर मेरा है, इसने अभी तक मेरा साथ निभाया है, इसका विघटन अर्थात् नाश न हो, ऐसा विचार करना जीवित आशा है। धन-धान्यादि परिग्रह की अभिलाषा को धन-आशा कहते हैं। योग्य व्यक्ति की तीन विशेषतायें इंगित की गई हैं - त्यक्तगृहव्यापार, पुत्र आदि स्वजन के सम्बन्ध से रहित और जीवित एवं धन आशा से मुक्त होना।

बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओं में से कौन सी अवस्था में संन्यास ग्रहण करना श्रेष्ठ है? ऐसी जिज्ञासा करने पर समाधान करते हुए आचार्य कहते

¹ आराधनासार गा. 24

हैं कि - जब तक वृद्धावस्था रूपी व्याघ्री आक्रमण नहीं करती, इन्द्रियाँ शिथिलता को प्राप्त नहीं हो जातीं, जब तक बुद्धि नष्ट नहीं हो जाती, जब तक आयु रूपी जल नहीं गल जाता, निश्चय से जब तक अपने आप के आहार, आसन और निद्रा पर नियन्त्रण है, अपना आत्मा स्वयं निर्यापकाचार्य बनकर अपने आपको नहीं तार लेता है, अंगोपांग और संधियों के बन्धन ढीले नहीं पड़ जाते, शरीर मृत्यु के भय से भीरु पुरुष के समान कम्पित नहीं होता तथा संयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग में जब तक उद्यम नष्ट नहीं हो जाता, तब तक वह पुरुष संन्यास के योग्य नहीं होता है।'

अभी तक का समस्त विवेचन बाहरी लक्षणों को ध्यान में रखकर किया गया है जो कि व्यवहार की कोटि में आता है। अब आगे निश्चय नय की अपेक्षा कथन करते हैं - विकल्परहित जिस श्रमण का अपने स्वभाव में स्थिरता पा जाना ही निश्चय नय से निश्चयवादियों अर्थात् जो निश्चय को प्राप्त कर चुके हैं, ने संन्यास कहा है।² निश्चय नय अभेद रूप से कथन करता है। अतः इसकी अपेक्षा आधार और आधेय एक ही होता है, भिन्न-भिन्न नहीं होता।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि अन्तरंग लक्षण का धारक निश्चित ही बहिरंग लक्षण का धारक होता है। किन्तु बहिरंग लक्षण का धारक अन्तरंग लक्षण का धारक हो भी सकता है और नहीं भी।

अब द्वितीय जो योग्यता है वह है संगत्याग।

2. संगत्याग - संगत्याग से तात्पर्य सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग से है। इसी सन्दर्भ में आचार्य कहते हैं-

खित्तादिबाहिराणं अब्भित्तरमिच्छपहुदिगंथाणं।

चाए काऊण पुणो भावह अप्पा णिरालंबो।³

अर्थात् जिसने क्षेत्रादि दस बाह्य और मिथ्यात्वादि चौदह अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है, वही भव्य आत्मा आलंबन रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने के योग्य

1 आराधनासार गा. 25-28

2 आराधनासार गा. 29

3 आराधनासार गा. 30

पात्र होता है। आशय यह है कि केवल स्वरूप का आलम्बन होने पर द्रव्य की चिन्ता के सभी विकल्पों का त्याग होने से और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप ध्यान का आलम्बन के क्षय हो जाने से आत्मा में निरवलम्ब ध्यान होता है। 10 बहिरंग और 14 अन्तरंग परिग्रह ऐसे सम्पूर्ण चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करके ही निरवलम्ब ध्यान कर सकता है। अथवा अन्तरंग में अशुद्ध निश्चय नय (रागादि भावों) का त्याग करके निजात्म में रमण करना परिग्रह का त्याग कहा जाता है। कोई यदि ऐसा विचार करके कि परिग्रह भी रहे और मन की शान्ति भी प्राप्त हो तो यह असंभव है, क्योंकि जिस प्रकार उष्णता अग्नि की सहचर होती है उसी प्रकार अशान्ति, क्षोभ, दुःख आदि परिग्रह के सहचर हैं। सभी प्रकार का परिग्रह संसार में रोकने वाला है। इस परिग्रह का त्याग करने पर ही यह क्षपक निर्ग्रन्थ अर्थात् गाँठ रहित हो पाता है।

परिग्रह के त्याग के पश्चात् कषायों को कृश करना अगला लक्ष्य होता है।

3. कषाय सल्लेखना - यह शरीर इन्द्रियमय है, निज-निज विषयों में सेवन करने की इच्छा होती है। इन दोनों पर जो मोह रहित होता है, वह मन्दकषायी क्षपक कषाय सल्लेखना वाला होता है।¹

यहाँ पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों के क्षय और क्षयोपशम से होने वाले परिणाम को मन्दकषायी कहा गया है। जो मन्दकषायी होता है वही भव्यात्मा शरीर और इन्द्रिविषयों के प्रति हतमोह अर्थात् मोह रहित होता है। जिन्होंने कषायों को नहीं जीता है, परन्तु इन्द्रिय विषयों का त्याग करके सल्लेखना करता है तो ऐसा करने वालों को क्या फल मिलता है, उसे बताने के लिये आचार्य कहते हैं कि - जब तक कषायें मन्द नहीं होती हैं, तब तक मुनि के द्वारा बाह्य योग से की गई समस्त शरीर सल्लेखना फल रहित अर्थात् व्यर्थ होती है।² कषायों को कृश किये बिना शीत, उष्ण वायु को सहना, आतापन योग करना, अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट सहन करना, दान-पूजा आदि के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ है। परम लक्ष्य की दृष्टि से कषाय सहित तप व्यर्थ है, परन्तु यह सर्वथा व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि आगामी भवों में इस

¹ आराधनासार गा. 34

² आराधनासार गा. 35

तप का फल सुखरूप में मिलता है। परन्तु वह पुनः दुःखों को देने वाला होता है जिसे आगम की भाषा में पापानुबन्धी पुण्य कहते हैं। अतः जो पुण्य बाद में दुःख का अनुभव कराये वह व्यर्थ है।

ये कषायें अनन्त शक्तियुक्त आत्मा को अनादि कर्मबन्ध के कारण अपने वश में करने वाली बलवन्त और दुर्जय हैं। अर्थात् अनन्तवीर्य वाला आत्मा अनादिकाल से कषायों के वश में रहा है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक बड़ी कठिनता से परपदार्थों में जाने वाले परिणामों को अवरुद्ध करके अपने स्वरूप में स्थापित करने पर ही कषायों पर यह जीव विजय प्राप्त कर सकता है, इसलिये ये कषायें दुर्जय कहलाती हैं। इन कषायों को कृश करने से ध्यान में स्थिरता होती है और ध्यान में स्थिरता कषाय कृश करने का फल है। प्रारम्भ के तीन गुणस्थानों में कषायों के आधारभूत मिथ्यात्वरूपी राजा का एकछत्र राज्य होता है और कषायों के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन का अभाव है। इसलिये ये कषायों को जीतने की सामर्थ्य से रहित होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से ही कषायों को पछाड़ने में सामर्थ्य रहती है।

जब जब यह क्षपक कषायों के वश में रहता है तब तक वह संयमी नहीं हो सकता है, क्योंकि कषायें संयम का घात करने वाली होती हैं। क्षपक सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओं का आराधक तभी हो सकता है जब वह कषायों पर विजय प्राप्त करता है। विवेकी पुरुषों को कषाय के कृश होने पर अथवा संज्वलन कषाय के प्राप्त होने पर धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में स्थिरता की प्राप्ति होती है। कषायों के कृशित हो जाने से चित्त में एकाग्रता आती है, चित्त एकाग्र रहने से श्रमण (क्षपक) उत्तम धर्म को प्राप्त करता है। अतः निजात्मा की उपलब्धि के लिये कषायों को कृश करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

साधु की स्थिरता को भंग करने के लिये परीषह उत्पन्न होते हैं, उनको जीतना भी परम आवश्यक है, क्योंकि परीषहजय निर्जरा में प्रमुख कारण हो सकती है।

4. परीषहजय - परीषहजय के स्वरूप एवं परीषह को जीतने का उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं-

सीयाई वावीसं परीसहसुहडा हवन्ति णायव्वा।

जेयव्वा ते मुण्णिणा वरउवसमणाणखगोणा।।'

अर्थात् ये शीतादि बाईस परीषह अतिसुभट हैं, ऐसा जानकर मुनिराज को उत्कृष्ट उपशमभाव और ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा उनको जीतना चाहिये। ये 22 परीषह महासुभट, महायोद्धा हैं, कायर अथवा विषयाभिलाषी पुरुष इन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इनको उत्कृष्ट मुनिराज परमोपशमभाव और ज्ञान रूपी खड्ग से ही जीत सकते हैं। वे 22 परीषह इस प्रकार हैं - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शैय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शना² तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, रत्नकरण्डक श्रावकाचार और आराधनासार आदि अनेक ग्रन्थों में इनका स्वरूप विस्तार से उपलब्ध होता है। अतः यहाँ मात्र इनका नाम ही दिया जा रहा है।

कई लोग संयम को धारण तो कर लेते हैं, परन्तु दृढ़ निश्चयी न होने के कारण इन परीषहरूपी सुभटों से पराजित होकर पुनः विषय-सुख की ओर गमन कर जाते हैं। जैसे - आदिनाथ भगवान् के साथ जो चार हजार मुकुटबद्ध राजा दीक्षित हो गये थे परन्तु कई साधु क्षुधा आदि परीषह को सहन नहीं कर पाने के कारण स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए पुनः विषय भोगों में लिप्त होकर इन्द्रिय सुखों की ओर पलायन कर गये थे। अतः परीषहों से पीड़ित व्यक्ति को चिन्तन करना चाहिये कि मैं इनके वशीभूत होकर संसार में दुःखों को सहन कर रहा था, अतः इन्हें पराजित किये बिना दुःख नष्ट नहीं होंगे। ऐसा सोचकर परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिये परीषहों को सहन करना चाहिये।

सामान्य रूप से तप करने से निर्जरा होती है, परन्तु परीषह होने पर जो समताभाव धारण किये हुए रहता है, उसके अधिक कर्मों की निर्जरा होती है। परीषह में अधिक निर्जरा होने का कारण यह है कि सामान्य स्थिति में तो सभी समताभाव धारण कर लेते हैं, किन्तु विपरीत परिस्थिति में भी जो साम्यभाव को धारण किये रहता है तो

¹ आराधनासार गा. 40

² त. सू. 9/9

उसके अधिक निर्जरा होती है। अत्यधिक वेदना से पीड़ित होने पर भी यदि मध्यम भावना करता है तो अशुभ कर्म नष्ट होते हैं। यहाँ अशुभ कर्म से तात्पर्य घातिया कर्मों से है। शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग भावों में स्थिर हो जाने पर घातिया (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कर्मों का नाश हो जाता है।

परीषहजय करने में जो असमर्थ होते हुए परीषहरूपी सुभटों से भयभीत होकर चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देते हैं वे इस लोक में तो हंसी के पात्र होते ही हैं और परलोक में भी दुःखों को प्राप्त करते हैं। परीषह रूपी दावानल से संतप्त हुआ यह संसारी प्राणी यदि ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो वह निजस्वभाव रूपी जल से अभिषिक्त होने से निर्विकल्प होकर वेदना को भूलकर निर्वाण को प्राप्त करता है।

परीषहजय करना तो मुनि पर निर्भर करता है। जैसे दंशमशक परीषह हो तो वे पीछी से उसका परिमार्जन कर सकते हैं किन्तु उपसर्ग के निवारण का कोई उपाय नहीं है। अतः परीषह की अपेक्षा उपसर्ग में ज्यादा समताभाव धारण करना पड़ सकता है। इसलिये अब उपसर्ग के विषय में कहते हैं-

5. उपसर्गजय - पूर्व में उपार्जन किये गये कर्मों के उदय से सचेतन आदि अनेक प्रकार के दुःखजनक उपसर्ग आते हैं, इन उपसर्गों में साम्यभाव अथवा स्वसंवेदन ज्ञान से सहित चित्त से राग-द्वेष के अभाव रूप रहते हैं। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि कैसा भी उपसर्ग आ जाये उस उपसर्ग को मुनि समताभाव से सहन कर लेते हैं और ऐसा विचार करते हैं ये मेरे पूर्व में उपार्जित किये गये कर्मों का ही फल है।

ये उपसर्ग ज्ञानभावना से ही जीते जा सकते हैं। वे उपसर्ग सामान्य से एक प्रकार, चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार है। चेतन उपसर्ग - तिर्यञ्चकृत, देवकृत और मनुष्यकृत के भेद से तीन प्रकार के हैं। अचेतनकृत, देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत के भेद से चार प्रकार के हैं।

- (i) **अचेतनकृत उपसर्ग** - जो उपसर्ग अचेतन पदार्थों के द्वारा अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं वे अचेतनकृत उपसर्ग कहलाते हैं। जैसे दावानल, बाढ़, तूफान, भूकम्प आदि। इसमें शिवभूति मुनि आदि का नाम शास्त्रों में उद्धृत किया गया है।

- (ii) **देवकृत उपसर्ग** - जो देवों के द्वारा उपसर्ग किये जाते हैं वे देवकृत उपसर्ग कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत पार्श्वनाथ, श्रीदत्त मुनि, सुवर्णभद्र आदि मुनि वर्णित किये गये हैं।
- (iii) **मनुष्यकृत उपसर्ग** - जो मनुष्यों के द्वारा उपसर्ग किये जाते हैं वे मनुष्यकृत उपसर्ग कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत गुरुदत्त, पाण्डव, गजकुमार, चाणक्य मुनि, अभिनन्दनादि 500 मुनिराज, अकम्पन आदि 700 मुनिराज संयन्तमुनि आदि आते हैं।
- (iv) **तिर्यञ्चकृत उपसर्ग** - जो तिर्यञ्चों के द्वारा उपसर्ग किये जाते हैं वे तिर्यञ्चकृत उपसर्ग कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत सुकुमाल मुनि, सुकौशल मुनि आदि हैं।

इन सभी की कथाओं का विस्तार से वर्णन अन्य कई आगम ग्रन्थों में एवं आराधनासार में किया गया है। इन उपसर्गों को साम्यभाव से सहन करने से मुनियों ने शुक्लध्यान के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति करके मोक्षपद को प्राप्त किया। इन मुनियों ने जिस प्रकार महान् उपसर्गों को समताभाव से सहन किया और मुक्ति को प्राप्त किया, उसी प्रकार हे क्षपक! तुमको भी सहन करना चाहिये।

6. इन्द्रियजय - उपसर्ग विजय के अनन्तर इन्द्रियों को जीतना बताते हुए आचार्य कहते हैं - जिसने सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके संन्यास को धारण कर लिया है, फिर भी यदि उसकी इन्द्रियविषयों के प्रति लालसा नष्ट नहीं होती है, तो उस साधक का दर्शन, ज्ञान और तप आदि आराधना करना निश्चित रूप से निष्फल हो जाते हैं।¹ जब तक अपने मन से इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा और व्यापार नहीं छोड़ देता तब तक क्षपक (साधक) सम्पूर्ण दोषों का निराकरण कैसे कर सकता है? अर्थात् अशक्य होता है। इसी विषय को पुष्ट करते हुए आराधनासार के टीकाकार रत्नकीर्तिदेव कहते हैं-

पठतु सकलशास्त्रं सेवतां सूरिसंघान्

दृढयतु च तपश्चाभ्यस्तु स्फीतयोगम्।

¹ आराधनासार गा. 54

चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं
यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किञ्चित्॥

अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रों को पढ़ लो, आचार्य संघों की सेवा कर लो, तपश्चर्या में दृढ़ रहो, महान् आतापन आदि योगों का अभ्यास करो, विनयपूर्वक आचरण करो अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनयपूर्वक आचरण अथवा देव, शास्त्र और गुरु की विनय करो, समस्त तत्त्वों का ज्ञान कर लो, यदि हृदय में विषयाभिलाषा है तो ये दर्शनादि आराधनायें सभी निष्फल हैं, इनका कुछ भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

इन्द्रिय सुखों को बाह्य में नहीं अन्तरंग से त्याग करना चाहिये, क्योंकि वांछा ही दुःख का कारण होती है। वांछा को छोड़ने से स्वयमेव अन्तरंग में तृप्ति का एहसास होता है। अतः लालसा ही करना है तो शुद्ध आत्मतत्त्व की करो। वास्तविकता तो यही है कि इन्द्रिय से प्राप्त होने वाले सुख, सुख नहीं सुखाभास हैं, क्योंकि ये परद्रव्य के समागम से प्राप्त होते हैं।

7. **मनविजय** - जो इन्द्रियों का संचालक है ऐसा मन, इसको अवश्य ही जीतना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों को प्रवृत्ति करने का आदेश मन से ही प्राप्त होता है। मन को जीत लेने से इन्द्रियों पर विजय तो एकदम सहज हो जाती है। मन की विशेषता बताते हुए आचार्य कहते हैं-

इन्द्रियसेणा पसरइ मण्णरवइपेरिया ण संदेहो।
तम्हा मणसंजमणं खवएण यहवदि कायव्वं॥¹

अर्थात् मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित इन्द्रिय रूपी सेना अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करती है, इसमें कोई भी संशय नहीं है। अतः क्षपक अर्थात् कर्मों का क्षपण करने में तत्पर साधक को मन को संयमित करना चाहिये। सेना का नायक जैसे राजा होता है वैसे ही इन्द्रिरूपी सेना का नायक मन है। जैसे सेना राजा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ है उसी प्रकार मन के बिना इन्द्रियाँ भी कुछ भी प्रवृत्ति करने में असमर्थ होती हैं। इसलिये इन्द्रियों को वश में करने के लिये सर्वप्रथम उनके राजा मन को वश में करना आवश्यक है।

¹ आराधनासार गा. 58

मन की और विशेषता को वर्णित करते हुए आचार्य कहते हैं - यह मन रूपी राजा एक निमेष मात्र काल में देव, असुर, विद्याधर और राजा आदि के समस्त भोगों को अपने भोग का विषय बना लेता है। अतः उस मन के समान इस लोक में अन्य कोई महायोद्धा नहीं है।¹ ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि - यह मन रूपी दैत्य क्षण भर में अपनी चपलता से बिना थकावट के तीन सौ तैंतालीस राजु प्रमाण सम्पूर्ण तीन लोक में भ्रमण कर सकता है। अतः इस मन का प्रभाव दुर्विचिन्त्य है अर्थात् इसका हम चिन्तन करके कथन नहीं कर सकते। मन के विकल्पों का अभाव होना मन का मरण है और राजा के मरण से इन्द्रिय रूपी सेना भी अशक्त हो जाती है। मन तथा इन्द्रिय के संयमित होने पर कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। निर्जरा होने से निश्चित ही पंच परावर्तन रूप संसार का अभाव हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

जो पुरुष मनरूपी ऊँट को ज्ञान की भावना से नहीं रोकता है वह चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। मन की प्रबलता ध्यान में रखते हुए इसे नष्ट करने का उदाहरण देते हुए कहते हैं - मन एक वृक्ष है जिसकी राग-द्वेष दो बड़ी शाखायें हैं। इन शाखाओं से अन्य कई इन्द्रिय-विषय उपशाखायें मिलकर मन रूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फल लगते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में इच्छा रूपी फल विस्तार से प्राप्त करते हैं, इसलिये इसे मोहरूपी जल से नहीं सींचना चाहिये। मन रूपी वृक्ष को निर्मूल करके इसकी उपशाखाओं को काटकर इसे विस्तार रहित करना चाहिये। इससे मन का व्यापार नष्ट हो जाता है और इन्द्रियाँ असहाय होने से अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं हो पाती हैं, क्योंकि जड़ कट जाने पर उसमें पत्ते आदि की उत्पत्ति नहीं होती है।

यदि कोई शरीर को निश्चल करके मुख से एक शब्द भी उच्चारण न करे किन्तु उसका मन चञ्चल है तो शरीर और वचन की अस्थिरता सब व्यर्थ है, क्योंकि समग्र कर्माश्रय का मुख्य कारण मन की चंचलता है, इसलिये इसे निश्चल करना ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

¹ आराधनासार गा. 59

मन का प्रसार रुकने के बाद मन का उपयोग शून्य ध्यान में लगाना चाहिये।
इसलिये अब शून्यध्यान को कहते हैं-

शून्यध्यान - शून्यध्यान का लक्षण कहते हैं-

जस्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि।

ण य धारणा विवप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्जा।¹

अर्थात् जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है और धारणा का विकल्प नहीं है, उसे शून्यध्यान जानना चाहिये और उसकी अच्छी प्रकार से भावना करनी चाहिये यहाँ आशय यह है कि जहाँ आर्त, रौद्र, धर्म्य, और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का ध्यान नहीं है। जिन, बुद्ध, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक प्रकार के ध्येय का विकल्प नहीं तथा शुचि, प्रसन्नवदन, देव-शास्त्र-गुरु का भक्त, सत्यवान, शील-दयादि से युक्त, चारों ध्यानों को जानने में कुशल, बीजाक्षरों की अवधारणा करने वाला, इन विशेषणों वाला लोक में ध्याता का भी विकल्प नहीं, जिसमें शुक्ल-पीतादि, शत्रु के बध-बन्धनादि का तथा स्त्री अथवा राजा की अधीनता आदि का विकल्प नहीं है, कालान्तर में 'नहीं भूलना' रूप धारणा भी जिस अवस्था में नहीं है तथा असंख्यात लोक प्रमाण जो मानसिक विकल्प हैं, वे भी जिस अवस्था में नहीं हैं उसे शून्यध्यान जानना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि तुम यदि कर्मों का क्षय करना चाहते हो तो शीघ्र ही अपने मन को विकल्पों से रहित करो, क्योंकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर ही निश्चय से आत्मतत्त्व प्रकाशमान होता है।² जिस प्रकार बादलों का विघटन हो जाने पर सूर्य प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेष से रहित मन हो जाने पर निर्मल विभाव रहित सकल, विमल केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

शून्यध्यान में परिणत आत्मा के परिणाम अत्यन्त विशुद्ध होते हैं। इसलिये शून्यता और शुद्धभाव में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि पर-पदार्थ अशुद्ध है और उनसे शून्य होना शुद्धता का सूचक है। जीव के आश्रय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य ये सब गुण

¹ आराधनासार गा. 78

² आराधनासार गा. 74

रहते हैं। गुण-गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं, इसलिये इन्हें अभेदरूप ही से माना जाता है।

सांसारिक विषयों से तो मन को शून्य करना उचित है, किन्तु जो आत्मस्वभाव के शुद्ध अस्तित्व में शून्य हो गया है वह समस्त ध्यान व्यर्थ है। अतः ध्यानी सर्वदा आत्मा के विषय में जागरूक रहता है।'

आत्मा में शून्य और अशून्य की अवस्था का अनेकान्त बताते हैं कि - आत्मा शून्य और अशून्य दोनों है। परस्पर विरोधी गुण एक ही तत्त्व में एक ही समय में सम्भव नहीं है ऐसा माना जाता है, परन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा सांसारिक विषय सामग्रियों के चिन्तन से रहित है। अतः शून्य है, परन्तु अपने आत्मस्वरूप का मनन करने के कारण अशून्य है। अतः एक ही समय में आत्मा शून्य होते हुए भी सर्वथा शून्य नहीं है।

शून्य ध्यान से तात्पर्य निर्विकल्पक समाधि है। समाधि में स्थित होता आत्मा अनादिकाल से बंधे हुए समस्त कर्मों को नष्ट कर देती है। यदि योग रूपी कल्पवृक्ष मनरूपी मत्त हाथी द्वारा अथवा मिथ्याज्ञान रूपी दावानल के द्वारा भस्म नहीं होता, तो निश्चित ही मोक्षरूपी समीचीन फल को प्राप्त करता है। जिस प्रकार जल में नमक की डली एकमेक हो जाती है उसी प्रकार जिसका चित्त ध्यान में लीन हो जाता है उसके हृदय में शुभ एवं अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मरूप अग्नि उत्पन्न होती है।

इस शून्य ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय एवं अन्य गुण भी प्रकट होते हैं, क्योंकि ध्यान से कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं है।¹ निज शुद्ध स्वभाव में स्थित सिद्ध भगवान् एक समय में समस्त द्रव्य का और उनकी गुण-पर्यायों को युगपत् जानते और देखते हैं। उन्हीं सिद्ध भगवान् के स्वरूप को और विशेष रूप से बताते हैं - शरीर रहित वे सिद्ध भगवान् अनन्तकाल तक इन्द्रिय से उत्पन्न विषयों से रहित, उपमा रहित, सहज सुख का अनुभव करते हैं।² सिद्ध भगवान् का ज्ञान ही शरीर होता है, तीनों प्रकार के कर्म रूपी मलों से रहित होते हैं।

1 आराधनासार गा. 76

2 आराधनासार गा. 87

3 आराधनासार गा. 89

संसार एक विषय कषाय से भरे हुए मगरमच्छों का निवास स्थान है। अतः इसमें रहने वाला कभी भी निश्चिन्तता को प्राप्त नहीं हो पाता। क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त सभी जीव हैं। ऐसे सार रहित संसार को त्यागना ही जिनवाणी का सार है। इसलिये अपने स्वरूप और सुख की प्राप्ति के लिये आराधना चतुष्टय की आराधना प्रतिसमय करना चाहिये।

आराधना का फल

जो भी भव्य जीव शुभ भावों से आराधनाओं की आराधना करता है वह निश्चित रूप से उसके फलस्वरूप सल्लेखना धारण करके समाधिमरण को प्राप्त करता है। आराधना का फल समाधि है। समाधि को प्राप्त करने के लिये ही चारों आराधनाओं की विशुद्ध भाव से आराधना की जाती है, क्योंकि ये आराधनायें संसार का विनाश करने के लिये प्रवचन की सारभूत हैं।

ऐसे समाधिपूर्वक मरण के आचार्यों ने कई प्रकार के भेद बताये हैं। आचार्य शिवकोटि महाराज ने मरण के 17 भेद, पाँच भेद और तीन भेद प्ररूपित किये हैं। आचार्य शिवकोटि ने जो 17 भेद किये हैं उनके नाम इस प्रकार हैं¹- 1. आर्वीचिका मरण, 2. तद्भव मरण, 3. अवधि मरण, 4. आद्यंत मरण, 5. बाल मरण, 6. पण्डित मरण, 7. आसन्न मरण, 8. बालपण्डित मरण, 9. सशल्य मरण, 10. पलाय मरण, 11. दशार्त्त मरण, 12. विप्राण मरण, 13. गृध्रपृष्ठ मरण, 14. भक्तप्रत्याख्यान मरण, 15. इंगिनी मरण, 16. प्रायोपगमन मरण, 17. केवलि मरण। इन सत्रह भेदों में से संक्षेप करके पाँच भेदों का निरूपण भी आचार्य ने किया है। वे इस प्रकार हैं-

1. पण्डित-पण्डित मरण, 2. पण्डित मरण, 3. बालपण्डित मरण, 4. बाल मरण और 5. बाल-बाल मरण²।

इन पाँच मरण में भी जो मुख्य रूप से प्रशंसनीय हैं वे तीन भेद इस प्रकार हैं - 1. पण्डित-पण्डित मरण, 2. पण्डित मरण, 3. बालपण्डित मरण।

¹ भग. आ. गा. 25

² भग. आ. गा. 26

केवली भगवान् का निर्वाण गमन करना ही पण्डित-पण्डितमरण कहलाता है और देशव्रती श्रावक का बालपण्डित मरण होता है।

जो साधक आराधनाओं की आराधना करता है, आचारांग की आज्ञानुसार यथोक्त चारित्र का पालन करते हैं, उन साधुओं के पण्डित मरण होता है। इस पण्डित मरण के तीन भेद आचार्यों ने प्ररूपित किये हैं-भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन मरण।¹

जिसमें संघस्थ साधुओं से वैयावृत्य कराते हैं और स्वयं भी अपनी वैयावृत्य करते हैं एवं यथाक्रम से आहार, कषाय और देह का त्याग करते हैं उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जिसमें अन्य किसी से वैयावृत्य तो नहीं कराते हैं। कदाचित् उठना, बैठना, चलना, हाथ-पैर फैलाना, सिकोड़ना, सोना आदि क्रियायें स्वयं करते हैं, परन्तु बिना कराये यदि कोई करता है तो मौन रहते हैं, ऐसे आहार-पान के त्यागी साधु एकाकी देह का त्याग करते हैं, उसे इंगिनी मरण कहते हैं। जिसमें न ही अन्य किसी से वैयावृत्य कराते हैं और न ही स्वयं करते हैं, समस्त काय, वचन की क्रिया से रहित जीवन पर्यन्त त्यागी मृतक के समान दिखाई देने वाले साधु मरण करते हैं, वह प्रायोपगमन मरण कहलाता है।

समाधिधारक की प्रशंसा करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुमने दुर्लभ संयम रूपी रत्न को धारण किया तथा संन्यास धारण कर उत्तम मरण प्राप्त किया इसलिये तुम धन्य हो यह मनुष्य भव सफल किया। आगे कहते हैं कि यह सच है कि समाधि में क्षपक को मन तथा शरीर सम्बन्धी दुःख होता है। बाह्य तप उपवासादि के कारण शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाते हैं और उनमें अत्यन्त वेदना होती है। उस क्षुधा और तृषा से उत्पन्न होने वाली वेदना के कारण शरीर दुर्बल हो जाता है परन्तु उस वेदना को साम्यभाव से सहन करना चाहिये।²

समाधिधारक को सम्बोधन करते हुए कहते हैं-शारीरिक कष्ट का अनुभव क्षपक को विचलित भी कर देता है, किन्तु निर्यापकाचार्य उस क्षपक के स्थितिकरण के लिये सम्यक् उद्बोधन देते हैं। वस्तुतः अनेकों बार ऐसा होता है कि भूख-प्यास की

¹ भग. आ. गा. 29

² भग. आ. गा. 93

बड़ा सहन न कर सकने के कारण समाधिधारक अत्रादि के त्यागोपरान्त भी उनकी इच्छा व्यक्त करता है। उस समय में क्षपक की मनोदशा को समझते हुए उसे पुनः धर्ममार्ग में स्थित करना निर्यापकाचार्य का कर्त्तव्य है। अतः उद्बोधन देते हुए कहते हैं कि कायरता एवं दीनता व्यक्त करने पर भी असाता कर्म का उदय किसी को भी नहीं छोड़ता, साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् भी इसके उदय को रोकने में असमर्थ हैं। प्रत्येक क्षपक को शरीर सम्बन्धी कष्ट तो होता ही है, क्योंकि यह शरीर अनन्त दुःखों की खान है। सारा जीवन जो तलवार चलाना सीखे परन्तु युद्धक्षेत्र में जाकर तलवार न चलाये, तब क्यों उसे शत्रु छोड़ देते हैं? कदापि नहीं। उसी प्रकार जो अन्त समय हिम्मत हार जाते हैं, उन्हें असाता वेदनीय कर्म नहीं छोड़ता है।

अनेक जन्मों से इस शरीर को भोजनादि का अभाव इसे सहन नहीं होता है। अतः इन दुःखों से ऊपर उठना है, तो चिन्तन की धारा को बाह्य की ओर प्रवाहित न करके अन्तरंग की ओर मांडना होगा और यह विचार करना होगा कि मैंने कई बार शरीर तथा मन को तृप्त किया, किन्तु ये कभी तृप्त नहीं हुए। अतः इनकी सेवा करना व्यर्थ है।

समाधिधारक क्षपक आत्मस्वरूप का चिन्तन करता हुआ विचार करता है कि मैं सुखमय, एक शुद्धात्मा तथा ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ, अन्य जो परभाव हैं, वे सब कर्म से उत्पन्न होते हैं। मैं नित्य हूँ, जरा-मरण से रहित हूँ, हमेशा अरूपी हूँ, ज्ञानी हूँ, जन्म से रहित हूँ, पर की सहायता से रहित हूँ। आत्मा एकान्त से न शून्य है, न जड़ है, न पंच महाभूतों से उत्पन्न है, न कर्तृभाव को प्राप्त है, न एक है, न क्षणिक है, न संसार में व्यापक है और न नित्य है किन्तु प्रत्येक क्षण शरीर प्रमाण है, चैतन्य का एक आधार है, कर्त्ता है, भोक्ता है, स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है और एक है।

क्षपक को यह विचार करना चाहिये कि जैसे तलवार सदैव म्यान में रहती है, परन्तु वे दोनों एक नहीं हैं अपितु अलग-अलग हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म एक साथ रहते हैं फिर भी दोनों अलग-अलग हैं। अतः जिस प्रकार म्यान से तलवार को अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों को अलग किया जा सकता है, परन्तु ये

बिना ध्यान के सम्भव नहीं है। अतः आत्मस्वरूप का ध्यान करता है तो मुक्ति रूपी लक्ष्मी निश्चित रूप से प्राप्त होती है।¹

आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीव! समस्त बहिरंग और अन्तरंग परिग्रह को त्याग करके जिनेन्द्र भगवान् का दिगम्बर वेश धारण करो, आत्मस्वरूप का ध्यान करो तो नियम से सिद्ध पद को प्राप्त करोगे।²

¹ भग. आ. गा. 105,111

² भग. आ. गा. 112

द्वितीय परिच्छेद : ध्यान का स्वरूप एवं भेद

प्रारम्भ से ही विश्व में आध्यात्मिक उन्नति की धारा निरन्तर प्रवहमान रही है। जिसमें भारत की भी विविध संस्कृतियों, परम्पराओं, आचारों और विचारों का अद्भुत समन्वय दृष्टिगम हुआ है। इसी कारण से भारत को जगत् का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। उसमें भी विभिन्न मतों, आचार-विचार में स्वविशिष्टता के कारण से सभी का परस्पर में पृथक् अस्तित्व है। एकाधिक अस्तित्व वाले होने पर भी सभी परम्पराओं में अनेक स्थलों पर समरसता है। जहाँ एक ओर कुछ तथ्य एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं, वहीं कुछ विपरीत। भारतीय ध्यान परम्परा भी इसकी सम्पोषक है।

चार्वाक को छोड़कर भारत के प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में ध्यान की सत्ता को स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा दो प्रमुख धाराओं में विभक्त है - वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा में जैन और बौद्ध संयुक्त रूप से सम्मिलित हैं। इन तीनों परम्पराओं में प्राचीन काल से लेकर आज तक आध्यात्मिक उन्नति के लिये ध्यान साधना की परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान रही है। यद्यपि देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप साधना की प्रक्रिया में परिवर्तन, परिवर्धन और परिशोधन होते रहे हैं, तथापि ध्यान परम्परा की मूल अवधारणा में परिवर्तन नहीं हुआ।

ध्यान में एकाग्रता का होना अत्यावश्यक है, ऐसा प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है अथवा यह कहा जाय कि एकाग्रता का ही अपर नाम ध्यान है तो गलत न होगा। कोई ध्यान को समाधि का नाम देता है तो कोई ध्यान को साधना कहता है, नाम कोई भी हो परन्तु सबका अभिप्राय चित्त की एकाग्रता से मुक्ति प्राप्त करना ही है।

जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द आदि अनेक आचार्यों ने ध्यान परम्परा को समय-समय पर विशिष्ट रूप से समृद्ध किया है, इसलिये जैन परम्परा में ध्यान से सम्बद्ध साहित्य प्रचुरता में प्राप्त होते हैं। आचार्य माघनन्दि ने 'ध्यान सूत्राणि' नाम से एक पृथक् ग्रन्थ ही रच दिया है, जो ध्यान के लिये उपयोगी सूत्रों का प्रतिपादन करता है। ध्यान के विषय में वैसे तो कई आचार्यों ने अपनी लेखनी को प्रवृत्त किया है, परन्तु उसमें पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, पूज्यपाद स्वामी, शुभचन्द्राचार्य, आचार्य देवसेन स्वामी और ब्रह्मदेव सूरि आदि प्रमुख हैं।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन के ध्यान की अवधारणा में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है। कुछ (योग आदि) दर्शनों में ध्यान और योग को लगभग एक समान मान्यता है परन्तु जैनदर्शन में ध्यान और योग का स्वरूप अत्यन्त भिन्न है। जहाँ मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है, वहाँ इन तीनों को एकाग्र करके किसी एक पर स्थिर हो जाना ध्यान है। अन्य मतों की अवधारणा के अनुसार मन की स्थिरता को योग कहा गया है। बौद्ध दर्शन की अपेक्षा यदि ध्यान का स्वरूप कहें तो चित्त का अभ्यास ही ध्यान है और कुशल चित्त की एकाग्रता को समाधि कहा गया है।

भारतीय संस्कृति में ध्यान का विशेष महत्त्व है, यथा आरोग्य शास्त्र में रोग, रोग के कारण, आरोग्य और आरोग्य के कारण वर्णित किये गये हैं तथा जैन शास्त्रों में संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन है और उस मोक्ष की प्राप्ति ध्यान के द्वारा ही संभव है। अतः कर्मों को जलाने के लिये आचार्यों ने ध्यान का अवलम्बन धारण करने की शिक्षा प्रदान की है। यह ध्यानरूपी अग्नि ही है जो निधत्ति और निकाचित कर्मों को भी लकड़ी की तरह भस्म कर देती है।

इसी ध्यान को संस्कृत व्याकरण के अनुसार ध्यै धातु से चिन्ता के अर्थ में ग्रहण किया गया है। सामान्य रूप से एकाग्रता पूर्वक चिन्ता का निरोध करना ध्यान कहलाता है। मुख्यतया ग्रन्थों पर जब दृष्टिपात करते हैं तो सभी आचार्यों ने लगभग एक समान स्वरूप प्ररूपित किया है। आचार्य उमास्वामी ने एक सूत्र में ही ध्यान किसके होता है? ध्यान का स्वरूप और ध्यान का समय, इन तीन तथ्यों को निर्दिष्ट किया है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि - 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' उत्तम संहनन वाले के अर्थात् वज्रवृषभ नाराच संहनन वाले के, एकाग्रता से चिन्ता का निरोध करना अर्थात् चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान कहलाता है। वह ध्यान मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिये होता है। इस सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने तीनों विषयों को एकत्रित कर दिया है।

ध्यान में चित्त की स्थिरता अर्थात् एकाग्रता होनी चाहिए अन्यथा ध्यान संभव नहीं है। एकाग्रता को ही ध्यान क्यों कहा जाता है? तो इसका समाधान करते हुए आचार्य रामसेन कहते हैं कि - एकाग्रता का अर्थ व्यग्रता की विनिवृत्ति है और ज्ञान ही वास्तव में व्यग्र होता है ध्यान नहीं। चित्त में व्यग्रता होगी तो फिर ध्यान किस प्रकार से संभव

होगा, जैसे बाहुबलि भगवान् के मन में स्थिरता न आ पाने के कारण ही वह एक वर्ष तक निश्चल खड़े रहे परन्तु वह स्थिर, अविचल, अन्तर्मुहूर्त का ध्यान नहीं हो पाने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाये थे और बाद में चित्त की एकाग्रता आई, ध्यान की सिद्धि हुई और केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसी कारण से ध्यान में एकाग्रता होना परम आवश्यक है। श्वेताम्बर आगमों (उत्तराध्ययन और आवश्यकनिर्युक्ति आदि) में ध्यान का स्वरूप इसी प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि - आलम्बन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न तथा निष्प्रकम्प चित्त ध्यान कहा है। आलम्बन में मृदु भावना से रहित अव्यक्त और अनवस्थित चित्त ध्यान नहीं कहलाता है।

‘ध्यै’ चिन्तायामिति धातोः निष्प्रोऽयं ध्यानशब्दः। ध्यै धातु से चिन्ता के अर्थ में जो शब्द बनता है वह है ध्यान। सामान्य रूप से एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध करना ध्यान कहलाता है। मुख्यतया ग्रन्थों पर जब दृष्टिपात करते हैं तो आचार्य उमास्वामी द्वारा निर्दिष्ट ध्यान का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि - ‘उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तत्’ अर्थात् उत्तम संहनन वाले के, इसका यह अभिप्राय हुआ कि वज्रवृषभ नाराच संहनन वाले के, एकाग्रता से चिन्ता का निरोध करना अर्थात् चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान कहलाता है। वह ध्यान मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिये होता है। इस सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने तीनों विषयों को एकत्रित कर दिया है। एक ध्यान किसके होता है? दूसरा ध्यान क्या कहलाता है? तीसरा ध्यान कितने समय के लिये होता है?

एक सूत्र में सारी बातें कह दीं जो अन्य किसी के लिये इतना सहज नहीं था। ध्यान का स्वरूप बताते हुए आचार्य पूज्यपादस्वामी लिखते हैं कि चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।² इसी प्रकार ध्यान का स्वरूप विशेष रूप से व्याख्यायित करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं कि तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभ नाराच संहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।³ और विस्तारपूर्वक बताते हैं जो चित्त

¹ त. सू. 9/27

² स. सि. 9/20

³ आ. पु. 21/8

का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और चञ्चल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं। यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् प्रथम गुणस्थान से 12वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। 13वें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देव के भी योग के बल से होने वाले आम्रव का निरोध करने के लिये उपचार से ध्यान माना जाता है।¹ ध्यान के समानार्थक शब्दों को भी यहाँ वर्णित करते हुए लिखते हैं कि - योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चञ्चलता रोकना, स्वान्त-निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ का चिन्तन करता है उस परिणाम को ध्यान कहते हैं। यह करण साधन की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है।²

आचार्य शुभचन्द्र भी ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि - विद्वानों में श्रेष्ठ गणधरादिक एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान बतलाते हैं। यह उत्कृष्ट शरीर बन्धन अर्थात् संहनन से संयुक्त साधु के अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है। किसी एक ही विषय की ओर जो चिन्ता को रोका जाता है, उसका नाम ध्यान है। इससे भिन्न भावनायें होती हैं। उनमें शरीर-संसार आदि अनेक विषयों की ओर चिन्ता का झुकाव होता है। भावनाओं के ज्ञाता उन भावनाओं को अनुप्रेक्षा अथवा अर्थ चिन्ता भी स्वीकार करते हैं।³ यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि मन या चित्त में थोड़ी सी भी चञ्चलता होती है तो वह ध्यान की कोटि में नहीं आ पाता है। ध्यान में चित्त की स्थिरता अर्थात् एकाग्रता होनी चाहिये अन्यथा ध्यान सम्भव नहीं। एकाग्रता को ही ध्यान क्यों कहा जाता है? इसका सटीक समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - इस ध्यान के लक्षण में जो एकाग्र का ग्रहण किया गया है वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिये है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है ध्यान नहीं होता। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।⁴ आचार्य जिनसेन स्वामी कहते हैं कि-

1 आ. पु. 21/9-10

2 आ. पु. 21/12-13

3 ज्ञानार्णव 1194-1195

4 तत्त्वानुशासन 59

ध्यानमेकाग्रचिन्ताया घनसंहननस्य हि।

निरोधोऽन्तर्मुहूर्तं स्याच्चिन्ता स्यादस्थिरं मनः।¹

अर्थात् उत्तम संहनन के धारक पुरुष की चिन्ता का किसी एक पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त के लिये रुक जाना सो ध्यान है और चिन्ता का अर्थ चञ्चल मन है, अर्थात् चिन्ता की स्थिति में मन की स्थिरता नहीं बन पाती है। जैसे बाहुबलि भगवान के मन में स्थिरता नहीं आ पाने के कारण ही वह एक वर्ष तक निश्चल खड़े रहे, कई परीषहों को सहन किया परन्तु वह अविचल, स्थिर अन्तर्मुहूर्त का ध्यान नहीं हो पाने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाये थे और बाद में जैसे ही चित्त में एकाग्रता आई ध्यान की सिद्धि हुई और केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ध्यान की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि - यथार्थ वस्तु को सामान्य देखने और विशेषतापूर्वक जानने से परिपूर्ण परद्रव्य चिन्ता का निरोध रूप ध्यान कर्मबन्ध स्थिति की अनुक्रम परिपाटी से खिरने का कारण होता है। आत्मीक स्वभाव संयुक्त साधु महामुनि के होता है। परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित है।²

इसी प्रकार ध्यान का स्वरूप बताते हुए पं. आशाधर जी लिखते हैं कि-

इष्टानिष्टार्थ मोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।

ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात् मोक्षस्ततः सुखम्।³

इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि के मूल मोह का छेद होने से चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं। वह ध्यान रत्नत्रय की प्राप्ति कराता है और उससे मोक्षरूपी सुख को प्राप्त करता है। आचार्यों ने ध्यान को मोक्ष का साक्षात् कारण बताया है, क्योंकि सीधा कर्म रूपी मैल को ध्यान जला डालता है, इसीलिये ध्यान को अग्नि की उपमा दी गई है। श्वेताम्बर आगम में भी ध्यान का स्वरूप इसी प्रकार ही बताया है, उनके द्वारा प्रतिपादित स्वरूप में भी एकाग्रता ही ध्यान का लक्षण है। आचार्य ध्यान का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं-

¹ हरिवंशपुराण 56/3

² पञ्चास्तिकाय गा. 152

³ अन. ध. श्लो. 114

जो स्थिर अध्यवसाय है, वह ध्यान है। छद्मस्थ के एक वस्तु में चित्त का एकाग्रतात्मक ध्यान अन्तर्मुहूर्त मात्र का होता है। फिर वह ध्यान धारा भिन्न पर्याय में परिवर्तित हो जाती है। केवली के योग निरोधात्मक ध्यान होता है।' उत्तराध्ययन आगम ग्रन्थ में लिखते हैं कि -

एगागमणस्मिन्निवेशणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ।¹

अर्थात् एकाग्रमन के सन्निवेश से जीव चित्त का निरोध करता है। सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुधजन उसे ध्यान कहते हैं। आवश्यक नियुक्ति में वर्णित किया गया है कि - आलम्बन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न तथा निष्प्रकम्प चित्त ध्यान है। आलम्बन में मृदु भावना से संलग्न अव्यक्त और अनवस्थित चित्त ध्यान नहीं कहलाता है।

ध्याता

ध्यान को करने वाला कौन पात्र होता है? अर्थात् वह ध्यान किसके होता है, उसको वर्णित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि - नष्ट किया है मोह रूपी मल्ल जिसने ऐसा जो आत्मा विषय से विरक्त होता हुआ, मन का निरोध करके स्वभाव में समवस्थित है वह आत्मा को ध्याने वाला है।²

इसी विषय को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अन्य प्रकार से भी कहते हैं - वास्तविक पदार्थ को सामान्य रूप से देखने और विशेषता सहित ज्ञान करने से सकल अन्य पदार्थों की चिन्ता का अवरोध / निरोध रूप ध्यान कर्म के स्थिति बन्ध की क्रमिक परम्परा से झड़ने का कारण होता है। आत्मतत्त्व में लीन होने से आत्मस्वभाव से सहित हो चुका है साधु ऐसे महामुनि के यह ध्यान होता है। यह ध्यान परपदार्थ के सम्बन्ध से अत्यन्त रहित है।³

-
- 1 ध्यानशतक 2,3
 - 2 उत्तराध्ययन 29/26
 - 3 प्रवचनसार गा. 196
 - 4 पञ्चास्तिकाय गा. 152

ध्यान के विषय में ही ध्यान का निश्चय की अपेक्षा लक्षण वर्णित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - जिस ज्ञानी मुनि के मोह और राग-द्वेष रूप भावकर्म नहीं हैं तथा मन, वचन, काय रूप योगों के प्रति उसका उदासीन भाव है उसे शुभ रूप और अशुभ रूप उपयोग का दाह करने वाली ध्यानमय अग्नि निश्चय से प्रकटित होती है।¹

ध्येय

ध्यानी को किसका ध्यान करना चाहिये अथवा ध्यान करने योग्य ध्येय कौन सा पदार्थ है इस संसार में? तो उसको प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा अर्थात् ज्ञानी मुनि स्वयं अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मतत्त्व में, निज आत्मा के द्वारा, निज आत्मा के लिये, अपने-अपने हेतु से ध्यान करता है। अतः कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण इस प्रकार षट्कारक स्वरूप परिणमन करता हुआ आत्मतत्त्व ही ध्यान स्वरूप अथवा ध्येय है।²

जो लोग ऐसा सोचते हैं कि आधे खुले हुए नेत्रों से या बन्द आँखों से ध्यान की साधना संभव है तो आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं कि - अर्द्ध उन्मीलित नेत्रों से अथवा आँखों को बन्द करने से क्या ध्यान की प्राप्ति हो सकती है? कभी भी नहीं हो सकती है। जो जीव इन सब विकल्पों से रहित होकर चित्त में एकाग्रता को ग्रहण करके आत्मतत्त्व में स्थित हो जाते हैं, मात्र उनको ही इस प्रकार स्वयं ही मोक्ष रूपी सुख की प्राप्ति होती है।³

ध्यान के भेद

चित्त में शुभोपयोग और अशुभोपयोग की अपेक्षा आचार्यों ने ध्यान के मुख्य रूप से दो भेद किये हैं। उन दोनों के नामों का वर्णन करते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी कहते हैं कि अशुभ चिन्तन के कारण आर्तध्यान और रौद्रध्यान को अप्रशस्त और शुभ

¹ पञ्चास्तिकाय गा. 146

² तत्त्वानुशासन श्लो. 74

³ परमात्मप्रकाश 2/169

एवं आत्मकल्याण के लिये जो चिन्तन होता है वह धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान कहे गये हैं।¹

आचार्य उमास्वामी महाराज ने पहले तो सामान्य रूप से ध्यान के चार भेद करते हुए कहा है कि - ध्यान के चार भेद है - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।² इन चारों का वर्णन सामान्य रूप से कथन करने के बाद उसके ही आगे तुरन्त एक सूत्र दिया है जो एक विशेष तथ्य को दर्शाता है। उन्होंने कहा है कि जो बाद के दो ध्यान हैं वे मोक्षप्राप्ति में कारण हैं³ अर्थात् इसका यह तात्पर्य हुआ कि जो बाद वाले दो ध्यान हैं वे शुभ अथवा प्रशस्त ध्यान हैं, क्योंकि ये मोक्षप्राप्ति में मुख्य हेतु हैं। इसी तरह जो मोक्ष के कारण नहीं हैं वे पारिशेष न्याय से संसार के कारण होने से प्रारम्भ के दो ध्यान अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान हैं।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य शिवार्य लिखते हैं कि - सद्गति की प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाले और अत्यधिक भय रूप निमित्त होने से महाभयंकर रौद्र ध्यान और आर्त ध्यान को छोड़कर वह समीचीन प्रज्ञा से सहित श्रेणी आरोहण करने के सम्मुख क्षपक धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान को अपने चित्त में लाकर ध्याता है।⁴

इसी विषय का समर्थन करते हुए एवं सार्थक तर्क देते हुए आचार्य अकलंक देव कहते हैं कि - ये जो चार ध्यान हैं वे दो प्रकार के जानना चाहिये - प्रशस्तध्यान, अप्रशस्तध्यान। अप्रशस्त ध्यान पाप के आस्रव का कारण होने से एवं कर्मों के नाश की सामर्थ्य होने से प्रशस्त संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि धर्म्य और शुक्ल ध्यान कर्मों के नाश में सहायक होते हैं।⁵

इन्हीं भेदों को प्ररूपित करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं कि - ध्यान के दो भेद हैं - प्रशस्त एवं अप्रशस्त। इनमें भी दोनों के दो-दो भेद हैं। अप्रशस्त के दो भेद - आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान तथा प्रशस्त के दो भेद धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान।

1 मूलाचार पञ्चाचाराधिकार 394

2 त. सू. 9/28, ज्ञा. सा. 10, त. अनु. 34, अन. ध. 7/103

3 वही 9/29

4 भगवती आराधना 1699

5 तत्त्वार्थवार्तिक 9/28/4

इन चारों में से प्रारम्भ के दो ध्यान हेय हैं, क्योंकि ये छोटे ध्यान हैं और संसार की संतति में वृद्धि करने वाले हैं एवं बाद के दो ध्यान संसार का छेद करने में समर्थ होने से मुनियों के लिये भी उपादेय भूत हैं।¹

आचार्य शुभचन्द्र ने पृथक् रूप से विशेष वर्णन करते हुए कहा है कि कुछ संक्षेप रुचि वाले शिष्यों ने ध्यान को तीन प्रकार का स्वीकार किया है, क्योंकि उनका मानना है कि जीव का आशय तीन प्रकार से होता है। उन तीनों आशयों में से सर्वप्रथम पुण्य रूप शुभ आशय है, द्वितीय इसके विपरीत पाप रूप अशुभ आशय है और तृतीय इन दोनों की कल्पना भेद से रहित शुद्ध उपयोग की अवस्था वाला आशय होता है। इस प्रकार जीव की तीन अवस्थाओं के अनुरूप ये ध्यान के तीन भेद किये गये हैं।² और आगे अपने ही ग्रन्थ में दूसरे प्रकार से भी भेद प्रकट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि जो पूर्व में वर्णित किया गया ध्यान है वह दो प्रकार है। जीवों के इष्ट और अनिष्ट रूप फलप्राप्ति के कारण स्वरूप ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त हैं।³

अर्द्धमागधी आगम साहित्य में ध्यान के चार भेदों को स्वीकार किया गया है। वे हैं - आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान। इनमें प्रमुख रूप से ठाणांग सुत्त में चौथे अध्ययन में चौथे स्थान में पहले उद्देश के 247 वें सूत्र में लिखा है कि - 'चत्तारि ज्ञाणा पण्णत्ता, तं जहा - अट्ठे ज्ञाणे, रोद्देज्ञाणे, धम्मे ज्ञाणे, सुक्के ज्ञाणे'। इसी तरह और भी आगमों में ध्यान के चार भेद ही वर्णित हैं।⁴

आचार्य देवसेन स्वामी ने अन्य आचार्यों की तरह चार ध्यान के भेद तो स्वीकार किये ही हैं, साथ में एक विशेष रूप से भी भेद प्रदर्शित किया है जो अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया। ये आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता ही है कि जो उन्होंने बिल्कुल अलग तरह से भेद प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि - एक भद्र ध्यान भी है। यह भद्र ध्यान आर्त-रौद्र और धर्म्य ध्यान के मध्य की अवस्था है। आचार्य कहते हैं कि जो भी श्रावक सम्यग्दर्शन से सहित अपनी इच्छाओं से भोग करता है और धर्म्यध्यान की

¹ आ. पु. 21/27-29, ह. पु. 56/29, ज्ञा. 25/20

² ज्ञानार्णव 3/27-28

³ वही 25/17

⁴ समवायांग सुत्ते - चउट्ठाणे-1, आवश्यक निर्युक्ति 1463, औपपत्तिकसूत्र 30

प्राप्ति का उपाय भी करता है तो उसे ही भद्रध्यान समझना चाहिये। इस अवस्था में अपनी इच्छानुसार भोगों को भोगते हुए जो धर्म के विषय में विचार करता रहता है वही भद्र ध्यानी होता है। भद्रध्यान का कथन अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। आचार्य देवसेन स्वामी ने यह ध्यान इसलिये प्रदर्शित किया है, क्योंकि उनका मानना है कि गृहस्थ के धर्म्य ध्यान की साधना आसान/सहज नहीं है। परन्तु जो भी पाप बन्ध वह गृहस्थ आर्तध्यान और रौद्रध्यान से अर्जित करता है, उनको यह अपने सद्ज्ञान और भद्रध्यान से नाश कर सकता है।'

अब ध्यान के भेदों के स्वरूपों को प्ररूपित करते हैं-

आर्त ध्यान - सामान्य से ध्यान पद का प्रयोग पारमार्थिक योग और समाधि के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। किन्तु यथार्थतः आचार्यों का कथन है कि किसी भी शुभ और अशुभ परिणाम में एकाग्रता ध्यान कहलाता है। आर्तध्यान अशुभ परिणामों की एकाग्रता से उत्पन्न ध्यान है। आर्तध्यान के स्वरूप का वर्णन हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि - 'आर्त' शब्द तो 'ऋत' पद से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है पीड़ा।¹ इसका आशय यह है कि दुःख को उत्पन्न करने वाला ध्यान आर्त ध्यान कहलाता है। यह ध्यान मिथ्याज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। इसके दो भेद आचार्यों ने वर्णित किये हैं वे - बाह्य और आभ्यन्तर हैं। जो अन्य लोगों के द्वारा अनुभव किया जाता है वह बाह्य आर्तध्यान कहा जाता है। परिग्रह में आसक्ति, कुशील में प्रवृत्ति, धार्मिक एवं सामाजिक तथा आत्मिक (निजी) विषयों में कृपणता, अतिलोभ, भीति (भय), उद्विग्नता, महान् शोक इत्यादि ये सब आर्तध्यान के बाह्य चिह्न हैं। जो स्वयं ही ज्ञात हो सकता है वह आन्तरिक आर्तध्यान कहलाता है। इसी के स्वरूप को प्रदर्शित कहते हुए आचार्य शुभचन्द्र स्वामी कहते हैं कि -

ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।

दिङ्मोहोन्मत्तता तुल्यमविद्यावासनावशात्॥

¹ भा. सं. 364

² स. सि. 9/28/445

सामान्य रूप से आचार्यों ने आर्तध्यान के चार भेद बतलाये हैं - अनिष्ट संयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाजन्य और निदान।

(i) अनिष्ट संयोगज - किसी अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग होने का अथवा वह किस प्रकार दूर हो जाये, इसका बार-बार चिन्तन करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहलाता है। इसके स्वरूप को और अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि - इस संसार में अपना, अपने सम्बन्धी, धन और शरीरादि का नाश करने वाले अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंहादि, क्रूर जन्तु, जलचर जीव, बिल बनाकर रहने वाले जीव, दुष्ट मनुष्य और राजा एवं अपने शत्रुओं आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने से जो उनके संयोग होने और उनका परिहार करने के लिये जो बार-बार चिन्तन होता है वह अनिष्ट संयोगज आर्त ध्यान कहलाता है। चर पदार्थ, अचर पदार्थ और चराचर पदार्थों के संयोग से यह आर्तध्यान होता है। इन पदार्थों के विषय में सुनने, देखने, स्मरण करने से अथवा अपने अधिक समीप समागत होने से आगामी समय में उनका वियोग किस प्रकार हो? ऐसा जो बार-बार चिन्तन करना है वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहलाता है।¹ यह ध्यान पाप बन्ध का कारण है।

(ii) इष्ट वियोगज - जो पदार्थ बहुत अच्छा लगता है उसके वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति किस हेतु से हो जावे, इस विषय में निरन्तर बार-बार चिन्तन करना इष्टवियोगज आर्तध्यान कहलाता है।² तात्पर्य यह है कि मनोज्ञ पदार्थ यथा - राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, सौभाग्य और अन्य भोगों की सामग्री आदि के नाश हो जाने पर अथवा वियोग हो जाने पर और जो इन्द्रियों के विषय मन को प्रिय लगते हैं उनका वियोग हो जाने पर जो त्रास, पीड़ा, भ्रम, शोक और मोह के कारण से खिन्न भाव उत्पन्न होता है अथवा उनका पुनः संयोग किस कारण से होवे, ऐसा बार-बार चिन्तन करना इष्टवियोगज आर्तध्यान कहा जाता है।³ यह ध्यान भी पाप बन्ध का हेतु है।

(iii) वेदनाजनित आर्तध्यान - किसी रोग अथवा चोट या घाव के हो जाने पर जो तीव्र वेदना उत्पन्न होती है, उसको दूर करने के लिये जो बार-बार चिन्तन होता है वह

¹ ज्ञानार्णव 25/25-28, त. सू. 9/30, चा. सा. 18/5

² त. सू. 9/31, भा. सं. 359

³ ज्ञाना. 25/29

वेदनाजन्य आर्तध्यान कहलाता है।¹ जीवों के शरीर में तीन प्रकार से रोग उत्पन्न होते हैं वे हैं - वात, पित्त और कफ तथा और भी अन्य प्रकार से उत्पन्न हुए रोगों के माध्यम से उत्पन्न प्राणान्त पीडा का प्रबल उदय आने पर श्वास, भगन्दर, जलोदर, क्षयरोग, अतिसारादि रोगों के उत्पन्न होने पर जीव को व्याकुलता अथवा क्लेश के निवारण के लिये जो बार-बार चिंतन करना अथवा रोगजन्य दुःख के विषय में बार-बार चिन्तन करना वेदनाजनित आर्त ध्यान कहलाता है। भावि काल में यह ध्यान पाप बन्ध का कारण, दुर्निवार और महान् दुःखों का कारण होता है। स्वप्न में भी किसी भी प्रकार के रोग की उत्पत्ति न हो ऐसा बार-बार चिन्तन करता रहता है।²

(iv) निदान आर्तध्यान - पूर्व में किये गये पुण्यार्जन अथवा प्रभु भक्ति के बदले इस लोक और परलोक के लिये सांसारिक भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति के विषय में बार-बार चिंतन करना निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान कहलाता है।³ यह जीव तीव्र वासना के कारण वर्तमान में तीव्र वेदना को सहन करके बड़े-बड़े तप करता है, वह भी मात्र आगामी समय में मनवाञ्छित सुख की इच्छा की पूर्ति के लिये बार-बार चिन्तन करता रहता है, वह निदान कहा जाता है ऐसा आचार्यों का मत है।

इस प्रकार संक्षेप से आर्तध्यान का स्वरूप प्रतिपादित किया है। ये चारों ही आर्तध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से रंजित रहते हैं। ये चारों ही आर्तध्यान अज्ञानमूलक, पाप बन्ध के आयोजन में तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करने वाले, अनेकों प्रकार के विषयों की प्राप्ति में आकुलित, धर्म भाव का त्याग कराने में समर्थ, कषाय भावों से युक्त, अशान्ति में वृद्धि करने वाले, अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाले, कटुक फल प्रदान करने वाले, असाता कर्म का बन्ध कराने में सक्षम और तिर्यग्गति आदि का बन्ध कराने में सहायक होते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने इन्हीं सब विषयों को अतिसंक्षेप रूप से एक ही गाथा में समेटकर वर्णित किया है कि इस आर्तध्यान के करने से यह जीव

¹ त. सू. 9/32, भा. सं. 359

² ज्ञाना. 25/32

³ त. सू. 9/33

सतत पापरूप अशुभ कर्मों का बन्ध किया करता है और इसी के द्वारा कोई भी व्यक्ति तिर्यञ्च पर्याय को भी प्राप्त करता है।'

इन चारों आर्त ध्यानों में इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज और पीड़ा जनित ये तीनों पहले गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक के जीवों के होते हैं और निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान पहले गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान तक के जीवों के ही होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि क्या मुनि कभी निदान नहीं करते हैं या उनके नहीं होता है। तो इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि कोई प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनि निदान करता है तो उसका तुरन्त गुणस्थान गिर जाता है और वह एक से पाँच गुणस्थानों में से किसी एक में आ जाते हैं। इस प्रकार 6वें गुणस्थान में निदान आर्तध्यान सम्भव नहीं है।

इस प्रकार प्रथमतया यह आर्तध्यान रमणीय प्रतीत होता है फिर भी अन्तिम समय में कुपथ्य के रूप में यह अप्रशस्त ध्यान छोड़ने योग्य ही है।

2. रौद्रध्यानम् - रुद्र का अर्थ क्रूरता होता है। इसमें होने वाले भाव को रौद्र कहते हैं और क्रूरता के आशय से उत्पन्न होने वाले ध्यान को रौद्र ध्यान कहते हैं।²

आवश्यकचूर्णि में रौद्रध्यान का स्वरूप वर्णित करते हुए लिखा है कि 'हिंसाणुरंजितं रौद्रं' अर्थात् हिंसा से अनुरंजित (लथपथ अथवा सने हुए) भावों को रौद्र ध्यान कहते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी उद्धृत करते हैं कि - जीव की अत्यन्त तीव्रता के साथ कषायें जब होती हैं तो उन भावों को रौद्र ध्यान कहते हैं।³ यहाँ आचार्य का आशय यह है कि कषाय का उदय तो प्रत्येक संसारी जीव के होता है परन्तु जिसके कषाय का अत्यधिक तीव्र उदय रूप परिणाम होते हैं वे रौद्रध्यान कहलाते हैं। अन्य प्राणियों को रुलाता हुआ सभी प्राणियों में रुद्र, क्रूर, निर्दय कहलाता है। ऐसे ही जीवों के जो ध्यान

¹ भा. सं. 360

² स. सि. 9/28

³ आव. चू. भाग 2, पृ. 82

⁴ भा. सं. गा. 361

होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। इसमें कषाय और पापादि क्रियाओं को करते हुए उनमें अत्यन्त आनन्द मानता है, इसलिये इसे रौद्र ध्यान कहा जाता है।

रौद्रध्यान के भेद - आचार्यों ने रौद्रध्यान के भी चार भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं - हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और विषयसंरक्षणानन्दी ध्यान।¹

(i) हिंसानन्दी रौद्र ध्यान - अपने और अन्य के द्वारा अन्य जीवों में मारे गये, पीड़ित किये गये और नाश किये गये जीवों में जो हर्ष अथवा आनन्द उत्पन्न होता है उसको हिंसानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। जो स्वभाव से निर्दयी क्रोधकषाय से युक्त व्यभिचारी अथवा भगवान् के स्वरूप को नहीं मानता या फिर पापों के डर से दूर है वह रौद्र ध्यान का आधार होता है। ऐसा जीव अन्य जीवों के दुःखों में प्रसन्नता का अनुभव करता है। पूर्व में उत्पन्न हुए शत्रु से प्रतिशोध के विषय में चिन्तन करता है, दुःखियों को देखकर प्रसन्न होता है। दूसरों की सम्पदा-ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या करता है, हिंसा के साधनों (तलवार, चाकू, बन्दूक आदि) का संग्रह करता रहता है, दुष्टों की सहायता करता है, ये सब हिंसानन्द रौद्रध्यानियों के चिह्न आचार्यों ने लक्षित किये हैं।²

(ii) मृषानन्द रौद्रध्यान - अपनी बुद्धि से काल्पनिक युक्तियों के द्वारा अन्य लोगों को ठगने के लिये असत्य वचनों के कथन के संकल्प का बार-बार चिन्तन करना मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। सामान्य रूप से अन्य किसी को छलने के लिये झूठ बोलना और उसमें आनन्द मानना ही मृषानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। ऐसे जीव सांसारिक भोगों की इच्छा से कल्याण रूप धर्म मार्ग से विमुख होकर कुमार्ग में प्रवर्तित होते हैं। अपनी प्रभुता से निरपराधी जीवों को भी अपराधी घोषित करवाकर राजा अथवा कानून से दण्डित करवाकर बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अपने वाक् चातुर्य से मूढ़ लोगों को संकट में डालकर अति प्रसन्न होते हैं। ऐसे जीवों के विचारों को आचार्यों ने मृषानन्द रौद्रध्यान कहा है।³

¹ त. सू. 9/35, ज्ञाना. 26/3, भा. सं. 361-362

² ज्ञाना. 26/4-15

³ वही 26/16-23

(iii) चौर्यानन्द रौद्रध्यान - चोरी करके अथवा चोरी के उपाय बताकर उसमें प्रसन्नता का अनुभव करना चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहलाता है। ऐसे जीवों में चोरी के उपायों के उपदेश देने की बहुलता, चातुर्य, चोरी करने में तत्परता इत्यादि सहज ही होते हैं। इसमें जीव क्रोध और लोभ के वश से अन्य लोगों की वस्तुओं को चुराने में उद्यत रहता है और उसमें बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करता है। बिना थके चोरी की योजनायें बनाने तत्पर चित्त और हर्षित होता रहता है। ऐसा चौर्यानन्द रौद्रध्यान अतिशय रूप से निन्दा का पात्र होता है।¹

(iv) विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान - चेतन और अचेतन रूप बाह्य परिग्रह में 'यह मेरा है' इस प्रकार की ममत्व भावना से परिग्रह का कोई अपहरण न कर ले इस भय से उसकी रक्षा करने के लिये बार-बार जो चिन्तन किया करता है और वह उनका जो रक्षण करने में आनन्द का अनुभव करना है उसे विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। उसी कारण से यह जीव क्रूर परिणाम से युक्त होता हुआ तीक्ष्ण अस्त्र और शस्त्रों के द्वारा शत्रुओं को मार करके उनके ही ऐश्वर्य, संपदा को भोगने की इच्छा अपने मन में संजोये रखते हैं। कामभोग के साधन और धनादिक का संरक्षण और उनकी वृद्धि करने की लालसा एवं व्यापारादि तथा धनार्जन के साधनों के लाभ, वृद्धि में ही अभिलाषा रखते हैं।

यह रौद्रध्यान जीवों के मोक्षलक्ष्मी को उत्पन्न करने वाले धर्म रूपी वृक्ष को क्षणमात्र में ही नष्ट कर देता है, इसलिये यह ध्यान भी अशुभ और अप्रशस्त होता है। जहाँ कुटिल भावों का ही चिन्तन होता है। स्वभाव से ही जीव सभी पापों में उद्यत होता है। कुध्यान में लीन होता हुआ अन्य प्राणियों को पीड़ित करने के लिये उपायों का चिन्तन करने में तत्पर रहता है। फलतः यह स्वयं ही दुःख से पीड़ित रहता है। रौद्रध्यान सहित जीव इस लोक में और परलोक में भय से आतंकित होता रहता है और अनुकम्पाविहीन होकर नीच कर्मों में निर्लज्ज होकर पाप में आनन्द मानने वाला होता है।²

¹ ज्ञाना. 26/24-28

² ज्ञाना. 26/37, आवश्यकध्यानम् 4

यह ध्यान कृष्ण, नील और कापोत इन तीनों लेश्याओं के बल से होता है। यह ध्यान नरकादि पर्यायों को उत्पन्न करने वाला है। यह ध्यान प्रथम गुणस्थान से लेकर पञ्चम गुणस्थान तक होता है। छठवें गुणस्थानवर्ती जीवों के पाप का सर्वथा त्याग होने से यह ध्यान नहीं होता है। पञ्चम गुणस्थान तक जो कहा है वह वर्णन भी मिथ्यात्व की प्रधानता से कहा गया है, क्योंकि पञ्चम गुणस्थान में सम्यक्त्व की सामर्थ्य से अत्यधिक रौद्र परिणाम नहीं हो पाते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि - जिनके मोहनीय कर्म का अत्यधिक तीव्रता को लिये हुए उदय होता है। उन जीवों के रौद्रध्यान होतौ है, इस ध्यान का चिन्तन करने से नरक पर्याय की प्राप्ति होती है।¹

आर्तध्यान और रौद्रध्यान के बाद सभी आचार्यों ने धर्म्य ध्यान को स्वीकार किया है, परन्तु आचार्य देवसेन स्वामी इस स्थिति में अपने कुछ पृथक् विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि - इन दोनों आर्तध्यान और रौद्रध्यानों से उस गृहस्थ श्रावक जो पाप रूप परिणामों का फल उत्पन्न होता है उस फल को यह सम्यग्दृष्टि श्रावक अपने शान्त परिणामों को धारण करने से और तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होने से अपने भद्र ध्यान से नाश कर देता है। यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी का आशय यह है कि आर्त-रौद्र ध्यान और धर्म्यध्यान के बीच में भद्र ध्यान होता है।² यहाँ पर आचार्य की विशेष दृष्टि यह है कि जो गृहस्थ श्रावक अभी आर्त-रौद्र ध्यान में रमा हुआ है उसके थोड़े से ही शान्त या उपशम परिणामों से धर्म्यध्यान संभव नहीं है। इसलिये उन्होंने इनके मध्य में एक भद्रध्यान स्वीकार किया है।

आचार्य भद्रध्यान का स्वरूप प्ररूपित करते हुए कहते हैं कि यह जीव पञ्चेन्द्रिय विषयों के भोगों को छोड़कर धर्म का चिन्तन करता है और धर्म का चिन्तन करता हुआ भी स्वेच्छानुसार विषय भोगों को भोगता है उसे भद्रध्यान कहा जाता है।³ यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी का तात्पर्य यह है कि - यह श्रावक कभी विषयों में डूबा हुआ धर्म के विषय में विचार करता है और धर्म सम्बन्धी कार्यों में विषयभोगों का विचार करता है। अतः उसका चित्त स्थिरता को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसमें भागों को

¹ भा. सं. 363

² भा. सं. गा. 364

³ वही गा. 365

भोगता हुआ भी धर्म्यध्यान को धारण करने की प्रबल इच्छा करता है इसलिये उसको धर्म्यध्यान कहा गया है।

धर्म्य ध्यान - वस्तु का स्वभाव धर्म कहा जाता है। जीव का स्वभाव आत्मानन्द है अर्थात् आत्मा से उत्पन्न होने वाला आनन्द जो कि अमृत के समान होता है न कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख। यह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है। इस धर्म से युक्त भाव को धर्म्य कहते हैं।¹ इस प्रकार के धर्म से युक्त ध्यान को धर्म्यध्यान कहते हैं। राग-द्वेष की जड़ हैं ऐसे समस्त पदार्थों को तजकर मोक्षमार्ग में स्थित साधक/श्रावक के द्वारा समता का अभ्यास करने के लिये किया गया ध्यान धर्म्य ध्यान कहलाता है।² इसी सन्दर्भ में आचार्य देवसेन स्वामी भी धर्म्यध्यान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि - जो सभी पदार्थों में मुख्य पदार्थ है उस आत्मा अर्थात् जीव के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना धर्म्य ध्यान कहा जाता है। एक परिभाषा दूसरे प्रकार से भी देते हुए कहते हैं कि - सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों में उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म बतलाया है, उन दसों प्रकार के धर्मों का चिन्तन करना भी धर्म्यध्यान कहा जाता है।³

कुछ आचार्यों ने बारह भावनाओं, दशलक्षण धर्म, साधु के गुणों का कीर्तन, वेनय, दान सम्पन्नता, श्रुत-संयम-शील आदि से रति, इन सबका ध्यान करना भी धर्म्य ध्यान कहा है।

धर्म्य ध्यान के भेद - प्रायः सभी आचार्यों ने धर्म्यध्यान के चार भेद प्ररूपित किये हैं, जो निम्न हैं-

1. आज्ञा विचय धर्म्यध्यान
2. अपाय विचय धर्म्यध्यान
3. विपाक विचय धर्म्यध्यान
4. संस्थान विचय धर्म्यध्यान⁴

¹ स. सि. 9/36/4

² ज्ञाना. 33/1-2

³ भा. सं. गा. 372-373

⁴ त. सू. 9/36, ज्ञाना. 33/5

आचार्य अकलंक स्वामी ने धर्म्यध्यान के दस भेद भी कहे हैं जो इस प्रकार है-अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, विराग विचय, भव विचय, संस्थान विचय, आज्ञा विचय और हेतु विचय।¹ आचार्यों ने और भी प्रकार से धर्म्य ध्यान के भेदों का निरूपण किया है। जिनमें श्री चामुण्डराय जी ने दो भेदों का उल्लेख किया है बाह्य और आध्यात्मिक।² निश्चय और व्यवहार के भेद से भी धर्म्य ध्यान दो प्रकार का स्वीकार किया गया है और उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य के भेद से तीन प्रकार का भी स्वीकार किया गया है। दो भेदों के क्रम में एक भिन्न मत उपलब्ध होता है - मुख्य और उपचारा।³ दो भेदों को अलग से आचार्य देवसेन स्वामी ने भी स्वीकार किया है-एक आलम्बन सहित, दूसरा आलम्बन रहित।⁴

यहाँ पर अभी जो सर्वसम्मति से सभी आचार्यों ने चार भेद स्वीकार किये हैं उनके स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं, शेष भेदों की चर्चा आगे करेंगे।

1. आज्ञा विचय धर्म्य ध्यान - जैन सिद्धान्त ऐसा है जैसा केवली भगवान् के द्वारा प्ररूपित किया गया है जैसे छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, तत्त्व के अनन्त गुण पर्याय सहित त्रयात्मक त्रिकाल गोचर सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा गया धर्म इन सबका इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर यह भगवान् की आज्ञा है ऐसा प्रमाण मानकर चिन्तन करता है उसे आज्ञा विचय धर्म्य ध्यान कहते हैं।⁵ यहाँ आज्ञा का अभिप्राय यह है कि विषय को अच्छी प्रकार से जानकर उसके अनुरूप आचरण करना। अन्धानुकरण भी यहाँ नहीं होना चाहिये। यहाँ इसका अभिप्राय है - सर्वज्ञ देव की आज्ञा से और विचय का अर्थ होता है विचार अथवा चिन्तन। इस ध्यान में सर्वज्ञ केवली के द्वारा कहे गये तत्त्व का चिन्तन अथवा विचार किया जाता है कि सर्वज्ञ का उपदेश त्रुटिरहित, संशय रहित, सत्य वचन योग रूप और हमारे हितकारी हैं, क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष है, साक्षात् आत्मा से होता है और वे वीतरागी होते हैं। इसलिये वह निष्पक्ष रूप से तत्त्वों का व्याख्यान करते

1 त. वा. 1/7/14
 2 चारित्रसार 172/3
 3 तत्त्वानुशासनम् 47-49, 96
 4 भा. सं. गा. 374
 5 ज्ञाना. 33/7, भा. सं. गा. 367

हैं। अतः उनके द्वारा कथित तत्त्व को उनकी आज्ञारूप ग्रहण करके 'यही मेरे हितकारी वचन हैं' ऐसा चिन्तन करता है उसको आज्ञा विचय धर्म्यध्यान कहते हैं। यह ध्यान 4-7 गुणस्थानों में होता है।

2. अपाय विचय धर्म्य ध्यान - 'अपाय' इस शब्द से तात्पर्य है नाश। अशुभ कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का आस्रव किस उपाय से सम्भव है, इस प्रकार का जो चिन्तन किया जाता है उसे अपाय विचय धर्म्य ध्यान कहा जाता है।¹

कर्म के नाश करने का प्रमुख उपाय सर्वज्ञ देव ने अप्रमत्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय ही है। कर्मों के आस्रव का निरोध करने के लिये इनका चिन्तन करना ही अपाय विचय धर्म्य ध्यान है। जब तक जीव का पर पदार्थों के साथ सम्बन्ध है तब तक जीव इन पदार्थों को अपना मानता है अथवा समझता है तब तक अपने आत्मस्वरूप में स्थित वह सपने में भी नहीं हो सकता है। अतः इस ध्यान का आधार करके पर पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है वैसा अनुभूत करके मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूप को अङ्गीकार करके कर्मों के क्षय का उपाय प्राप्त किया जा सकता है।² इस प्रकार कर्मों के दोषों की हीनता की प्रवृत्ति में संलग्न होकर इस ध्यान को प्राप्त किया जा सकता है। यह ध्यान भी 4-7 गुणस्थानों तक होता है।

3. विपाक विचय धर्म्य ध्यान - प्राणियों के द्वारा स्वयं उपार्जित किये गये कर्मों के फल की उदय रूप प्राप्ति को विपाक कहा जाता है।³ कर्मों का उदय शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। इन कर्मों के फलों का चिन्तन करना विपाक विचय धर्म्य ध्यान कहलाता है। ये सारे संसारी जीव अपने-अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल पुण्य और पाप रूप सुख और दुःख मानकर भोगते हैं। इन दुःखी जीवों का दुःख किस उपाय/साधन से दूर हो, ये इस दुःख से निवृत्त होकर किस प्रकार श्रेष्ठ मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हों, इस प्रकार का चिन्तन करना विपाक विचय नामक तृतीय धर्म्यध्यान कहा जाता है।⁴ यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - इन आठों कर्मों के फल का उदय कैसे होता

¹ भा. सं. गा. 368

² ज्ञाना. 34/14-15

³ ज्ञाना. 35/1

⁴ भा. सं. गा. 369

है? जीव इस निमित्त को कैसे परिणामन करता है? उदय में आये हुए कर्म किस प्रकार से शुभ और अशुभ फल देते हैं? इत्यादि कर्मों की विविध स्थितियों का विचार करके साधक विपाक विचय धर्म्यध्यान का आश्रय लेकर श्रद्धापूर्वक आत्मोपलब्धि रूप इस ध्यान का फल प्राप्त करता है। यह ध्यान 5-7 गुणस्थानों में होता है।

4. संस्थान विचय धर्म्य ध्यान - संस्थान का शाब्दिक अर्थ 'आकार' है। तीनों लोकों ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के आकार, अस्तित्व, प्रमाणादि का इसमें भरे हुए पदार्थों का, उनकी पर्यायों का और उन सबके आकारों का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्म्य ध्यान कहलाता है।¹ यहाँ आचार्य का तात्पर्य यह है कि - यद्यपि यह लोक अनादिकाल से बिना किसी हास अथवा वृद्धि के अस्तित्ववान् है तथापि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। अनन्त आकाश के मध्य में अनादि, अकृत्रिम, अप्राकृतिक भाग जो है वह लोक कहा जाता है, जिसमें जीवादि छहों द्रव्य देखे जाते हैं। लोक आकाश की तुलना में क्षुद्र प्रमाण वाला है। इस लोक के चारों ओर अनन्त अलोकाकाश है। लोक के अन्तर्गत आकाश का मनुष्याकार भाग गर्भित है। इसके चारों ओर तीन वात वलय वेष्टित हैं। इसके ऊर्ध्व लोक से अधोलोक तक मध्य में एक राजु की चौड़ाई वाली और कुछ कम तेरह राजु प्रमाण लम्बी त्रस नाड़ी है। त्रस जीव इसके बाहर नहीं पाये जाते हैं। इसके बाहर का जो क्षेत्र है जिसमें मात्र एकेन्द्रिय स्थावर पाये जाते हैं उसको निस्कुट क्षेत्र कहते हैं। अर्थात् स्थावर जीव तीनों लोकों में पाये जाते हैं। आचार्य अकलंक स्वामी कहते हैं कि - जहाँ पुण्य पाप के फल में सुख-दुःख देखे जाते हैं वह लोक कहलाता है। इस व्युत्पत्ति से लोक का अर्थ आत्मा स्वीकार किया जाता है।² ऐसे तीनों लोकों का यथार्थ चिन्तन करना संस्थान विचय धर्म्य ध्यान कहा जाता है। इसके द्वारा लोक के स्वरूप को जानकर आत्मकल्याण के लिये उद्यम प्रारम्भ किया जाता है। अनुप्रेक्षादि के द्वारा भी यह लोक और इसमें स्थित जीवों की अवस्थाओं का ध्यान किया जाता है। यह धर्म्यध्यान 6-7 गुणस्थानों में होता है।

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य वसुनन्दि महाराज आदि ने संस्थान विचय धर्म्य ध्यान के चार भेद स्वीकार किये हैं जो इस प्रकार हैं - पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और

¹ भा. सं. गा. 370

² त. वा. 5/12/10

रूपातीत।' इन्हीं चारों भेदों को आचार्य देवसेन स्वामी ने धर्म्य ध्यान के अन्य भेदों में व्रीकार किया है। आचार्य लिखते हैं-

चित्तणिरोहे ज्ञाणं चहुविहभेयं च तं मुणेयव्वं।

पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं चेवा।²

अर्थात् चित्त का निरोध करना ध्यान कहलाता है। यह चार प्रकार का कहा गया

- पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

और विशेष बात यह है कि इन चारों धर्म्य ध्यानों को सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि ही प्राप्त होते हैं ऐसा वर्णन किया गया है।

अतः प्रसङ्गानुसार इन चारों धर्म्यध्यान के भेदों के स्वरूप को ही प्रकाशित करना अपेक्षित है।

पिण्डस्थ ध्यान - पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर होता है। उस शरीर के मध्य में स्थित नेत्र आत्मतत्त्व का इस प्रकार से चिन्तन करना कि वह अपना आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, उसमें से श्वेत धवल किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं और वह अतिशय रूप से दैदीप्यमान हो रहा है, ऐसे अपने आत्मा का चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। वह अपना शुद्ध आत्मा अपने शरीर में यद्यपि विद्यमान रहता है तथापि उसका शरीर से किसी भी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है। वह अपना आत्मा बिल्कुल स्वच्छ है। जिस प्रकार आसमान में सूर्य दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों का समूह पुरुषाकार है और वह अपने शरीर में असीमित गुण भरे हुए है। ऐसे शरीरस्थ आत्मतत्त्व का चिन्तन किया जाता है वह पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है।³

आचार्य शुभवन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान के पाँच भेद किये हैं-

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी।

तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयस्तां यथाक्रमम्॥⁴

1 ज्ञाना. 37/1, बृ. द्र. सं. टी 48

2 भा. स. गा. 619

3 वही गा. 620-622, वसु. श्र. गा. 459

4 ज्ञाना. 37/3

अर्थात् पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (वायु), वारुणी (जल) और तत्त्वरूपवती ये यथाक्रम से पाँच धारणायें कही गयी हैं।

इन पाँचों धारणाओं के द्वारा उत्तरोत्तर आत्मा की ओर केन्द्रित होते हुए ध्यान किया जाता है। योगशास्त्रों में भी इन पाँचों धारणाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु तत्त्वानुशासन में इन पाँच धारणाओं में से तीन मारुती, तेजसी और वारुणी ही प्राप्त होती हैं।¹

(i) पार्थिवी धारणा - इस धारणा के माध्यम से साधक मध्यलोक में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान शब्द रहित, तरंग रहित तथा हार और बर्फ के समान सफेद स्वच्छ क्षीर समुद्र का ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है। उस क्षीर समुद्र के एकदम मध्य अर्थात् बीचों-बीच रमणीय है रचना जिसकी और जिसकी कोई सीमा नहीं है ऐसे असीमित प्रस्फुटित होते हुए शोभायमान, तपे हुए स्वर्ण की जैसी प्रभा/कान्ति से सम्पन्न एक हजार दल वाले कमल का चिन्तन करना चाहिये। फिर इस सहस्रदल वाले कमल को ऐसा ध्यावो कि कमल के राग से उत्पन्न हुए केसरों की पंक्ति से शोभायमान तथा चित्त रूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाले जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजन का चिन्तन करे। तत्पश्चात् उस कमल के मध्य मेरु के समान शोभायमान है और पीले रंग की किरणों का समूह है जिसमें और जिसके द्वारा पीले रंग में की गई हैं दशों दिशायाँ, ऐसी एक-एक कर्णिका का ध्यान करें। उनमें से दैदीप्यमान प्रभा से युक्त मेरुपर्वत के समान एक उच्चकर्णिका है, उसके ऊपर एक सिंहासन है, उच्च सिंहासन पर बैठकर ऐसा विचार करे कि राग-द्वेषादिक समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ है और संसार में उत्पन्न हुए जो कर्म हैं, उनकी सन्तति को नाश करने में उद्यमी है। इस प्रकार इस धारणा से विशाल पदार्थों का अच्छी प्रकार से धारण करके लघु और सूक्ष्म वस्तुओं में समस्त चिन्तन अवरुद्ध करके ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसको ही आचार्यों ने पार्थिवी धारणा कहा है।²

¹ तत्त्वानु. 183

² ज्ञाना. 37/4-9

(iii) आग्नेयी धारणा - इस आग्नेयी धारणा में साधक अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊँचे-ऊँचे दलों वाले मनोहर कमल का ध्यान किया जाता है। तदुपरान्त उस कमल की कर्णिका में महामंत्र को चिन्तन करते हुए उस कमल के सोलह दलों के ऊपर 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः' इन सोलह अक्षरों को संस्थापित करना चाहिये। उस महामंत्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - रेफ से आवृत्त, कला तथा बिन्दु से चिह्नित और शून्य कहिये हकार, ऐसा अक्षर दैदीप्यमान होते हुए चन्द्रमा की प्रभा कोटि से व्याप्त किया है दिशा का मुख जिसने ऐसा महामंत्र है, वह 'अर्हम्' है, उसे कमल की कर्णिका में स्थापित करके चिन्तन करे। उसके बाद उस महामंत्र के रेफ से धीरे-धीरे निकलती हुई धूम की शिखा का चिन्तन करे, फिर उसमें से क्रम के अनुसार से प्रवाह रूप निकलते हुए स्फुलिंगों की पंक्ति का चिन्तन करें और उसमें से निकलती/प्रस्फुटित होती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तन करे। तत्पश्चात् योगी मुनि क्रम से बढ़ती हुई ज्वाला समूह से अपने हृदय में स्थित कमल को निरन्तर जलता हुआ चिन्तन करें। हृदय में स्थित कमल के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - वह हृदयस्थ कमल अधोमुख आठ दल वाला है, उन आठों दलों पर आठ कर्म स्थित हों, ऐसे कमल को नाभिस्थ कमल की कर्णिका में स्थित करें। महामंत्र के ध्यान से उठी हुई प्रबल अग्नि निरन्तर दहती है, इस प्रकार चिन्तन करे, तब अष्ट कर्म जल जाते हैं, यह ही चैतन्य परिणामों की सामर्थ्य है।

उस हृदय कमल के दग्ध हो जाने पर शरीर के बाहरी त्रिकोण स्थित अग्नि का चिन्तन करे, सो ज्वाला के समूहों से जलते हुए बडवानल के समक्ष ध्यान करे। अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्त में स्वस्तिक के चिह्न से चिह्नित हो। ऊपरी वायुमण्डल से उत्पन्न धूम रहित स्वर्ण के जैसी प्रभा वाला चिन्तन करे। इस प्रकार यह दग्धायमान प्रसरित होती हुई लपटों के समूह से दैदीप्यमान बाहर का अग्निमण्डल अंतरंग की मंत्राग्नि को दग्ध करता है। उसके बाद वह अग्निमण्डल उस नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्मीभूत करके जलाने योग्य पदार्थ का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो जाता है।' इसको आचार्य ने आग्नेयी धारणा कहा है।

ज्ञाना. 37/9-19

(iii) मारुती धारणा - इस धारणा में योगी (ध्यान करने वाले मुनि) आकाश में पूर्ण होकर विचरते हुए महायोग वाले और महाबलवान् ऐसे वायुमण्डल का चिन्तन करें। इसका आशय यह है कि उस पवन को इस प्रकार चिन्तन करें कि देवों की सेना को चलायमान करता हुआ, मेरु पर्वत को कंपाता हुआ, मेघों के समूह को बिखेरता हुआ, समुद्र को क्षुभित करता हुआ तथा लोक के मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओं में विचरण करता हुआ, संसार रूपी घर में फैलता हुआ समस्त पृथ्वीतल में प्रवेश करता हुआ चिन्तन करे। तत्पश्चात् ध्यानी मुनि ऐसा चिन्तन करे कि वह शरीर आदिक कर्मों की और कमल आदि की भस्म है, उसको उस महाप्रचण्ड वायुमण्डल ने शीघ्र ही उड़ा दिया, फिर इस वायु को चिन्तन करके शान्त करना चाहिये।¹ इस प्रकार से आचार्यों ने मारुती धारणा का स्वरूप व्यक्त किया है।

(iv) वारुणी धारणा - वह ही साधक इन्द्रधनुष, बिजली गर्जनादि चमत्कार सहित जलधरों के समूह से भरे हुए आकाश का चिन्तन करे। उन मेघों को अमृत से उत्पन्न हुए मोती के समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओं से निरन्तर धारा के रूप में बरसते हुए आसमान को जो धीर, वीर मुनिराज हैं, वे स्मरण करें। फिर अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय जल के प्रवाह से आकाश को बहाते हुए वरुण मण्डल का चिन्तन करें। ऐसे चिन्तन करें कि अचिन्त्य है प्रभाव जिसका, ऐसे दैवीय ध्यान से उत्पन्न हुए जल से शरीर के जलने से समुत्पन्न हुए समस्त भस्म का प्रक्षालन करना चाहिये। इसी को आचार्यों ने वारुणी धारणा का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।²

(v) तत्त्वरूपवती धारणा - इस ध्यान में संयमी साधक मुनि सप्त धातु रहित पूर्ण चन्द्रमा के समान है स्वच्छ, विमल, निर्मल कान्ति जिसकी ऐसे सर्वज्ञ के समान निज आत्मतत्त्व का चिन्तन करे। ऐसा कहने का आशय यह है कि निज आत्म तत्त्व को अतिशय-युक्त, सिंहासन पर आरूढ़, कल्याण की महिमा सहित, देव, दानव, भ्रमण्डल आदि से पूजित है ऐसा चिन्तन करे। फिर विलय को प्राप्त हो गये हैं आठों कर्म जिसके ऐसा प्रकटित होता हुए अत्यन्त निर्मल पुरुषाकार अपने शरीर में प्राप्त हुए अपनी आत्मा का चिन्तन करे, इस प्रकार आचार्यों ने तत्त्वरूपवती धारणा कही है।

¹ ज्ञाना. 37/20-23

² ज्ञाना. 37/24-27

इस प्रकार से इस ध्यान में योगी मुनि क्रमशः मन को स्थिर करके शुक्ल ध्यान की ओर अग्रसर होता है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर उल्लू भाग जाते हैं, उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यान रूपी धन के नजदीक होने से विद्या, मण्डल, मंत्र, तंत्र, यन्त्र, इन्द्रजाल के द्वारा कपटाचार रूप क्रिया, सिंह, सर्प, आशीर्विष, दंत्य, हस्ती, अष्टापद आदि ये सब ही सारहीनता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी भी प्रकार का उपद्रव इनको हानि नहीं पहुँचा पाते हैं, और भी आचार्य कहते हैं कि डाकिनी, शाकिनी, ग्रह, राक्षस आदि भी अपनी खोटी-क्रूर वासनाओं को त्याग कर देते हैं।

आचार्य वसुनन्दि महाराज अन्य प्रकार से भी पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप प्ररूपित करते हुए कहते हैं कि - मनुष्य के शरीर और तीन लोक की रचना शैली समान है। यदि कोई मनुष्य उचित अन्तर के साथ पैरों को दायें बायें लम्बा फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर एकदम सीधा खड़ा हो जाये तो यह लोक का आकार बन जाता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक में सबसे मध्य में सुमेरु पर्वत है, उसी प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर के मध्य में नाभि की संरचना है। नाभि के नीचे अर्थात् नाभि से पाँव के पंजे तक को अधोलोक की संज्ञा दी जा सकती है। नाभि के चारों ओर के तिर्यक् भाग को तिर्यक् लोक अर्थात् मध्य लोक की संज्ञा दी जा सकती है। नाभि के सुदर्शन मेरु मानकर जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप-समुद्रों की कल्पना की जाती है। नाभि के ऊपरी भाग में ऊर्ध्वलोक की संरचना का विचार करना चाहिये। जिस प्रकार सुमेरु पर्वत के ठीक ऊपर सौधर्म आदि स्वर्गों की स्थिति है, वैसे ही नाभि के ऊपर सीने की आठ युगल की सोलह हड्डियों को सोलह स्वर्ग मानकर चिन्तन करना चाहिये। उसके ऊपर गले की तीन रेखाओं में तीन-तीन ग्रैवेयकों की कल्पना करके चिन्तन करना चाहिये। उसके ऊपर हनु प्रदेश अर्थात् ठोड़ी (दाढ़ी) के स्थान पर नव अनुदिश विमानों का चिन्तन करना चाहिये। मुख प्रदेश पर नाक को सर्वार्थसिद्धि मानकर गालों के दो गड्ढों और आँखों को क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान मानकर पाँच अनुत्तरों का ध्यान करना चाहिये। ललाट (मस्तक) प्रदेश पर सिद्ध शिला का ध्यान और उसके ऊपर उत्तमांग जो सिर के बीचों-बीच ब्रह्मस्थान है, में लोकशिखर के तुल्य

सिद्धक्षेत्र को ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार निज देह में लोक स्थिति का ध्यान करना भी पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिये।¹

2. पदस्थ ध्यान - इसका स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि - एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पञ्च परमेष्ठी वाचक पवित्र मंत्र पदों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिये।² इसी सन्दर्भ में आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि - पञ्च परमेष्ठी के वाचक एक पद के मंत्र का जप करना अथवा अक्षर मंत्र का जप करना अथवा अधिक अक्षरों के मंत्र का जप करना भी पदस्थ ध्यान कहलाता है और यह पदस्थ ध्यान कर्मों के नाश करने का साधन है।³ इसी के स्वरूप को आचार्य शुभचन्द्र महाराज लिखते हैं कि - योगीश्वर जिन पवित्र मंत्रों को अक्षर स्वरूप पदों का अवलम्बन करके चिन्तन करते हैं, उसको अनेक नयों के पार पहुँचने वाले योगीश्वरों ने पदस्थ ध्यान कहा है।⁴ यहाँ आचार्य अपना आशय प्रकट करते हुए कहते हैं - पदस्थ ध्यान का अभिप्राय है पदों में अर्थात् अक्षरों में ध्यान। इस ध्यान का सबसे प्रमुख आधार शब्द है, जो कि अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जन वर्ण, शब्दों की रचना में कारण होते हैं। यह ध्यान वर्ण-मातृका ध्यान भी कहा जाता है। अक्षर ध्यान के द्वारा शरीर के तीन भाग-नाभिपद्म, हृदयपद्म और मुखपद्म (कमल) की स्थापना की जाती है। नाभिकमल पर सोलह दल का कमल स्थापित करके उसमें अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन सोलह स्वर वर्णों का ध्यान किया जाना चाहिये। हृदयकमल में कर्णिका पत्र से सहित चौबीस दल वाला कमल संस्थापित करके उस पर क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म इस प्रकार इन पच्चीस वर्णों का ध्यान करना चाहिये। आठ पत्रों से सुशोभित मुखकमल के ऊपर परिक्रमानुसार विचार करते हुए एक-एक दल

1 वसु. श्रा. गा. 460-463

2 वही गा. 464

3 भा. सं. गा. 627

4 ज्ञाना. 452

में य, र, ल, व, श, ष, स, ह इन आठ वर्णों का ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही निरन्तर ध्यान से साधक सर्वश्रुतज्ञ विभ्रम रहित होते हुए श्रुतज्ञान के द्वारा मोक्ष का अधिकारी होता है।¹

वर्णों का और मंत्रों का ध्यान करने में समस्त पदों का स्वामी 'अर्ह' होता है। अर्ह का स्वरूप व्यक्त करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - अकार है जिसके आदि में, हकार है जिसके अन्त में और रेफ है मध्य में जिसके और वह बिन्दु से सहित है ऐसा जो 'अर्ह' पद है, वही परमतत्त्व है। जो भी साधक ज्ञानी इस महापद को जानता है वह वास्तव में समीचीन तत्त्व को जानने वाला होता है। प्रथम तो ध्यानी 'अर्ह' पद का ध्यान अलग-अलग अ, र, ह, म् रूप ध्यान करे, इसमें अभ्यस्त होने पर पिण्डरूप सम्मिलित पद का ध्यान करना चाहिये। इसमें भी जब पारंगत हो जावे तब 'ह' वर्ण जो कि चन्द्रमा की प्रभा से युक्त होता है, का ध्यान करना चाहिये। संयुक्त वर्ण का ध्यान करने में ध्वनि है परन्तु वर्ण मात्र का किया जाने वाला चिन्तन ध्वनि रहित हो जाता है। उस समय ध्यानी एक अलौकिक अनुभूति मात्र करता है। जो उच्चारण योग्य नहीं रहता उसे 'अनाहतनाद' कहा जाता है। यह रहस्यमूलक तत्त्व गुरु के प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता से ही प्राप्त होता है।² योगशास्त्रों में इसका क्रम प्रदर्शित करते हुए उल्लेख किया गया है कि - प्रथमावस्था में अ, ह, रेफ और बिन्दु का पृथक्-पृथक् चिन्तन करना चाहिये। तत्पश्चात् इनका संयोग करते हुए विचार करें और पिण्डरूप 'अर्ह' होने पर इसे ध्यान का केन्द्र बिन्दु बनाना चाहिये। अन्त में 'ह' वर्ण का अनाहत नाद में लीन होने का अभ्यास करना चाहिये।³

अर्ह पद की महिमा का गान करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि -

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः।

सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणिदध्महे॥⁴

1 ज्ञाना. 453-457

2 ज्ञाना. गा. 476-477

3 अमृताशीति 36

4 समाधिभक्ति 11

अर्थात् 'अर्ह' यह अक्षर परमेष्ठियों का ब्रह्मवाचक है और सिद्धचक्र का उत्तम बीज है, मैं इस बीज को सर्वदा नमस्कार करता हूँ।

अब यहाँ पर पदस्थ ध्यान के योग्य मंत्रों को वर्णित करते हैं-

एकाक्षरी मंत्र	अ, प्रणवमंत्र ॐ, अनाहत मंत्र हँ, मायावर्ण ह्रीं, क्ष्वीं, श्रीं
दो अक्षरी मंत्र	अर्ह, सिद्ध
तीन अक्षरी मंत्र	ॐ नमः, ॐ सिद्ध, सिद्धेभ्यः
चार अक्षरी मंत्र	अरहंत/अरिहन्त, अर्ह सिद्धं, ॐ ह्रीं नमः
पञ्चाक्षरी मंत्र	अ सि आ उ सा, ह्रां ह्रीं हूं ह्रौं हः, णमो सिद्धाणं, नमः सिद्धेभ्यः
छः अक्षरी मंत्र	अरहंत सिद्ध, ॐ नमो अर्हते, अर्हद्भ्यो नमः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत् सिद्धेभ्यः
सप्ताक्षरी मंत्र	णमो अरिहंताणं, नमः सर्व सिद्धेभ्यः
अष्टाक्षरी मंत्र	नमोऽर्हत् परमेष्ठिनः
13 अक्षरी मंत्र	अर्हत्सिद्धसयोग केवली स्वाहा
16 अक्षरी मंत्र	अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः
35 अक्षरी मंत्र	णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं

इसी प्रकार ध्यान करने योग्य मंत्रों के विषय में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी उल्लेख किया है-

पणतीस-सोलछप्पणचदुदुगमेगं च जवहझाएह।

परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण।¹

¹ बृ. द्र. सं. गा. 48

अर्थात् परमेष्ठी वाचक पैतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर वाले मंत्र हैं, इनका जाप और ध्यान करना चाहिये। इनके अलावा अन्य मंत्रों का जाप गुरु के उपदेश के अनुसार करना चाहिये।

साधक का मूल लक्ष्य - है आत्म जागरण। आत्म जागरण का अर्थ है निज का जागरण, आनन्द का जागरण, शक्ति का जागरण, अपने परमात्म स्वरूप का जागरण, अर्हन्त स्वरूप का जागरण। पञ्च नमस्कार मंत्र की साधना करने का भी सम्पूर्ण दृष्टिकोण आत्मा का जागरण करना है। पूरी तरह से चेतना को जागृत करना, आत्मतत्त्व में शक्ति के जो स्रोत विद्यमान हैं उनको जगाना, अपने आप को आनन्द के महासागर में अवगाहन करना। महामंत्र णमोकार की आराधना करने से निश्चित रूप से निर्जरा होती है, उस निर्जरा से आत्मा में विशुद्धि की वृद्धि होती है। इसलिये जब भी, जहाँ भी, जैसे भी हो, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, हमेशा इसका जाप करते रहना चाहिये। इस महामंत्र के जाप्य की अनेकों विधियाँ हैं, जो कि सभी पदस्थ ध्यान में सम्मिलित की जाती हैं। धवलाकार आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने इसके जाप्य की तीन विधियाँ प्ररूपित की हैं-

1. पूर्वानुपूर्वी 2. पाश्चात्यानुपूर्वी 3. याथातथ्यानुपूर्वी

1. पूर्वानुपूर्वी - इस विधि में णमोकार महामंत्र का जाप्य पदों के क्रमानुसार किया जाता है। जैसे-णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

2. पाश्चात्यानुपूर्वी - इस विधि में णमोकार महामंत्र का जाप्य पदों के विपरीत क्रमानुसार किया जाता है। जैसे - णमो लोए सव्व साहूणं, णमो उवज्झायाणं, णमो आइरियाणं, णमो सिद्धाणं, णमो अरिहंताणं।

3. याथातथ्यानुपूर्वी - इस विधि में णमोकार महामंत्र के पाँच पदों में से कोई भी पद *गढ़ा जाता है। यान्तु इस विधि में शर्त यही है कि ध्याता ध्येय के प्रति पूरी तरह से सावधान रहे और बिना भूले पाँचों पदों को पूर्ण करे, वह भूल न जावे, पाँच से अधिक पद न हों और पाँच से कम भी न हों। जैसे-*

1	5	3	4	2	5	2	4	3	1
3	4	5	1	2	2	5	3	4	1
5	1	2	3	4	1	4	2	5	3
2	3	4	5	1	3	5	1	4	2
4	5	1	2	3	2	4	3	1	5

इस चित्र में याथातथ्यानुपूर्वी की विधि का एकमात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें णमोकारमंत्र के पाँचों पदों को क्रम से 1,2 की संख्या में प्रदर्शित किया गया है। ध्यान करने वाला इस विधि से बहुत ही ज्यादा एकाग्रता को प्राप्त करके अशुभ कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करके मुक्ति धाम को प्राप्त कर सकता है।

णमोकार मंत्र को श्वासोच्छ्वास के अनुसार जाप करना सर्वश्रेष्ठ माना गया है। एक णमोकार मंत्र के जाप को तीन श्वासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये। जैसे-‘णमो अरिहंताणं’ को बोलते हुए श्वास खींचना है, ‘णमो सिद्धाणं’ बोलते हुए श्वास छोड़ना, ‘णमो आइरियाणं’ में श्वास खींचना, ‘णमो उक्झायाणं’ बोलते हुए श्वास छोड़ना, ‘णमो लोए’ में श्वास खींचना और ‘सव्वसाहूणं’ को कहते हुए श्वास छोड़ना है। इस प्रकार तीन बार श्वास खींचने और छोड़ने में णमोकार मंत्र का एक जाप हो जाता है। इस श्वास खींचना और छोड़ना कुम्भक और रेचक कहलाता है।

श्लोकवार्तिककार के अनुसार मंत्रों का जाप चार प्रकार से किया जा सकता है-

‘चतुर्विधा हि वाग्बैखरीमध्यमापश्यन्ती सूक्ष्माश्चेति।’

1. बैखरी 2. मध्यमा 3. पश्यन्ती 4. सूक्ष्मा

1. बैखरी - इस विधि में साधक जोर-जोर से णमोकार मंत्र का उच्चारण करके जाप करता है। जिसको अन्य जन भी सहज ही सुन सकते हैं। इस विधि में शब्द बाहर बिखर जाते हैं, इसलिये इसे बैखरी विधि कहा जाता है। इस तरह के जाप में अधिक लाभ नहीं होता है। उत्तरोत्तर विधियों में अधिक लाभ की प्राप्ति होती है।

2. मध्यमा - इस विधि में होंठ नहीं हिलते, परन्तु अन्दर जीभ हिलती रहती है। इसमें मुँह से शब्द बाहर नहीं आते, उसे मध्यमा कहा जाता है।

3. पश्यन्ती - इस विधि में न होंठ हिलते हैं और न ही जीभ हिलती है, किन्तु अन्तरंग में आँखों से देखते हुए मंत्रों के पदों का चिन्तन किया जाता है। अतः इसको पश्यन्ती कहा जाता है। इसमें संकल्प-विकल्प छूटने लग जाते हैं।

4. सूक्ष्म - मन में ही मंत्र के पदों का जाप्य करते हुए वह भी छोड़ देना सूक्ष्म जप कहा जाता है। इस विधि में उपास्य और उपासक का भेद समाप्त हो जाये, आत्मा परमात्मा का भेद समाप्त हो जाय और मंत्र का अवलम्बन छोड़कर आत्म-साक्षात्कार होना संभव होने लगता है। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं-

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः॥¹

अर्थात् जो परमात्मा हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा हैं, मैं ही स्वयं के द्वारा उपास्य हूँ, अन्य दूसरी स्थिति कैसे? स्वयं के द्वारा मैं स्वयं ही पूजन, ध्यान, चिन्तन के योग्य हूँ, अन्य कोई दूसरा नहीं है।

जप शब्द में दो अक्षर हैं - ज और प। ज = जकारो जन्म विच्छेदः, प पकारो पापनाशनः। तस्याज्जप इति प्रोक्त जन्मपापविनाशकः।

जप को पदस्थ ध्यान के ही अन्तर्गत माना गया है। जप या पदस्थ ध्यान जन्म-मरण की सन्तति एवं पाप के समूह के नाश के लिये किया जाता है। सूक्ष्म प्रकार का जप निवृत्ति प्रधान होता है। इस अवस्था में ध्याता और ध्येय में कोई भी भेद नहीं रहता है। उसमें अभेद अद्वैतभाव प्रस्फुटित होने लगता है। ध्यान करने वाला निज आत्मा में ही अपने ही आत्मतत्त्व का अन्वेषण करने में तल्लीन होने का प्रकट रूप से पुरुषार्थ करने लगता है।

णमोकार महामंत्र के समस्त पदों का ध्यान किस प्रकार करना चाहिये और वह पद किसका प्रतीक माना गया है। इस पर विचार करके आचार्यों ने यह स्पष्ट किया है

¹ समाधिशतक श्लो. 31

कि - ज्ञान केन्द्र पर 'णमो अरिहंताणं' का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ करना चाहिये। श्वेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने वाला है। मस्तिष्क पर 'अर्हन्त' का ध्यान श्वेत (दूधिया) रंग के साथ करें, ऐसा करने से आत्मा की सोई हुई शक्तियाँ जागृत होती हैं, आत्म चेतना का जागरण होता है। अतः इस पद की आराधना के साथ ज्ञान केन्द्र और सफेद रंग को समायोजित किया गया है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यदि कोई ध्यान करना चाहता है तो उसको श्वेत वर्ण का ध्यान करना चाहिए। सफेद रंग स्वास्थ्य और शान्ति का प्रतीक है।

'णमो सिद्धाणं' का ध्यान दर्शन केन्द्र में लाल रंग के साथ किया जाता है। 'बालसूर्य' अर्थात् उदित होते हुए सूर्य के लाल वर्ण के समान। आत्म साक्षात्कार रूप अन्वर्दृष्टि का विकास, अतीन्द्रिय चेतना का विकास इस दर्शन केन्द्र से होता है। दर्शन केन्द्र की अवधारणा भौहों के मध्य स्वीकार की गई है। णमो सिद्धाणं मंत्र, लाल रंग, दर्शन केन्द्र इन तीनों का समायोजन हमारी आन्तरिक दृष्टि को जागृत करने के लिये अनुपम साधना है।

'णमो आइरियाणं' मंत्र पद का रंग पीला है। यह वर्ण हमारे मन को सक्रिय बनाता है। इसका स्थान विशुद्धि केन्द्र है। यह चन्द्रमा का स्थान है। हमारे शरीर में पूरा सौरमण्डल विद्यमान है। हस्तरेखा विशेषज्ञ हाथ की रेखाओं के आधार पर नौ ग्रहों का ज्ञान कर लेता है। ललाट विशेषज्ञ ललाट पर खिंचने वाली रेखाओं के आधार पर ग्रहों का ज्ञान कर लेता है। योग का आचार्य चैतन्य केन्द्रों के आधार पर ग्रहों का ज्ञान कर लेता है। तैजस केन्द्र सूर्य का स्थान है और विशुद्धि केन्द्र चन्द्रमा का स्थान है। ज्योतिष वाला व्यक्ति चन्द्रमा के माध्यम से मन की स्थिति को जानता है। चन्द्रमा और मन का संबन्ध है। जैसी स्थिति चन्द्रमा की होती है वैसी ही स्थिति मन की भी होती है।

इस पद का ध्यान पीले रंग से विशुद्धि केन्द्र पर करना चाहिये। तैजस केन्द्र वृत्तियों को उभारता है और विशुद्धि केन्द्र हमारी वृत्तियाँ शान्त करता है। विशुद्धि केन्द्र पवित्रता की सम्यक् प्रकार से वृद्धि करने वाला है। इसके द्वारा मन निर्मल और पवित्र बनता है। इसकी अवधारणा कण्ठ में की गई है।

‘णमो उवज्झायाणं’ मंत्र पद का रंग नीला है। इसका स्थान आनन्द केन्द्र है। नीला रंग शान्ति को प्रदान करने वाला है। यह रंग एकाग्रता को स्थिर करता है और कषायों को उपशान्त करता है। यह रंग आत्मा का साक्षात्कार कराने में सहयोगी है। इसकी अवधारणा हृदयस्थान पर की गई है।

‘णमो लोए सव्व साहूणं’ मंत्र पद का रंग काला प्ररूपित किया गया है। इसका स्थान शक्ति केन्द्र है। शक्ति केन्द्र पर काले वर्ण के साथ इस मंत्र की आराधना की जाती है। काला रंग अवशोषण करने वाला है। यह बाहर के प्रभाव को अन्दर प्रवेश नहीं करने देता है। इसकी अवधारणा नाभिस्थान में की गई है।

अब यहाँ कुछ मंत्रों को सारिणी के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। जिसमें उन मंत्रों का ध्यान करने का फल भी प्ररूपित किया जा रहा है जो निम्न प्रकार से हैं-

क्र.सं.	मन्त्र	मन्त्र का फल
1.	ह्रीं	विद्यादायक
2.	क्ष्वीं	विद्याकारक
3.	णमो सिद्धाणं	पुण्य की प्राप्ति
4.	अ सि आ उ सा	मोक्षमार्ग प्रकाशक
5.	नमः सर्व सिद्धेभ्यः	सर्वकल्याणकारक
6.	णमो अरिहंताणं	विद्याकारक
7.	ॐ णमो अरिहंताणं	सुखकारक
8.	ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः	ज्ञानसाम्राज्य की प्राप्ति
9.	ह्रीं, ॐ ॐ ह्रीं हं सः	अनाहत सुख की प्राप्ति
10.	श्री मद् वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः	संसार नाशक

11.	ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हतानां ह्रीं नमः	अचिन्त्य फल की प्राप्ति
12.	ॐ ह्रीं अर्हत् सिद्ध सयोग केवली स्वाहा	ज्ञान साम्राज्य और मोक्ष की प्राप्ति
13.	ॐ जोगे मगगे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाहा	अचिन्त्य फल की प्राप्ति
14.	ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धि परिणाम विस्फुर-दुरुशुक्त ध्यानाग्निर्दग्ध-कर्म-बीजाय प्राप्तानंत चतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मंगलाय वरदाय अष्टादशदोष रहिताय स्वाहा	शान्ति की प्राप्ति और दुःखों का नाश
15.	ॐ ह्रीं अर्हन्मुख कमलवासिनी पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञान ज्वाला सहस्र प्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा	पाप नाशक
16.	चत्तारि मंगलां अरिहंत मंगलां सिद्ध मंगलां साहू मंगलां केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलां चत्तारि लोगुत्तमां अरिहंत लोगुत्तमां सिद्ध लोगुत्तमां साहू लोगुत्तमां केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमां चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरिहंते सरणं पव्वज्जामि सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहूं सरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि	मोक्ष प्राप्ति

उपर्युक्त मंत्रों का मुमुक्षु साधक निरन्तर अवलम्बन लेकर ध्यान करते हुए अपना कल्याण करते हैं। इन मंत्र पदों के अभ्यास से विशुद्धि बढ़ती है, चित्त की एकाग्रता होने

पर शुद्ध निर्मल स्वरूप का प्रतिभास और क्रमशः संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऐसे ही कई मंत्र हैं जो कि पञ्च परमेष्ठी के ही द्योतक हैं। वैसे पंच परमेष्ठी का द्योतक 'ओम्' पद भी है, जिसमें पाँचों परमेष्ठी समाहित हैं। वह इस प्रकार हैं-

अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुण्णिणो।

पदमक्खर णिप्पणो ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥

➤ अर्थात् अरहंत का अ, अशरीरा अर्थात् सिद्ध का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ और मुनि का म, ये सब पाँचों के प्रथम अक्षर हैं। इनको जोड़ने पर अ + अ + आ + उ + म् = ओम् बन जाता है। इस प्रकार 'ओम्' पञ्च परमेष्ठी का प्रतीक है। पदस्थ ध्यान में इसका भी अच्छी तरह से अभ्यास किया जा सकता है।

3. रूपस्थ ध्यान - अपने शरीर में स्थित शुद्ध, निर्मल और अत्यन्त दैदीप्यमान आत्मा और शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।¹ इसके स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि - जिसके शरीर की प्रभा आकाश एवं स्फटिक के समान स्वच्छ एवं निर्मल है, ऐसी महानिधि में निमग्न मनुष्य और देवों के मुकुटों में लगी हुई मणियों की किरणों से अनुरंजित हैं चरण कमल जिनके ऐसे तथा श्रेष्ठ अष्ट प्रातिहार्यों से युक्त, समवसरण के मध्य में स्थित परम अनन्त चतुष्टय से सहित, आकाश में स्थित अरहन्त भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं।² अथवा ऐसे ही उपर्युक्त वर्णन से सहित परन्तु समवसरणादि परिवार से रहित और क्षीरसागर के मध्य में स्थित अथवा उत्तम क्षीर के समान धवल वर्ण के कमल की कर्णिका के मध्य प्रदेश में स्थित, क्षीर सागर के जल की धाराओं के अभिषेक से धवल हो रहा है समस्त अंग जिनका, ऐसे अरहन्त परमेष्ठी के स्वरूप का ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहा जाता है।²

आचार्य देवसेन स्वामी ने रूपस्थ ध्यान के दो भेद किये हैं - एक स्वगत आत्मा का ध्यान और दूसरा परगत आत्मा का ध्यान। जहाँ पर पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान

¹ भा. सं. गा. 623

² वसु. श्रा. 472-475

किया जाता है, उस ध्यान को परगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं। पञ्च परमेष्ठी का आत्मा अत्यन्त शुद्ध है परन्तु वह अपने आत्मतत्त्व से सर्वथा भिन्न है, इसीलिये आचार्य ने इनको परगत रूपस्थ ध्यान कहा है।¹ स्वगत ध्यान का स्वरूप प्ररूपित करते हुए आचार्य कहते हैं कि -

सगर्यं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्यणो अप्पा।

णियदेहस्स बहित्थो फुरंत रवितेय संकासो।²

अर्थात् जो अपना आत्मा है वह सूर्य के तेज के समान अत्यन्त दैदीप्यमान है, शुद्ध है, निर्मल है, ऐसा अपना आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने शरीर के बाहर ध्यान किया जाता है, उसको स्वगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

यहाँ यह विशेष है कि पञ्च परमेष्ठी भले ही हमारे बहुत उपकारी हैं परन्तु निज आत्मतत्त्व से तो पृथक् ही हैं, इसलिये आचार्य ने पञ्च परमेष्ठी को परगत रूपस्थ ध्यान के रूप में वर्णित किया है; क्योंकि हमको निज आत्मतत्त्व ही सर्वथा उपादेय है। अतः उसको आचार्य ने स्वगत रूपस्थ ध्यान की कोटि में स्थापित किया है। पञ्चपरमेष्ठी आदि तो मार्ग के सहयोगी हैं, मुक्तिधाम में तो हमको ही आगे बढ़ना होगा।

आचार्य शुभचन्द्र ने रूपस्थ ध्यान का वर्णन 575 से 621 तक की गाथाओं में विस्तृत रूप से ज्ञानार्णव ग्रन्थ में व्याख्या की है।

4. रूपातीत ध्यान - वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से सर्वथा रहित ज्ञान-दर्शन स्वरूप, इस प्रकार जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान रूपातीत ध्यान कहा जाता है।³ अर्थात् सामान्य से सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

यहाँ एक विशेष बात यह है कि रूपातीत ध्यान का स्वरूप आचार्य देवसेन स्वामी ने कुछ अलग प्रकार से प्रस्तुत किया है, जो अन्य आचार्यों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होता है। आचार्य लिखते हैं कि - जो न तो शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है और न ही शरीर के बाहर शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं। न स्वगत

¹ भा. सं. गा. 624

² भा. सं. गा. 625

³ वसु. श्रा. गा. 476

आत्मा का ध्यान करते हैं और न ही परगत पञ्च परमेष्ठी का ध्यान करते हैं, किन्तु बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का चिन्तन करता है वह है रूपातीत ध्यान।¹ और कहते हैं कि जिस ध्यान में इन्द्रियों के समस्त विकार नाश को प्राप्त हो जाते हैं, राग-द्वेष सभी विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं उसको रूपातीत ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान में सर्वप्रथम साधक परमात्मा के गुणों का पृथक्-पृथक् ध्यान करता है। उससे उन गुणों के पिण्ड स्वरूप परमात्मा के गुण-गुणी में अभेद रूप भावना के द्वारा चिन्तन करता हुआ स्वयं परमात्मा रूप हो जाता है। इस अवस्था में ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं। इस स्थिति में आत्मा स्वयं ही परमात्मस्वरूप को अनुभव करता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब समस्त अवयव लक्षण आदि से सहित देखा जाता है उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान में जगत् के समस्त चराचर पदार्थ दिखाई देते हैं, ऐसे केवलज्ञान को साधक ध्यान करता है।

इस प्रकार से इन ध्यानों का सामान्य से वर्णन किया। अब जो धर्म्यध्यान के आचार्यों ने दस भेद बताये हैं उनका सामान्य रूप से संक्षेप में चित्रण करते हैं-

1. **अजीव विचय** - धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करता है वह अजीव विचय नामक धर्म्यध्यान कहलाता है।²
2. **अपाय विचय** - मन, वचन और काय इन तीन योगों की प्रवृत्ति हो, प्रायः संसार का कारण है सो इन प्रवृत्तियों का मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरंजित जो चिन्ता का प्रबन्ध है वह अपाय विचय नामक ध्यान है।³
3. **उपाय विचय** - पुण्य रूप शुभ योग प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय है और वह मेरे किस प्रकार से हो सकते हैं, ऐसे संकल्पों की जो सन्तति है वह उपाय विचय ध्यान कहलाता है।⁴

1 भा. सं. गा. 628
 2 ह. पु. 56/44
 3 वही 56/39-40
 4 वही 56/41

4. **आज्ञा विचय** - इसका वर्णन पहले कर आये हैं।
5. **जीव विचय** - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव अनादि निधन है, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सनिधन है, असंख्यात प्रदेशी है, उपयोग लक्षण स्वरूप है, शरीर रूपी अचेतन उपकरण से सहित है और अपने द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगता है इत्यादि प्रकार से जीव का जो चिन्तन किया जाता है वह जीव विचय ध्यान कहलाता है।¹
6. **भव विचय** - चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले इन जीवों को मरने के बाद जो पर्याय प्राप्त होगी वह भी अत्यन्त दुःखरूप है। इस प्रकार का चिन्तन करना भव विचय ध्यान कहा गया है।²
7. **विपाक विचय** - इसका वर्णन भी पहले कर आया हूँ।
8. **विराग विचय** - यह शरीर स्वभाव से अपवित्र है और भोग किंपाक फल के समान तदात्व मनोहर हैं। अतः उनसे विरक्त बुद्धि का होना ही श्रेयस्कर है, इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना विराग विचय नामक ध्यान है।³
9. **संस्थान विचय** - इसका भी वर्णन पहले हो चुका है।
10. **हेतु विचय** - तर्क का अनुसरण पुरुष स्याद्वाद की प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए समीचीन मार्ग का आश्रय कहते हैं, इस प्रकार का चिन्तन करना हेतु विचय कहलाता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने धर्म्यध्यान के दो भेदों को विशेष रूप से व्याख्यायित किया है - एक आलम्बन रहित (निरालम्ब) धर्म्यध्यान और दूसरा आलम्बन सहित (सावलम्बन) धर्म्यध्यान।⁴

निरालम्ब ध्यान - जो गृहस्थ अवस्था को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करके मुनि बन जाता है और वह जो बिना किसी के आलम्बन के ध्यान करता है उसको ही निरालम्ब ध्यान

¹ ह. पु. 56/42-43
² वही 56/47
³ वही 56/46
⁴ भा. सं. गा. 374

कहते हैं। यह ध्यान सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनिराज के ही सम्भव है, गृहस्थ अवस्था में यह ध्यान सम्भव नहीं है। इसी सन्दर्भ में आचार्य कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि गृहस्थों के भी यह निरालम्ब ध्यान होता है तो वह जिनेन्द्रवाणी रूप शास्त्रों को नहीं मानता है।¹ इसका कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि गृहस्थों के हमेशा बाहरी परिग्रह में ममत्व रहता है और अनेक प्रकार के आरम्भ में प्रतिसमय संलग्न रहता है। उसको घर और व्यापार के कई काम करने पड़ते हैं, और यदि ऐसी अवस्था में वह ध्यान करने के लिये आँखें बन्द करता है तो उसके समक्ष सम्पूर्ण घर-परिवार, व्यापार, परिग्रह, आरम्भ आदि उपस्थित हो जाते हैं। यदि कोई ध्यान करने का प्रयास करे तो उससे उसे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, वह मात्र दिखाता है, क्योंकि ऐसे ध्यान में चित्त की स्थिरता बनना बड़ा मुश्किल है। परन्तु किसी भी ध्यान की सन्तान परम्परा चलती रहती है।

सावलम्बन ध्यान - पञ्च परमेष्ठी को आलम्बन स्वरूप ध्यान करना सावलम्बन ध्यान कहलाता है। इन परमेष्ठियों के ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।²

आलम्बन सहित धर्म्यध्यान के जो आलम्बन स्वरूप हैं उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

अरिहन्त परमेष्ठी - अरिहन्त परमेष्ठी का स्वरूप प्ररूपित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि -

हरिरइयसमवसरणो अट्ठमहापाडिहेर संजुत्तो।

सियकिरणविप्फुरंतो झायव्वो अरूहपरमेट्ठी।³

अर्थात् जो इन्द्र की आज्ञा से कुबेर द्वारा बनाये हुए समवसरण में विराजमान हैं, आठ महाप्रातिहार्यों से शोभा को प्राप्त हो रहे हैं और अपनी प्रभा की श्वेत किरणों से दैदीप्यमान हो रहे हैं, ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव को अरिहन्त परमेष्ठी कहते हैं। ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि - चार घातिया कर्मों को

¹ भा. सं. गा. 381-382

² भा. सं. गा. 380

³ भा. सं. गा. 375

नष्ट करने वाला, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह अरिहन्त है उसका ध्यान करना चाहिये।¹ यहाँ शुद्ध से तात्पर्य 18 दोषों से रहित होना है। अरिहन्त के 46 मूलगुण होते हैं - 34 अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य और अनन्त चतुष्टय।

सिद्ध परमेष्ठी - सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को प्रकटित करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

णट्ठट्ठ कम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो।

सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी।²

अर्थात् जिनके आठों कर्म सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सुशोभित हैं, लोक के शिखर पर विराजमान हैं, जिनका आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, नित्य है और सूक्ष्म है ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। यहाँ आठ गुण इस प्रकार हैं - क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक वीर्य, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व। ये आठों गुण आठों कर्मों के नाश से प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी भी लिखते हैं - नष्ट हो गया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा अलोकाकाश को जानने, देखने वाला, पुरुष के आकार को धारण करने वाला और लोक के अग्रभाग पर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है। इनका ध्यान करना चाहिये।³

आचार्य परमेष्ठी - आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप को वर्णित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि -

छत्तीस गुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारो।

सिस्साणुग्गह कुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी।⁴

¹ बृ. द्र. सं. गा. 50

² भा. सं. गा. 376

³ बृ. द्र. सं. गा. 51

⁴ भा. सं. गा. 377

अर्थात् जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हों, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार इन पाँचों आचारों का पालन नित्य करते हैं तथा जो शिष्यों का अनुग्रह करने में अत्यन्त कुशल होते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

आचार्य परमेष्ठी के 36 मूलगुण होते हैं जो इस प्रकार हैं - बारह तप, दश धर्म, पाँच आचार, छह आवश्यक, तीन गुप्ति। इन 36 मूलगुणों का स्वरूप सभी जगह प्राप्त है, परन्तु इस भावसंग्रह के टीकाकार पं. लालाराम शास्त्री ने कुछ भिन्न प्रकार के 36 मूलगुणों का उल्लेख किया है। ये 36 मूलगुण कहाँ से उद्धृत किये गये हैं इसका उल्लेख पं. जी ने नहीं किया है। वे 36 मूलगुण इस प्रकार हैं-

1. **पंचाचार गुण** - जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारों को स्वयं पालन करें और अन्य मुनियों (शिष्यों) से पालन करावें।
2. **आधारवत्त्व गुण** - जो ग्यारह अंग नौ पूर्व अथवा दस पूर्व अथवा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान को जानने वाले या धारण करने वाले हों।
3. **व्यवहारित्व गुण** - सभी के स्वरूप को यहाँ संलग्न किया जा रहा है। आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी ने भी इसी प्रकार आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप प्ररूपित किया है - पाँच आचारों में जो स्वयं तत्पर रहते हैं और अपने शिष्यों को भी उनमें संलग्न करते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।¹
4. **प्रकारकत्व गुण** - समाधि मरण धारण करने वाले क्षपक साधु के लिये परिवार का काम करना उनकी परिचर्या करना प्रकारकतागुण है।
5. **आपायापायोपदेशकत्व गुण** - आलोचना करने वाले मुनियों के चित्त में यदि कुछ कुटिलता भी हो तो उनके गुण दोष दोनों को प्रकट कर दोषों को स्पष्ट कर लेना।
6. **उत्पीलक गुण** - जिन मुनियों के हृदय में कुछ कुटिलता हो और उन्होंने अपने अतिचारों को अपने मन में छिपा रखा हो उन अतिचों को भी अपनी कुशलता से बाहर प्रकट करा लेना।

¹ बृ. द्र. सं. गा. 52

7. **अपरिस्राविता गुण** - जिस प्रकार पीया हुआ रस बाहर नहीं निकलता उसी प्रकार क्षपक मुनि ने अपनी आलोचना में जो दोष कहे हैं उनको भी प्रकट नहीं करना।
8. **निर्वापक गुण** - जो समाधिमरण धारण करने क्षपक साधु, क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से दुखी हो रहे हों उनके रस दुःख को अनेक प्रकार की कथा सुनाकर दूर करना और इनको समाधि मरण में वृद्ध करना।
9. **नग्नत्व गुण** - सूती ऊनी रेशमी वृक्ष के पत्ते छाल आदि सब प्रकारा के वस्त्रों का त्याग कर नग्न वा दिगम्ब अवस्था धारण करना।
10. **उद्देशिकाहारत्याग गुण** - जो उद्देश्ययुक्त आहार के त्यागी हों एवं अन्य श्रमणों के लिये किये हुए आहार के भी त्यागी हों।
11. **शय्याधरासन विवर्जित गुण** - जो शय्या पृथ्वी आसन सबके त्यागी हों उनका संस्कार आदि भी न करते हों।
12. **राज पिंड ग्रहण विवर्जित गुण** - जो राजा मंत्री सेनापति कोतवाल आदि का आहार न ग्रहण करते हों।
13. **कृति कर्म निरत गुण** - जो छहों आवश्यकों को स्वयं पालन करते हो तथा अन्य मुनियों से कराते हों।
14. **व्रतारोपण योग्य गुण** - उद्देश्ययुक्त आहार का त्याग करने वाले दिगम्बर अवस्था धारण करने वाले और पंच परमेष्ठी की भक्ति करने वाले आचार्य स्वयं व्रत पालन करने और अन्य मुनियों को दीक्षा देकर महाव्रतों को धारण कराने की योग्यता रखना।
15. **सर्व ज्येष्ठत्व गुण** - जो आर्यिका क्षुल्लक साधु उपाध्याय आदि सब से अधिक श्रेष्ठता धारण करते हों।
16. **प्रतिक्रमण पंडित्व गुण** - जो आचार्य मन वचन काय से किसी भी प्रकार का अपराध हो जाने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करने की दक्षता धारण करने वाले हों।

17. **मासैकवासित्व गुण** - जो मोह और सुख का त्याग करने के लिये किसी भी स्थान पर एक महीने से अधिक न रहते हों।
18. **वार्षिक योग युक्तत्व गुण** - जीवों की रक्षा के लिए वर्षा ऋतु में चार महीने तक एक ही स्थान पर रहना।
19. **अनशन तपोयुक्तता गुण** - इन्द्रियों को जीतने के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास धारण करना।
20. **अवमोदर्य तपो युक्तता गुण** - प्रमाद दूर करने के लिए बत्तीस ग्रास न लेकर दो चार दश आदि ग्रास हो लेकर अल्प आहार लेना।
21. **वृत्तिपरिसंख्यान गुण** - आशा का त्याग करने के लिये किसी घर का अन्न आदि का संकल्प कर (यदि ऐसा घर होगा वा ऐसा दाता होगा वा ऐसा अन्न होता तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं ऐसा संकल्प कर आहार के लिए निकलना।
22. **रसपरित्याग गुण** - दूध दही घी मीठा आदि रसों का त्याग करना।
23. **विविक्तशय्यासन गुण** - जन्तुओं से रहित, स्त्रियों से रहित, मन में विकार उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित गुफा सूना घर आदि एकान्त स्थान में शय्या आसन आदि धारण करना।
24. **कायक्लेशत्व गुण** - ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर, जाड़े के दिनों में वन में वा नदी के किनारे, वर्षा में वृक्ष के नीचे ध्यान धारण कर सुख की मात्रा दूर करने के लिए शरीर को कष्ट पहुंचाना।
25. **प्रायश्चित्ताचारात्त्व गुण** - लगे हुए दोषों को शोधन करने के लिये प्रायश्चित्त लेना और व्रतों को शुद्ध रखना।
26. **विनय निरतत्व गुण** - सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को धारण कर उनका विनय करना उपचार विनय करना रत्नत्रय को धारण करने वालों का विनय करना।
27. **वैयावृत्तित्व गुण** - आचार्य उपाध्याय साधु आदि दश प्रकारा के मुनियों की शरीर जन्य पीड़ा को दूर करने के लिये उनकी सेवा सुश्रूषा करना।

28. स्वाध्याय धारकत्व गुण - वाचना, पृच्छना; अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश के द्वारा जिनागम का स्वाध्याय करना।
29. व्युत्सर्गत्व गुण - बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करना, गुप्तियों का पालन करना।
30. ध्यान निष्ठतत्व गुण - आर्त रौद्र दोनों ध्यानों का त्याग कर धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करना।
31. सामायिकत्व गुण - रागद्वेष को दूर करने के लिये छह प्रकार का सामायिक करना।
32. स्तव निरतत्व गुण - प्रति दिन चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना।
33. वंदना निरतत्व गुण - किसी एक तीर्थकर की स्तुति करना।
34. प्रतिक्रमण निरतत्व गुण - ईयापथ शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना। दैवसिक प्रतिक्रमण करना पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक वार्षिक प्रतिक्रमण करना।
35. प्रत्याख्यान निरतत्व गुण - पूर्वोपार्जित कर्मों का नाश करने को, उदय में आये हुए कर्मों का नाश करने के लिये समस्त विकारों का त्याग करना।
36. कायोत्सर्ग संगतत्व गुण - निद्रा वंद्रा आदि दूर करने के लिये खगडासन से योग धारण कर शरीर से ममत्व का त्याग करना।

उपाध्याय परमेष्ठी - उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि-

अङ्गावयवगुणजुगो धम्मोवदेसयारी चरियट्ठो।

णिस्सेसागम कुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ॥¹

अर्थात् जो मुनि अध्यापन कार्य में शिष्यों को पढ़ाने में अत्यन्त निपुण हैं, जो सदैव धर्मोपदेश में लीन रहते हैं, अपने चरित्र में स्थिर रहते हैं, समस्त आगम में कुशल होते हैं अथवा द्वादशांग के पाठी होते हैं उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

¹ भा. सं. गा. 378

इसी प्रकार का मिलता जुलता स्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी वर्णित किया है - जो रत्नत्रय से युक्त है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है, वह आत्मा मुनीश्वरों में प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता है।¹ उपाध्याय परमेष्ठी के 25 मूलगुण होते हैं, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व। इनका विशेष व्याख्यान पहले कर आये हैं।

साधु परमेष्ठी - अन्त में साधु परमेष्ठी के स्वरूप को वर्णित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि -

उगगतवतविय गत्तो तियाल जोएण गमिय अहरत्तो।

साहिय मोक्खस्स पओ झाओ सो साहू परमेट्ठी।²

अर्थात् जो प्रतिदिन तीव्र/उग्र तप करते हैं, सदैव तीनों कालों अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायं काल में योग को धारण करते हैं। सर्व मोक्षमार्ग की साधना करते रहते हैं, ऐसे वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। उनका ध्यान निरन्तर करना चाहिये।

ऐसे ही साधु परमेष्ठी के स्वरूप को नेमिचन्द्राचार्य ने वर्णन किया है जो दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण हैं, मोक्षमार्गभूत शुद्ध अर्थात् राग द्वेषादि से रहित चारित्र की हमेशा साधना करते हैं, इन गुणों से सहित जो है वे साधु परमेष्ठी हैं, जिनका सदैव ध्यान करना चाहिये।³

साधु परमेष्ठी के 28 मूलगुण होते हैं - 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रिय विजय, 6 आवश्यक और सात शेष गुण। इन 28 मूलगुणों का पालन साधु निरन्तर करते हैं।

इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को अच्छी प्रकार से जानकर उनके स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। एक तथ्य दृष्टव्य है कि पाँचों परमेष्ठी ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं न कि हमारा लक्ष्य हैं। ये तो मात्र आलम्बन हैं, इनके आलम्बन से अपने स्वरूप की प्राप्ति करना ही हमारा लक्ष्य है। परमेष्ठी तो भवसागर पार लगाने में नैया के समान हैं, किनारे पर पहुँचकर इनका अवलम्बन भी छोड़ना होगा तभी हम उस

¹ बृ. द्र. सं. गा. 53

² भा. सं. गा. 379

³ बृ. द्र. सं. गा. 54

पार हो पायेंगे। यदि हम नाव में ही बैठे रहेंगे अथवा ऐसा विचार करेंगे कि जब उतरना ही है तो फिर नाव में चढ़े ही क्यों? तो हम कभी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे। इसलिये किनारे तक पहुँचने के लिये हमें पंचपरमेष्ठी रूपी नैया में सवार होना ही पड़ेगा। और जब किनारे पर पहुँचेंगे तो नैया को छोड़ना ही होगा तभी मुक्ति सम्भव है।

पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप का चिन्तन करना ही सावलम्ब धर्म्यध्यान कहलाता है। इनके ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष रूप से निर्जरा होती है। आचार्य देवसेन स्वामी ने इस विषय पर विशेष ध्यान दिया कि - निरालम्बन ध्यान गृहस्थ के संभव नहीं है और यदि कोई दुराग्रही इसको स्वीकार नहीं करता है तो वह निश्चित ही जिनेन्द्रदेव की वाणी पर श्रद्धान नहीं करता है। अतः पंच परमेष्ठियों का आलम्बन लेकर धर्म्यध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। ऐसा करने से चित्त की एकाग्रता में निरन्तर वृद्धि होती है।

धर्म्य ध्यान किनके सम्भव है? इस विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न कथन द्रष्टव्य हैं। ध्यान शतक में आचार्य माघनन्दि अप्रमत्तसंयत से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक धर्म्यध्यान को स्वीकार किया है।¹ धवलाकार आचार्य वीरसेनस्वामी का स्पष्ट उल्लेख है कि असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक धर्म्यध्यान संभव है।² आचार्य जिनसेन स्वामी के अनुसार 4थे 5वें 6ठे गुणस्थान में ही धर्म्यध्यान होता है।³ आचार्य शुभचन्द्र ने प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत गुणस्थानों में ही धर्म्यध्यान प्ररूपित किया है।⁴ आचार्य ब्रह्मदेवसूरि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान को स्वीकार करते हैं।⁵

-
- 1 ध्यान शतकम् 63
 - 2 धवला पु. 13 पृ. 74
 - 3 आदिपुराण 21/155-156
 - 4 ज्ञानार्णव 28/25
 - 5 बृ. द्र. सं. गा. 57 टीका

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी प्रतिपादित करते हैं कि भरत क्षेत्र में जो दुःखमा नामक पंचमकाल है उसमें ज्ञानी (मुनि) के धर्म्यध्यान होता है। उसको जो आत्मा के स्वभाव में स्थित नहीं मानता है, वह अज्ञानी है।¹

धर्म्यध्यान की भी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक होता है और लेश्या सर्वदा शुक्ल होती है। इस धर्म्यध्यान के अभ्यास से संसार के भोगों से विरक्ति और विवेक की उत्पत्ति होती है। इसके अभ्यास से स्वर्गादि में, ग्रैवेयकों में, अनुदिश और अनुत्तरों में उत्पन्न हो सकता है। इसके प्रभाव से उत्तम मनुष्य के सुखों को भोगकर भेदविज्ञान के आलम्बन से संसार के परिभ्रमण से विरक्त होकर सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय को धारण करके जो सभी को सुलभ नहीं है ऐसा दुःसाध्य तप को तपकर यथाशक्ति धर्म्यध्यान से शुक्लध्यान को धारण करके अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि धर्म्य ध्यान साक्षात् नहीं परम्परा से मोक्ष का कारण होता है।

4. शुक्ल ध्यान - शुक्ल ध्यान का लक्षण करते हुए आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि - शुचि गुण से युक्त जो है वही शुक्लध्यान है। जिस प्रकार मलिनता के निकल जाने पर वस्त्र शुक्ल (सफेद) स्वच्छ कहा जाता है, उसी प्रकार सर्वमलरहित निर्मल गुणों से युक्त आत्मपरिणामों की परिणति भी शुक्ल होती है। इसी आत्मपरिणति को शुक्ल ध्यान कहा जाता है।²

धर्म्यध्यान की प्रक्रिया के अनन्तर ही शुक्ल ध्यान प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रक्रिया में बाह्य ध्येय प्रयोजनभूत नहीं होते। साधक मुनि के द्वारा आत्म तत्त्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखा जाता है। ध्यान की चरम अवस्था शुक्ल ध्यान है। इसमें ही पूर्णरूप से ध्यान की सिद्धि होती है। इस अवस्था को ही प्राप्त करके ध्यानी साधु को लक्ष्य की सिद्धि होती है। आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार यह निष्क्रिय इन्द्रियातीत ध्यान धारणा से विहीन अन्तर्मुखी मनोवृत्ति है, उसको शुक्ल ध्यान कहते हैं।

शुक्ल ध्यान के भेद - सभी आचार्यों ने शुक्लध्यान के चार भेद स्वीकार किये हैं-

¹ मोक्षपाहुड

² स. सि. 9/28, रा. वा. 9/28/627/31

- | | |
|---------------------------|--------------------------|
| 1. पृथक्त्ववितर्कवीचार | 2. एकत्ववितर्कवीचार |
| 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती | 4. व्युपरतक्रियानिवृत्ति |

किन्तु आचार्य जिनसेन स्वामी ने शुक्लध्यान के दो भेद किये हैं-शुक्ल ध्यान, परम शुक्ल ध्यान। इसमें भी पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कवीचार ये दो शुक्ल ध्यान एवं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये दो परम शुक्ल ध्यान।¹ चारित्रसार में भी इसी प्रकार ही वर्णन किया गया है।²

1. पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान - आचार्य देवसेन स्वामी ने प्रथम शुक्ल ध्यान के तीन भेद किये हैं-पृथक्त्व, सवितर्क और सवीचारा।³ एक द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य का चिन्तन करना, एक गुण को छोड़कर दूसरे गुण का चिन्तन करना और एक पर्याय को छोड़कर दूसरे पर्याय का चिन्तन करना सपृथक्त्व कहलाता है। जिस ध्यान में भावश्रुत ज्ञान के आलम्बन से अत्यन्त शुद्ध आत्मा अथवा शुद्ध अनुभूति स्वरूप आत्मा का स्वरूप आत्मा के ही भीतर प्रतिभासमान होता हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं। वितर्क शब्द का अर्थ है श्रुतज्ञान, जो ध्यान श्रुतज्ञान सहित हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं। जो ध्यान एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को बदल जाय, एक शब्द से होने वाला चिन्तन दूसरे शब्द से होने लगे और एक योग से होने वाला चिन्तन दूसरे योग से होने लगे, उसको संक्रम या संक्रान्ति या विचार कहते हैं। ये तीनों बातें पहले शुक्ल ध्यान में होती हैं, इसलिये वह पृथक्त्व सवितर्क सवीचार शुक्ल ध्यान कहलाता है।⁴

इस ध्यान को दृष्टान्त से समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार किसी वृक्ष को काटने के लिये कुल्हाड़ी तीक्ष्ण न हो, पथरी कुल्हाड़ी हो तो उस वृक्ष के काटने में बहुत देर लगती है, उसी प्रकार इस प्रथम शुक्ल ध्यान में कर्मों का नाश करने में बहुत देर लगा करती है।⁵

1 हरिवंशपुराण 56/53-54
 2 चारित्रसार 203/4
 3 भा. सं. गा. 643
 4 वही गर. 644-646
 5 वही गा. 647

यह ध्यान लगभग सभी आचार्यों ने श्रेणी आरोहण में 8वें से 12वें गुणस्थान में स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य वीरसेनस्वामी का मत है कि जब तक मोहनीय कर्म का नाश नहीं हो जाता तब तक शुक्ल ध्यान संभव नहीं है। अतः प्रथम शुक्ल ध्यान 11वें, 12वें गुणस्थान में होता है। शेष आचार्य आठवें गुणस्थान से 12वें उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी में प्रथम शुक्ल ध्यान होता है ऐसा मानते हैं। यह ध्यान तीनों योगों (मन, वचन, काय) से होता है। इस शुक्ल ध्यान को प्राप्त करने में साधक मुनि को अष्ट प्रवचन मातृका (5 समिति और तीन गुक्ति) का ज्ञान होना ही आवश्यक है। इस ध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम होता है।

2. एकत्ववितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान - यह ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित होता है, किसी एक ही योग से होता है और उसमें वीचार अथवा संक्रमण नहीं होता, वीचार रहित होता है। जिस प्रकार उन मुनि का ध्यान वीचार रहित निश्चल होता है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।¹ यहाँ आशय यह है कि वे मुनि अपने एक आत्मद्रव्य का चिन्तन करते हैं अथवा उसकी किसी एक पर्याय का चिन्तन करते हैं अथवा उसके किसी एक गुण का चिन्तन करते हैं। उनका वह ध्यान अटल रहता है, इसको एकत्व वितर्क कहते हैं। इस ध्यान में द्रव्य-गुण-पर्यायों का परिवर्तन नहीं होता, यदि द्रव्य का ध्यान करता है तो द्रव्य का ही चिन्तन करता रहेगा। यदि गुण का ध्यान करता है तो उस एक गुण का ही ध्यान करता रहेगा, यदि पर्याय का ध्यान करता है तो पर्याय का ही ध्यान करता रहेगा, उसको परिवर्तित नहीं करता है। ऐसे निश्चल ध्यान को जो ध्यान में अत्यन्त निपुण गणधरदेव अवीचार ध्यान कहते हैं। इसमें वे मुनि आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं और भावश्रुत ज्ञान का आलम्बन होता है। इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना है उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं।

जिस समय वे ध्यानी मुनि इस ध्यान को ध्याते हैं उस समय वे बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में अपने प्रज्वलित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म इन तीनों घातिया कर्मों का नाश कर डालते हैं। इनको नाश करके वे मुनिराज स्वात्म तत्त्व की प्राप्ति कर लेते हैं और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धता को प्राप्त करके

¹ चारित्रसार गा. 663

केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेते हैं। उनके साथ-साथ अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की भी उपलब्धि होती है। इस प्रकार वे अनन्त चतुष्टय रूप अनुपमेय सम्पदा से सहित हो जाते हैं। यह एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान 12वें गुणस्थान क्षीण मोह में होता है। यह अवस्था क्षायोपशमिक भाव से सहित होती है। इस ध्यान में तीनों योगों में से कोई सा भी एक योग होता है। इन दोनों ध्यानों को छद्मस्थ श्रुतकेवली ही प्राप्त कर सकते हैं।' अर्थात् पूर्व के धारी मुनिराज के ही सम्भव है।

3. सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्ल ध्यान - तृतीय और चतुर्थ शुक्ल ध्यान मात्र केवली भगवान् के ही होते हैं, ऐसा आचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट रूप से निर्देशित किया है। केवलज्ञानसूर्य के द्वारा पदार्थों को प्रकाशित करते हुए सर्वज्ञ भगवान् की आयु जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल शेष रह जाती है तब यह तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्ल ध्यान होता है। इस ध्यान के नाम से ही इसकी कार्यप्रणाली का ज्ञान हो जाता है। यह ध्यान काय योग को सूक्ष्म कर देता है, अप्रतिपाती अवस्था में अथवा ध्यान में प्रवेश करके पुनः प्रवर्तन क्रिया नहीं होती है। अतः यह सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहा जाता है।

जब अरिहन्त केवली भगवान् के आयु कर्म की स्थिति से ज्यादा स्थिति वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की रहती है तब केवली समुद्घात के द्वारा तीनों कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर कर लेते हैं।¹ जिन मुनियों को छह महीने की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान होता है उनको समुद्घात अवश्य करना पड़ता है, अन्य के लिये कोई नियम नहीं है, हो भी सकता है नहीं भी। इसके उपरान्त केवली भगवान् काययोग में स्थिर होकर बादरवचनयोग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं, इसके बाद सूक्ष्मवचन मनोयोग में स्थिर होकर बादर काययोग को सूक्ष्म कर देते हैं, पुनः सूक्ष्म काय में स्थिरता प्राप्त करके सूक्ष्म वचन मनोयोग का निग्रह कर देते हैं। तब यह जीव इस ध्यान को करने के योग्य होता है। सूक्ष्म काय योग में स्थिर होकर इस ध्यान के द्वारा योग निरोध करते हैं। 13वें गुणस्थान में मात्र अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में बस यही ध्यान होता है और कोई ध्यान नहीं होता है।

¹ त. सू. 9/37

² भा. सं. गा. 677

4. व्युपरतक्रिया (समुच्छिन्न क्रिया) निवृत्ति शुक्ल ध्यान - तृतीय शुक्ल ध्यान के अनन्तर केवलियों के समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान होता है। इस अवस्था में कोई भी योग नहीं होने के कारण आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन की क्रिया का उच्छेद रहता है। यह ध्यान 14वें गुणस्थान में होता है। 14वें गुणस्थान का समय अ इ उ ऋ लृ इन लघु पंचाक्षरों में उच्चारण काल प्रमाण होता है। इस ध्यान से उपान्त्य समय में 72 प्रकृतियों का और अन्तिम समय में 13 प्रकृतियों का क्षय होता है और केवली भगवान् मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं।

शुक्ल ध्यान की विशेषता बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - शुक्ल ध्यान के चार भेदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक आस्रव सहित और दूसरा आस्रव रहित। प्रथम तीन शुक्ल ध्यान आस्रव सहित होते हैं, क्योंकि इनमें कर्मों का आस्रव होता रहता है और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्रव होता है, उसमें किसी भी प्रकार का कर्मास्रव नहीं होता है।¹

आचार्य शुभचन्द्र महाराज का कथन है कि -

आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।

चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति।²

अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन से सम्पन्न बारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता पुनिराज के ही शुक्लध्यान की योग्यता होती है। प्रथम दो ध्यान छद्मस्थों के होते हैं, ये श्रुत के धारक होते हैं। उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थों का आलम्बन होता है। अन्त के दो शुक्लध्यान मात्र केवलियों के ही होते हैं। ये दोनों सभी प्रकार के आलम्बन से रहित होते हैं। इसमें यह विशेषता है कि स्त्रियों के शुक्ल ध्यान नहीं होता है, क्योंकि उनका चित्त स्वभाव से ही चञ्चल होता है।

प्रथम शुक्ल ध्यान के फल से संवर और निर्जस तथा अपार सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। द्वितीय शुक्ल ध्यान के फल से तीन घातिया कर्मों का नाश होता है। तृतीय शुक्ल ध्यान में मन, वचन, काय योगों का निरोध

¹ भा. सं. गा. 686

² ज्ञानार्णव 42/5

करके उनका नाश किया जाता है और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में समस्त कर्मों का नाश करके यह जीव एक ही समय में सिद्धावस्था प्राप्त करके सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

शुक्ल ध्यान को प्राप्त करके सिद्धावस्था में लीन होना ही साधक का अन्तिम लक्ष्य होता है।

ध्यान का फल

➤ आर्तध्यान के फल को प्ररूपित करते हुए कहा है कि यह ध्यान अनन्त दुःखों से व्याप्त तिर्यञ्चगति का कारण होता है। इस ध्यान के आश्रय से प्रथम तो सन्देह उत्पन्न होता है उससे शोक, भय, प्रमाद, अनवधानता और विवाद होता है। चित्तभ्रम बढ़ता है, विषय के सेवन में उत्कण्ठा होती है। निरन्तर निद्रालुता, अंगों की जड़ता होती है। खेद और मूर्च्छा आदि आर्तध्यान के चिह्न हैं। अतः यह ध्यान हेय है।' रौद्रध्यान भी पापरूपी वन का बीज है। अनन्त दुःख का कारण है और दुर्गति को प्राप्त कराने वाला है। यह ध्यान नरकगति का कारण होता है। अतः यह ध्यान भी हेय है। धर्म्यध्यान के फल से यह जीव परिग्रह को छोड़कर शरीर त्याग करते हैं तो उनको स्वर्ग एवं ग्रैवेयकादि प्राप्त होते हैं। यह संवर-निर्जरा का कारण तथा परम्यरा से मोक्ष का कारण है। शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। इस ध्यान में ही चित्त का निरोध पूर्ण होता है। शुक्ल ध्यान के द्वारा ही चित्त की सभी वृत्तियाँ शान्त होती हैं, कर्म का क्षय होता है और अपने आत्मस्वरूप में लीन होता है। शुक्लध्यान ध्यान की सर्वोच्च कोटि है। इससे साधक अपने लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करके आत्मसुख में लीन होता है और सदैव अनन्त सुख में मग्न रहता है।

¹ ज्ञाना. 25/43

तृतीय परिच्छेद : श्रावक के अष्ट मूलगुण और बारह व्रत

मूल जड़ को कहते हैं, जो गुण मूल रूप से पालन किये जाते हैं उन्हें मूलगुण कहते हैं। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति नहीं रह सकती उसी प्रकार मूलगुण के बिना श्रावकत्व की स्थिति रहना संभव नहीं है। अतः पञ्चपरमेष्ठियों के भी मूलगुण आचार्यों, भगवन्तों ने प्ररूपित किये हैं, वैसे ही श्रावक के भी मूलगुण प्ररूपित किये गये हैं। अरिहन्त के 46, सिद्ध के 8, आचार्य के 36, उपाध्याय के 25 और साधु परमेष्ठी के 28 मूलगुण हैं, तो श्रावकों के भी 8 मूलगुणों का निरूपण किया गया है।

सर्वप्रथम श्रावक के मूलगुणों का वर्णन आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में किया है-

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥¹

श्रमणों में उत्तम जिनेन्द्र भगवान् मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं। कुछ आचार्यों ने इन्हीं मूलगुणों का अनुसरण किया फिर कालप्रभाव से मूलगुणों में परिवर्तन आने प्रारम्भ हो गये और फिर अष्टमूलगुणों में मद्य, मांस और मधुत्याग तो यथावत् रहे परन्तु पाँच अणुव्रतों का स्थान पाँच उदुम्बर फल त्याग ने ले लिया। उसके पश्चात् सभी ने इन्हीं अष्टमूलगुणों की अनुमोदना की। इन्हीं आठों मूलगुणों की अनुमोदना करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं -

महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उयंवरण पंचणहं।

अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देश विरयम्मि।²

अर्थात् मद्य, मांस, मधु का त्याग और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, ये देशविरतियों के आठ मूलगुण कहलाते हैं।

¹ र. श्रा. श्लो. 66

² भावसंग्रह गा. 356

शराब पीने का त्याग करना, जीवों के शरीर के मांस खाने का त्याग और मधुमक्खियों के छाते में से निकलने वाले तरल पदार्थ अर्थात् शहद जो असंख्य जीवों का निवास होता है, उसको खाने का त्याग करना एवं पाँच उदुम्बर फल (पीपल, बड़, गूलर (ऊमर), पाकर फल और अंजीर फल इन) का त्याग करना अष्टमूलगुण कहा गया है।

जिस प्रकार साधु के 28 मूलगुणों में से एक भी मूलगुण में हीनता आती है तो उनका साधुत्व स्थिरता को प्राप्त नहीं हो पाता उसी प्रकार श्रावक के भी 8 मूलगुणों में से एक भी मूलगुण में हीनता आती है तो वह भी श्रावकत्व की संज्ञा में स्थिर नहीं रह पाता है।

श्रावकों के प्रथम स्थान में अष्टमूलगुण का पालन और सप्तव्यसन का त्याग प्रधानतया होता है। द्वितीय स्थान व्रतों के पालन का आता है। व्रतों को पालते हुए यह श्रावक द्वितीय व्रत प्रतिमा को अङ्गीकार कर लेता है। सर्वप्रथम व्रत का स्वरूप आचार्य उमास्वामी ने उल्लिखित किया है - 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरति अर्थात् विरक्त, रहित होना व्रत कहलाता है। यहाँ यह आशय है कि पाँचों पापों के त्याग रूप भाव को व्रत कहते हैं। इसी प्रकार व्रत का स्वरूप बताते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं - 'किं कर्तव्यं किं न कर्तव्यमिति व्रतम्'।

व्रत के भेद - व्रतों के भेद सभी आचार्यों ने समान रूप से बारह ही प्ररूपित किये हैं - पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

अणुव्रत - महाव्रत की अपेक्षा लघु होने से अहिंसादि व्रतों को अणुव्रत कहते हैं। महाव्रत में हिंसादि पाँचों पापों का सर्वदेश त्याग होता है और जिसमें हिंसादि पापों का एकदेश त्याग होता है वह अणुव्रत कहलाता है। सामान्य से अणुव्रत के 5 भेद सभी आचार्यों ने स्वीकार किये हैं, परन्तु चारित्रसार में चामुण्डरायजी ने रात्रिभुक्ति त्याग को षष्ठ अणुव्रत कहा है-

त. सू. 7/1

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम्।

पञ्चधाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥¹

इसी प्रकार अणुव्रतों के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं-

हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं।

परमहिलापरिहारो परिमाणं परिग्गहस्सेव॥²

अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, बिना दिये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण न करना, परस्त्री सेवन का त्याग और परिग्रह का परिमाण करना ये पाँच अणुव्रत हैं।

1. अहिंसाणुव्रत - सङ्कल्पपूर्वक मन, वचन और काय एवं कृत, कारित, अनुमोदना से युक्त होकर त्रस जीवों की हिंसा नहीं करना और बिना प्रयोजन स्थावर जीवों को भी नहीं मारना, अहिंसाणुव्रत कहलाता है। इसको स्थूलव्रत भी कहा जाता है।³ इसी स्वरूप को पं. दौलतरामजी ने अतिसंक्षेप में कहा है - त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न संघारे। अहिंसाणुव्रत के पालन में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने का उपदेश देते हुए आचार्य सोमदेव उपासकाध्ययन में लिखते हैं - 'गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्' अर्थात् घर के सभी काम अच्छी प्रकार से देखकर सावधानी पूर्वक करना चाहिये। आसन, शैय्या, मार्ग, अन्न तथा अन्य जो भी वस्तु हो, उसका उपयोग अच्छी तरह देखभाल करके करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रम आरम्भ के बिना सम्भव नहीं है और आरम्भ हिंसा के बिना नहीं होता है। इसलिये संकल्पी हिंसा इच्छापूर्वक छोड़ना चाहिये। जीविका मूलक कृषि आदि के आरम्भ से उत्पन्न हिंसा को छोड़ना शक्य नहीं है। अहिंसाणुव्रत के पालन करने में यमपाल चाण्डाल आचार्यों का प्रशंसनीय रहा है।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन आचार्य उमास्वामी और आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सर्वप्रथम किया है, वे हैं - बन्ध, वध, छेद, अतिभारोपण और

¹ चरित्रसार

² भा. सं. गा. 353

³ कार्ति. गा. 338, रत्नक. श्रा. 53, पु. सि. 75, व. श्रा. 209, सा. ध. 4/7

अन्नपान निरोध। इन पाँचों अतिचारों से रहित होकर ही अहिंसाणुव्रत का पालन अच्छी प्रकार से हो सकता है।

2. सत्याणुव्रत - जैसा देखा है, जैसा जाना है उसको वैसा ही कहना सत्याणुव्रत कहलाता है। इसमें स्थूल झूठ का तो सर्वथा त्याग होता है परन्तु सूक्ष्म झूठ जो परोपकार के लिये हो, बोल सकता है वह सत्याणुव्रत है। इसी परिभाषा को परिपुष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-

स्थूलमलीकं न वदन्ति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।

यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद विरमणम्।¹

जो लोकविरुद्ध, राज्यविरुद्ध और धर्मविधातक झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा दूसरों की विपत्तियों के लिये कारणभूत सत्य को भी न स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है, उसे बुधजन स्थूल मृषावाद से विरमण अर्थात् विरक्त कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने प्रमाद के योग से असत्य का कथन नहीं करना सत्याणुव्रत कहते हुए असत्य के चार भेद कहे हैं-

- (i) विद्यमान वस्तु का निषेध करना।
- (ii) अविद्यमान वस्तु का सद्भाव बताना।
- (iii) विपरीत कथन करना।
- (iv) गर्हित, सावद्य, अप्रिय वचन बोलना।

पं. दौलतराम जी ने भी अतिसंक्षेप में इसका वर्णन किया है - परवधकार कठोर निन्द्य नहिं वयन उच्चारे'। इन चारों को टालते हुए सत्याणुव्रत का पालन निर्बाधरूप से किया जा सकता है। सत्यव्रत की महिमा का गान सभी आचार्यों ने किया है और असत्य भाषण को सभी ने निन्दित कहा है।

सत्याणुव्रत के पालन करने में धनदेव वणिक प्रसिद्ध हुए हैं। इस व्रत के पालन में क्रोध, लोभ, भय और हास्य बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिये इनके वशीभूत होकर हमें अपना विवेक नहीं छोड़ना चाहिए। इस व्रत के पाँच अतिचारों को वर्णित करते हुए

¹ र. श्रा. 55, पु. सि. 91, वसु. श्रा. गा. 210

आचार्य कहते हैं - मिथ्या उपदेश करना, रहोभ्याख्यान, कूटलेख क्रिया, साकारमंत्रभेद और दूसरे की सम्पत्ति को हड़प लेना। इन पाँचों से सदैव बचना चाहिये।

3. अचौर्याणुव्रत - किसी की बिना दी, रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु को बिना दिये हुए ग्रहण नहीं करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है। इसी लक्षण को और विशेष बताते हुए कहते हैं कि जो बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता, दूसरे की भूली हुई वस्तु को भी नहीं उठाता, थोड़े लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है तथा कपट, लोभ, माया से पराये द्रव्य का हरण नहीं करता, वह शुद्धमति, दृढ़निश्चयी श्रावक अचौर्याणुव्रती है।¹ आचार्य उमास्वामी महाराज चोरी का स्वरूप लिखते हैं - 'अदत्तादानं स्तेयम्'² दूसरे के द्वारा जो वस्तु दी गई हो, वह दत्त है, जो दत्त नहीं वह अदत्त है। आदान अर्थात् हस्तादिक के द्वारा ग्रहण करना। अदत्त का ग्रहण करना चोरी है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी का कथन है कि - बिना दी गई वस्तु चाहे छोटी हो या बड़ी, मूल्यवान् हो अथवा मुफ्त हो, उसको अपना बना लेना चोरी है। ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने रूप भावों का उत्पन्न होना ही चोरी है। ऐसे चोरी करने से संक्लेश भाव भी उत्पन्न होते हैं।³

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि -

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।

न हरन्ति यत्र च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्।⁴

अर्थात् रखा हुआ, गिरा हुआ, भूला हुआ, ऐसे परधन अथवा पर पदार्थ को जो न स्वयं लेता है, न दूसरों को देता है, उसे स्थूल चोरी का त्यागी कहा है। इसी सम्बन्ध में आचार्य शिवकोटि, आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी, आचार्य वसुनन्दि, आचार्य सोमदेव, पं. आशाधर जी एवं पं. दौलतराम जी ने भी अपना मत प्रस्तुत किया है। 'जलमृत्तिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता' जल और मिट्टी के बिना और किसी भी वस्तु को बिना दिये ग्रहण नहीं करना अचौर्याणुव्रत है।

¹ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 335-336

² त. सू. 7/15

³ स. सि. 7/15

⁴ र. श्रा. 57

अचौर्याणुव्रत में चारिषेण प्रसिद्ध हुए हैं। इस व्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं - चोरी के उपाय बताना, चोरी किये गये सामान को खरीदना, राज्य अथवा सरकार के विपरीत कार्य करना, लेते में ज्यादा और देते में कम तौलना और कम दाम की वस्तु को अधिक दाम की वस्तु में मिलाकर बेचना आदि। इन अतिचारों से बचकर ही श्रावक निर्दोष अचौर्याणुव्रत का पालन कर सकता है।

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत - स्थूल रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना अर्थात् अपनी पत्नी के अलावा अन्य समस्त नारियों के प्रति विरक्त भाव रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि - 'न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि।'

अर्थात् जो पाप के भय से परस्त्रियों के प्रति न तो स्वयं गमन करता है और न दूसरों को गमन कराता है, वह परस्त्री त्याग अथवा स्वदारसंतोष नामक अणुव्रत कहा गया है। आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाहिका, दशलक्षण आदि शाश्वतपर्वों के दिनों में स्त्रीसेवन और सदैव अनंगक्रीडा का त्याग करने वाले साधक को जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान् ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है।¹

ब्रह्मचर्य शब्द ब्रह्म और चर्य इन दो शब्दों के मेल से बना है। ब्रह्म शब्द की निष्पत्ति बृंह् धातु से हुई है और चर्य शब्द की चर् धातु से हुई है।

आत्मा, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा में जो चर्या करता है, वह निश्चय से ब्रह्मचर्य है और इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय विषयों एवं विकारी भावों से दूर हटना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की महिमा का गुणगान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो परस्त्री का त्याग कर देता है और अध्यात्म पथ की ओर बढ़ने के लिये सतत प्रयत्न करता है, ऐसा भव्यजीव लौकिक एवं पारलौकिक सुख को प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य से संयम निर्दोष पलता है, आत्मसाधना निर्विघ्न होती है, जिससे कर्मों का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन करने में नीली प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है।

¹ र. श्रा. 58

² वसु. श्रा. गा. 210, गुण. श्रा. 136

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन करने में पाँच प्रकार के अतिचारों का परिहार करना परम आवश्यक है। वे हैं - 'दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करवाना, स्वामी सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, स्वामी रहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, अनंगक्रीडा अर्थात् कामसेवन के अंगों के अलावा अन्य अंगों से क्रीडा करना और कामसेवन के प्रति तीव्रता, इन पाँचों अतिचारों का त्याग अवश्य करना चाहिये।'¹

5. परिग्रहपरिमाणणुव्रत - परिग्रह का परिणाम कर लेना पञ्चम अणुव्रत कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं - जितने से अपने परिणामों में सन्तोष भाव आ जाये उतना धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, दासी-दास, क्षेत्र-वास्तु और वस्त्र-वर्तन आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में वांछा नहीं करना परिग्रहपरिमाण नामक पंचम अणुव्रत है। इसी का अपर नाम इच्छा परिमाण व्रत भी है।²

किसी के पास यदि वर्तमान में परिग्रह थोड़ा है, परन्तु अभिलाषा अधिक है, चाह अधिक है तो वह महान् परिग्रही कहलाता है, क्योंकि 'मूर्च्छा परिग्रहः' मूर्च्छा अर्थात् ममत्व परिणाम को परिग्रह आचार्य उमास्वामी ने कहा है। परिग्रह समस्त पापों का मूल है और इसी से दुर्ध्यान होता है।

नौ नोकषाय, चार कषाय और मिथ्यात्व ये 14 अन्तरंग परिग्रह हैं। दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों का वर्णन ऊपर कर दिया है। बाह्य परिग्रह अन्तरंग के निमित्त होते हैं, इनके कारण ही ममत्व परिणाम उत्पन्न होता है और जीव को अचेत बना देता है। इन्हीं भावों को आचार्य अमृतचन्द्र, वसुनन्दि, सोमदेव, पं. आशाधर जी एवं पं. दौलतराम जी आदि ने भी पुष्ट किया है।

देशव्रती श्रावक किसी भी वस्तु का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता तो उसे प्रत्येक वस्तु की मर्यादा अवश्य करना चाहिये। मर्यादा होने से ममत्व भाव में न्यूनता आती है, जिससे व्रत निर्दोष पालन होते हैं और कर्मबन्ध भी अत्यल्प होगा। इस व्रत के

¹ त. सू. 7/28

² र. श्रा. 61

पालन में जयकुमार प्रसिद्ध हुए हैं। हिरण्य-सुवर्ण आदि के प्रमाण का अतिक्रम नहीं करने से, यह व्रत निर्दोष पालन करने से परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गुणव्रत - गुण का अर्थ है उपकार। जो व्रत अणुव्रतों का उपकार करते हैं, उनकी वृद्धि में सहायक होते हैं, उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुण अर्थात् गुणा, जो अणुव्रतों में कई गुणा वृद्धि करते हैं वे गुणव्रत कहलाते हैं। गुणव्रत के तीन भेद आचार्य देवसेन स्वामी ने वर्णित किये हैं, जो कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी, कार्तिकेय स्वामी, कुन्दकुन्दस्वामी, आचार्य रविषेण, पं. आशाधर आदि एवं बृहत् प्रतिक्रमण में भी निरूपित किये हैं। दिग्ब्रत, अनर्थदण्ड विरतिव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत।¹ कुछ आचार्यों अर्थात् आचार्य उमास्वामी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, आचार्य जिनसेन स्वामी, आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी, सोमदेव सूरि, चामुण्डराय, आचार्य अमितगति, आचार्य पद्मनन्दि और लाटी संहिताकार ने दिग्ब्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डविरति व्रत को गुणव्रत के भेदों में स्वीकार किया है।² यहाँ आचार्य समन्तभद्र एवं आचार्य देवसेन आदि आचार्यों ने दिग्ब्रत और देशव्रत को एक में ही समाहित किया है।

1. दिग्ब्रत - दशों दिशाओं में आने-जाने का परिमाण करके कि अमुक दिशा में अमुक क्षेत्र के बाहर जीवन पर्यन्त नहीं जाऊँगा, लोभ का त्याग करने के निमित्त से अहिंसा धर्म की वृद्धि हेतु ऐसा त्याग करता है तो वह दिग्ब्रत कहलाता है।³ दिग्ब्रत के पालन करने से सूक्ष्म पाप का भी त्याग हो जाता है और वह श्रावक भी उपचार से महाव्रत की कोटि में आ जाता है। प्रत्याख्यानानावरण कषाय का उदय होने से महाव्रती नहीं हो पाता है।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि जैसे लोभ का नाश करने के लिये जीव परिग्रह का परिमाण करता है, वैसे ही समस्त दिशाओं का परिमाण भी नियम से लोभ का नाश करता है। अतः आवश्यकता को समझकर सुप्रसिद्ध स्थानों में सभी दिशाओं का जो परिमाण किया जाता है वह दिग्ब्रत कहलाता है।⁴ लिये गये परिमाण में कुछ समय

¹ र. श्रा. 67, भा. सं. गा. 354

² त. सू. 7/21, वसु. श्रा. 214-216

³ र. श्रा. 68, भा. सं. गा. 354

⁴ कार्ति. गा. 341-342

और कुछ क्षेत्र के लिये भी किया गया परिमाण इसी व्रत के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। दिग्ब्रत के पाँच अतिचारों का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि - ऊर्ध्व दिशा का अतिक्रमण करना, अधो दिशा का अतिक्रमण करना, तिर्यक् दिशाओं में अतिक्रमण, क्षेत्र वृद्धि करना और लिये गये परिमाण को भूल जाना इन पाँच अतिचारों का त्याग करने से यह व्रत विशुद्ध पालन किया जा सकता है।

2. अनर्थदण्डविरति व्रत - मन, वचन और काय योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोकना अनर्थदण्डविरति व्रत कहलाता है। जिन कार्यों को करने का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं हो और व्यर्थ में पाप बन्ध होता है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। इनको त्याग करना ही अनर्थदण्डविरति व्रत कहा जाता है। अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं-पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।¹

पापोपदेश विरति - तिर्यज्चों को क्लेश पहुँचाने का, उन्हें बाँधने आदि का उपदेश देना, तिर्यज्चों का व्यापार करने को कहना, हिंसा, आरम्भ और दूसरों को छलकपट आदि से ठगने की कथाओं का प्रसंग स्मरण कराना, ऐसी कथाओं को बार-बार कहने को पापोपदेश अनर्थदण्ड कहते हैं। पाप के कारणभूत उपदेश को नहीं देना पापोपदेश अनर्थदण्डविरति व्रत कहलाता है।²

हिंसादान विरति - जिनसे हिंसा होती है ऐसे उपकरणों को नहीं देना हिंसादान विरति है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र-शस्त्र, विष और सांकल आदि को देने को ज्ञानीजन हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड कहते हैं। ऐसे हिंसोपकरण नहीं देना हिंसादानविरति है।³

अपध्यान विरति - कुत्सित, खोटा चिन्तन करना अर्थात् द्वेष से किसी प्राणी के वध, बन्धन और छेदन आदि का चिन्तन करना तथा राग से परस्त्री आदि का चिन्तन करना अपध्यान अनर्थदण्ड है और इससे विरत होना अपध्यान विरति व्रत है।⁴

1 र. श्रा. 75

2 र. श्रा. 76

3 वही 77

4 वही 78

दुःश्रुति विरति - दुर् अर्थात् कुत्सित, श्रुति का अर्थ शास्त्र है, जो शास्त्र राग, द्वेष, मोह, विषय-कषायों की इच्छा आदि को बढ़ाते हैं, उनका पठन-पाठन दुःश्रुति कहा गया है। ऐसे शास्त्रों को पढ़ने-सुनने का त्याग करना दुःश्रुति विरति व्रत कहा है।

प्रमादचर्या विरति - प्रयोजन के बिना भूमि खोदना, पानी को ढोलना, व्यर्थ में अग्नि जलाना, पंखे आदि चलाना, वनस्पति आदि को छेदना एवं निष्प्रयोजन स्वयं घूमना एवं घुमाना इत्यादि क्रियायें करने को ज्ञानीजन प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहा गया है। प्रमादयुक्त चर्या प्रमादचर्या है। प्रमादपूर्वक प्रवृत्तियों का त्याग करना प्रमादचर्या विरति व्रत कहा गया है।¹

आचार्य उमास्वामी और समन्तभद्रस्वामी ने अनर्थदण्डविरति व्रत के पाँच अतिचारों को वर्णित किया है - रागभाव की अधिकता से हास्य रूप भण्ड वचन बोलना, तीव्रराग से हास्य वचनों सहित शरीर से खोटी चेष्टायें करना, बिना प्रयोजन धृष्टतापूर्वक व्यर्थ बकवास करना, बिना प्रयोजन आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करना और बिना प्रयोजन मन, वचन एवं काय की दुष्प्रवृत्ति करना।² इन अतिचारों से रहित साधक महान् हिंसा और आरम्भ से बच सकता है।

3. भोगोपभोगपरिमाण व्रत - परिग्रह परिमाण किए हुए में से भी रागभाव की आसक्ति को घटाने के लिये पञ्चेन्द्रिय विषयों का परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाण नामक तृतीय गुणव्रत है।³ यह व्रत इन्द्रियों के विषय में स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकने वाला तथा महासंवर का कारण है। भोगोपभोग का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं - जो पदार्थ एकबार भोगे जाने पर त्यागने योग्य हो जाते हैं, वे भोग कहलाते हैं और जो एकबार भोगे जाने के बाद फिर भी बार-बार भोगने में आवें, वे उपभोग कहलाते हैं। जैसे फूल, भोजन, लेप आदि भोग हैं एवं वस्त्र, आभूषण, घर, सवारी आदि उपभोग हैं।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत में प्रतिदिन भी कुछ नियम कर सकते हैं। जैसे आज कितने बार भोजन करूँगा, कितने पेय पदार्थों को ग्रहण करूँगा, काम सेवन नहीं करूँगा

¹ र. श्रा. 80

² त. सू. 7/32, र. श्रा. 81

³ र. श्रा. 82

अथवा करूँगा, वस्त्र-आभूषण कितने बार बदलूँगा, कितनी बार वाहन का उपयोग करूँगा इत्यादि अपने योग्य घड़ी, मुहूर्त, पहर, दिन और रात्रि आदि काल की मर्यादा पूर्वक त्याग करके नियम पालन कर सकते हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत को कुछ आचार्यों ने शिक्षाव्रत में ग्रहण किया है। इसके अतिचारों के सन्दर्भ में आचार्य उमास्वामी और आचार्य समन्तभद्रस्वामी में अन्तर है। दोनों के बताये गये अतिचारों में भिन्नता है। आचार्य उमास्वामी के अनुसार सच्चित्त-आहार, सच्चित्त-सम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषव (अधपका) और दुःपक्वाहार, ये पाँच निरूपित किये गये हैं।¹ आचार्य समन्तभद्र स्वामी के अनुसार पञ्चेन्द्रिय विषयों में रागभाव का कम नहीं होना, पूर्व में भोगे भोगों का बार-बार स्मरण करना, भोगों में अत्यधिक आसक्ति, विषय भोगों के लिये आगामी काल में अति लम्पटता और न भोगते हुए भी भोगने का विचार करना, ये पाँच अतिचार हैं।² इन अतिचारों का त्याग करने से व्रत शुद्ध किया जा सकता है। इस व्रत के पालन करने से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, रागभाव अतिमन्द हो जाता है, व्यवहार और परमार्थ दोनों उज्ज्वल हो जाते हैं। विरुद्ध भोगों का त्याग तो होना ही चाहिये और उपयुक्त पदार्थों में से भी अपनी शक्ति, देश, काल का विचार करके त्याग करना चाहिये।

शिक्षाव्रत - जो व्रत शिक्षा अर्थात् अभ्यास के लिये होते हैं अर्थात् जो मुनिव्रत का पालन करने की शिक्षा देते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। अथवा शिक्षा प्रधान व्रत को शिक्षाव्रत कहते हैं। इनको विशिष्ट श्रुतज्ञान रूप भावना से परिणत साधक ही पालन करते हैं।

शिक्षाव्रत के चार भेद हैं और कई आचार्यों ने भिन्न-भिन्न भेद प्ररूपित किये हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास ये दो शिक्षाव्रत तो सभी आचार्यों ने स्वीकार किये हैं और अतिथिसंविभाग व्रत भी लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकृत किया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अतिथिसंविभाग के स्थान पर वैयावृत्य को ग्रहण किया है। अतिथिसंविभाग

¹ त. सू. 7/35

² र. श्रा. 90

शब्द में मात्र चार दानों का समावेश होता है और वैयावृत्य में दान और सेवा-सुश्रूषा आदि सबका समावेश हो जाता है, इसलिये उन्होंने 'वैयावृत्य' इस व्यापक शब्द को स्वीकृत किया है। चौथे भेद में ही कई विप्रतिपत्तियाँ हैं। आचार्य उमास्वामी ने जहाँ भोगपरिभोगपरिमाण व्रत स्वीकार किया है, वहीं आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया है। आचार्य देवसेन स्वामी और आचार्य वसुनन्दि ने एक समान सल्लेखना को ग्रहण किया है और चारों शिक्षाव्रत एक समान माने हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी ने शिक्षाव्रत के ये चार भेद स्वीकार किये हैं - सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना।'

1. सामायिक व्रत - एकाग्रचित्त होकर पञ्चपरमेष्ठी, जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, जिनचैत्य आदि की प्रातः, मध्याह्न और संध्या काल में स्तुति, वन्दना अथवा चिन्तन करना सामायिकव्रत कहलाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी सामायिक का स्वरूप बताते हैं-

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेष भावेन।

सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति।¹

अर्थात् परम साम्यभाव को प्राप्त श्री गणधर देव मर्यादित तथा मर्यादा बाह्य क्षेत्र में भी समस्त मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नियमित काल पर्यन्त पञ्च पापों के त्याग को 'सामायिक' कहते हैं। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य कहते हैं 'सम' उपसर्ग का अर्थ एकरूप है, जैसे - घी, तेल संगत है, संगत का अर्थ एकीभूत। सामायिक में मूल शब्द 'समय' है, जिसका अर्थ है एक साथ जानना एवं गमन करना अर्थात् एकरूप हो जाना ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है।² पं. आशाधर जी इसी सन्दर्भ में कहते हैं 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा है। उसमें आय अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति वह समाय है। वह समाय ही जिसका प्रयोजन है उसे

¹ भा. सं. गा. 355

² र. श्रा. 97

³ स. सि. 7/21, रा. वा. 9/18/1, चा. सा. 19/1

सामायिक कहते हैं।¹ शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृत्तिका में राग-द्वेष के अभाव को समता अथवा सामायिक कहते हैं।²

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि सामायिक करने के लिये क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि, ये सात बातें जाननी चाहिये।³ सामायिक व्रत के पाँच अतिचार आचार्यों ने प्ररूपित किये हैं - सामायिक करते समय वचनों की प्रवृत्ति करना, शरीर को चलायमान करने की चेष्टा, मन में आर्त-रौद्रादि चिन्तन करना, सामायिक में उत्साह नहीं रहना और पाठ अथवा कायोत्सर्ग आदि भूल जाना।⁴ इन अतिचारों के कारण सामायिक में एकाग्रता नहीं बन पाती है।

सामायिक की महिमा का गुणगान तो इन्द्र भी नहीं कर सकता है। समता रूप परिणामों के साथ सामायिक चाहे दो घड़ी ही क्यों न करे, उस सामायिक से महान् कर्म निर्जरा होती है। सामायिक के प्रभाव से अभव्य जीव भी नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच जाता है। जिसको सामायिक के विषय में कोई ज्ञान न हो तो भी यदि वह एकाग्रता के साथ मन, वचन, काय को निश्चल करके विषय कषायों का त्याग करके पञ्च नमस्कार मंत्र का ध्यान करता हुआ दो घड़ी पूर्ण करता है तो वह भी सामायिक है।

2. प्रोषधोपवास व्रत - पर्व के दिनों में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी को चारों प्रकार के आहारों का सम्यक् इच्छापूर्वक त्याग करना प्रोषधोपवास व्रत जानना चाहिये।⁵ यहाँ आचार्य का यह आशय है कि धर्मानुरागी गृहस्थ द्वारा एक महीने में चार दिन समस्त पापों, आरम्भ और इन्द्रिय विषयों को छोड़कर व्रत, शील, संयम सहित उपवास धारण करके खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास है।

प्रोषधोपवास के भेदों का वर्णन करते हुए आचार्य वसुनन्दि महाराज कहते हैं - उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषधोपवास व्रत कहा गया है। माह

¹ अन. ध. 8/19

² ध. 8/3, 41/84, मू. आ. 521, अ. ग. श्र. 8/31

³ का. अ. गा. 354

त. सू. 7/33, र. श्र. 105

र. श्र. 106

के चारों पर्वों में अपनी शक्ति के अनुसार करना चाहिये।¹ उत्कृष्ट प्रोषधोपवास में सप्तमी अथवा त्रयोदशी के दिन पूजन-वन्दन के पश्चात् सत्पात्र को आहारदान देकर भोजन करे और जिनेन्द्र भगवान् अथवा गुरु के समक्ष जाकर आगामी दिवस के लिये चारों प्रकार के आहारों का त्याग करके उपवास धारण करे। शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक आदि यथोचित करे। तत्पश्चात् अष्टमी/चतुर्दशी को वही पूजन-भक्ति आदि में लीन रहकर नवमी/पूर्णिमा अथवा अमावस्या को दैनिक कर्म के पश्चात् सत्पात्रों को दान देकर ही भोजन करता है, यही उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहा गया है। यह सोलह पहर का बताया गया है। मध्यम प्रोषधोपवास की विधि भी उत्कृष्ट के समान होती है, परन्तु उत्कृष्ट में जहाँ चारों प्रकार के आहारों का त्याग बताया है वहीं मध्यम में आचार्य वसुनन्दि ने जल को छोड़कर शेष का त्याग करना कहा है। यहाँ एक प्रकार के त्याग रूप उपवास नहीं है। अतः इसे मध्यम उपवास की संज्ञा दी गई है। मध्यम उपवास में साधक गृहारम्भ आदि की क्रियायें कर सकता है, किन्तु शेष कार्य उत्कृष्ट के अनुसार हैं। अष्टमी अथवा चतुर्दशी के दिन छहों रसों में से खट्टा रस के अलावा शेष रसों का त्याग करके नींबू-इमली आदि रसों से भोजन पकाकर अथवा सूखी रोटी आदि को खाना आचाम्ल कहा गया है और एकाशन अर्थात् एक समय भोजन दैनिक कर्म के पश्चात् सत्पात्र को आहार देकर करता है, वह जघन्य प्रोषधोपवास कहा गया है। उपवास के दिन क्या करना चाहिये, उसे बताते हुए आचार्य कहते हैं कि पाँचों पापों का त्याग, पञ्चेन्द्रिय विषयों का त्याग, आरम्भ का त्याग एवं आवश्यक वस्तुओं को छोड़कर शेष परिग्रह का त्याग करना, शरीर संस्कार आदि का त्याग करना चाहिये।

प्रोषधोपवास व्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं - बिना देखे, बिना शोधे उपकरणों का प्रयोग करना, बिना देखे, बिना शोधे उपकरणों को रखना, बिना देखे, बिना शोधे चटाई-बिस्तर आदि बिछाना, उपवास करने में उत्साह नहीं रहना और उपवास के दिन आवश्यक क्रियाओं को भूल जाना।² इन अतिचारों से बचकर साधक प्रोषधोपवास की उत्कृष्ट विधि का पालन कर सकता है। उपवास को उत्साहपूर्वक करता है और

¹ व. श्रा. गा. 280

² त. सू. 7/34, र. श्रा. 110

आलस्यरहित होकर ज्ञान और ध्यान में लीन रहता है, वही इसका उचित फल प्राप्त कर सकता है।

3. अतिथि संविभाग व्रत - सम्यग्दर्शनादि गुणों से सम्पन्न, समस्त परिग्रह से रहित साधुसंघ (चतुर्विध) को अपने और उनके धर्मपालन के लिये बिना किसी अपेक्षा के विधि एवं भक्ति पूर्वक दान देना अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है। साधुसंघ को दान देने में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से इस व्रत में भी विशेषता होती है। अतिथिसंविभाग के स्थान पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने वैयावृत्य रूप व्यापक शब्द का प्रयोग किया है। वैयावृत्य भी अनपेक्षित अर्थात् किसी भी अपेक्षा अथवा स्वार्थ रहित है और इसमें साधुसंघ की किसी भी आवश्यकता को उत्साहपूर्वक पूर्ण किया जाता है। यहाँ सिर्फ अतिथिसंविभाग के विषय में नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान देकर पश्चात् स्वयं भोजन करता है। इसमें श्रावक प्रतिदिन अतिथि (साधुसंघ) को आहार देकर ही भोजन करता है, प्रत्येक दिन पड़गाहन करने के लिये अपने घर के बाहर प्रतीक्षा अवश्य करता है।

अतिथि संविभाग व्रत के भी पाँच अतिचार हैं - व्रतियों को दिये जाने योग्य आहार को हरे पत्ते आदि से ढँकना, हरे-पत्र आदि पर रखा हुआ भोजनादि दान देना, दान देने में अनादर भाव रखना अर्थात् उत्साह का नहीं होना, देने योग्य पदार्थ अथवा देने की विधि का भूल जाना अथवा पड़गाहन करना ही भूल जाना और अन्य दातार से ईर्ष्या भाव रखना, ये पाँच अतिचार हैं।¹ इसमें से आचार्य उमास्वामी द्वारा प्रणीत अतिचारों में भिन्नता है, उनके द्वारा वर्णित दो अतिचार दूसरे के द्रव्य को देना और उचितकाल को छोड़कर अन्य काल में आहार देना, ये पृथक् हैं, शेष समान हैं।

अतिथि संविभाग व्रत के पालन करने से जो गुणवान् रत्नत्रय से संयुक्त मुनिराज हैं, उनके स्वरूप को देखकर उनके गुणों को प्राप्त करने की भावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस व्रत के पालन करने से मुनिव्रतों को पालन करने की शिक्षा मिलती है। श्रावक आगामी समय में जिस पद को प्राप्त करना चाहता है उसको अधिक समीप से

¹ र. श्र. 121, त. स. 7/36

जानने और समझने का अवसर उसको यहाँ प्राप्त होता है। धर्म धार्मिक के बिना नहीं रह सकता, इसलिये धार्मिक की रक्षा करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है।

4. सल्लेखना - भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यों में जीव द्रव्य सर्वोपरि है, क्योंकि वह चैतन्य गुण से उपलक्षित है। अनन्तानन्त जीवों में अनन्त जीव तो समीचीन पुरुषार्थ से शुद्धात्मानुभूति के अवलम्बन से अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, किन्तु टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव स्वभाव की श्रद्धा के अभाव में संसार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच अनादि काल से पिसते चले आ रहे हैं। जीवन और मरण मिलकर के विशाल जीवन-संस्था बनती है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मिलकर मास होता है। परिश्रम और विश्राम मिलकर प्रवृत्ति बनती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मिलकर जीवन साधना बनती है। मौन और वाणी मिलकर मानवीय सम्पर्क बनता है। प्रयोग और चिन्तन मिलकर ज्ञानवृत्ति होती है। जागृति और नींद मिलकर शारीरिक व्यापार सफल बनता है। श्वास और उच्छ्वास मिलकर प्राणों का व्यापार चलता है। इसी तरह जीवन और मरण दोनों की युगल रचना है।

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च’ इस नीत्यनुसार जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म अवश्यभावी है। आयुक्षय के कारण प्राप्त होने पर शरीर अथवा दश प्राणों का विनाश हो जाना मृत्यु है और आयु कर्म के उदयवशात् मनुष्य आदि स्थूल व्यञ्जन पर्यायों में दश प्राणादि के साथ जीव का आविर्भाव होना जन्म है। अनादिकाल से अब तक की पर्यायों के जन्म-मरण की संख्या यदि निकालें तो अनन्तानन्त से कम तो नहीं होगी। ‘अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरित’ इस नीत्यनुसार जन्म-मरण की अतिपरिचित क्रियाओं में अवज्ञा होना चाहिये थी, किन्तु नहीं हुई, यह महान् आश्चर्य है।

‘मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्’ ‘अर्थात् मरण देहधारियों का स्वभाव है और ‘स्वभावोऽतर्कगोचरः’ स्वभाव में तर्क नहीं चलता, फिर मरण से भय क्यों? हमारा ध्यान जीवन पर केन्द्रित रहता है, इसलिये मरण के विषय में हम अनभिज्ञ और घबराये हुए रहते हैं। ऐसा नहीं होता तो जिस आस्था से, पुरुषार्थ से और कौशल से हम जीवन की तैयारी करते हैं, उसी उत्कटता से मरण की भी तैयारी करते। यह बात सही है कि मृत्यु

के बाद क्या है? इसके बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते और हमें जीवन में कहीं से किस तरह प्रवेश करना चाहिये, सो भी हम नहीं जानते। मरण के लिये तैयारी करना जितना आसान और स्ववश है, उतना शायद जीवन-प्रवेश की तैयारी करना आसान नहीं है। पता नहीं, कैसे हम यकायक जीवन में प्रवेश करते हैं। इसी तरह पता नहीं, कैसे मृत्यु हमें एक क्षण में घेर लेती है। कठोपनिषद् में यमराज कहते हैं कि मरण के बाद मनुष्य यथाकर्म, यथाश्रुतं और यथाप्रज्ञा नये जीवन में प्रवेश करता है। इस जीवन में हम जैसे कर्म करते हैं, प्रयोग और चिन्तन के द्वारा जैसे अनुभव और ज्ञान बढ़ाते हैं, उसी तरह का नया जन्म हमें मिलता है। जन्म होने के पश्चात् मृत्यु होना अवश्यभावी है। जिन महापुरुषों ने मरण की यथार्थता को आत्मसात् कर लिया है, उन्होंने मरण को मृत्यु महोत्सव कहा है।

मृत्यु की विलक्षणता का समीचीन दिग्दर्शन जैनदर्शन कराता है। यह जिस प्रकार जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनाता है, उसी प्रकार मरण के मार्ग को भी प्रशस्त बनाता है। मरण की इसी प्रशस्तता का अपर नाम सल्लेखना अथवा समाधिमरण है।

सल्लेखना शब्द दो शब्दों के मेल से बना है - सत् + लेखना = सल्लेखना। अर्थात् अच्छी प्रकार से देखना। किसको? अपनी आत्मा को। अपनी आत्मा को अच्छी प्रकार से लखने के लिये किसी प्रकार के उपसर्ग आ जाने पर, असाध्य रोग हो जाने पर, दुर्भिक्ष हो जाने पर, बुढ़ापा आ जाने पर धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग करना सल्लेखना है।¹

आत्मा और धर्म के हित के लिये शरीर और कषाय को कृश करना, सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि - 'सम्यक्कायकषायलेखना, कायस्य बाह्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणाहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना'² अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृश करने का नाम सल्लेखना है। बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् शरीर और रागादि कषायों को, उनके कारणों को क्रमशः कम करते हुए स्वेच्छा पूर्वक कृश करने का नाम सल्लेखना है।

¹ र. श्रा. 122

² स. सि. 7/22

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, त्याग और संयम आदि गुणों के द्वारा चिरकाल तक आत्मा को भावित करने के बाद आयु के अन्त में अनशनादि विशेष तपों के द्वारा शरीर को और श्रुतरूपी अमृत के आधार पर कषायों को कृश करना ही सल्लेखना है। जिस प्रकार मूल (जड़) से उखाड़ा हुआ विषवृक्ष ही प्रयोजन की सिद्धि करता है, मात्र शाखाओं, डालियों एवं पत्रों आदि का काटना नहीं, उसी प्रकार कषायों की कृशता के साथ की हुई काय की कृशता ही प्रयोजन की संरक्षिका है, मात्र काय की कृशता नहीं।

सल्लेखना क्यों धारण करना चाहिये तो इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं कि मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे रत्नों के व्यापारी को अपना घर नष्ट होना कदापि इष्ट नहीं है, तथापि उसके नष्ट होने के कारण उपस्थित हो जायें और रक्षा का कोई भी उपाय न चले तब वह घर में रखे हुए बहुमूल्य रत्न आदि को निकालकर घर अपनी आँखों के सामने नष्ट होते देखता है, वैसे ही श्रावक और साधु व्रतशीलादि गुणों का पालन करते हैं और उसके लिये शरीर की आहारौषधि आदि से रक्षा करते हैं। यदि शरीर में असाध्य रोगादि उपस्थित हो जायें तो सल्लेखना के द्वारा अपने आत्मगुणों की रक्षा करते हैं और शरीर को नष्ट होने देते हैं।¹

सल्लेखना धारण करने के कारणों का वर्णन समन्तभद्र आदि अनेक आचार्यों ने किया है। आचार्य सकलकीर्ति कहते हैं - इन्द्रियों की शक्ति मन्द होने पर, अतिवृद्धता, (देव, मानव, तिर्यञ्च अथवा आकस्मिक) उपसर्ग एवं व्रतक्षय के कारण उपस्थित होने पर, महान् दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य और तीव्र रोग आ जाने पर, शरीर का बल क्षीण हो जाने पर, धर्म्यध्यान एवं कायोत्सर्ग आदि करने की शक्ति क्षीण हो जाने पर बुद्धिमानों को चाहिये कि आत्मकल्याण की प्राप्ति के लिये समाधिमरण ग्रहण करें।² इन्हीं सब कारणों में मूलाराधना में 'भविष्य में समाधि कराने वाले निर्यापकाचार्य नहीं मिलेंगे' ऐसा अन्य कारण मिलता है।

¹ स. सि. 7/22

² समाधिमरणोत्साह दीपक श्लो. 17-18

सल्लेखना की तैयारी हमें अच्छी प्रकार से करना चाहिये। जिस प्रकार दिन भर की प्रवृत्तियों के पश्चात् दिन का प्रकाश कम होने पर थकान को दूर करने के लिये बड़ी उत्कण्ठा से रात के विश्राम की नींद की तैयारी करने लगते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक और साधु को जीवन की थकान से विश्राम पाने के लिये सल्लेखना की तैयारी करना चाहिये। कहीं हमारा जीवन बच्चों की तरह तो नहीं है कि उन्हें जब नींद आती है, जहाँ हैं वहीं गिर जाते हैं और सो जाते हैं। सोने की कोई तैयारी नहीं है। अतः सभी गृहस्थों को अपने मरण की भी तैयारी अच्छी प्रकार से करना चाहिये। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि -

अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।

तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥¹

अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् संन्यास धारण करने को तप का फल कहते हैं, इसलिये यथाशक्ति समाधिमरण के विषय में प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् संन्यास धारण करना ही तपश्चरण आदि का फल है। अतः इस अन्तिम क्रिया का आश्रय अवश्य लेना चाहिये। पूर्वकथित कारण उपस्थित होने पर तो यम अथवा नियम सल्लेखना धारण करनी ही चाहिये, किन्तु निमित्तज्ञान से अपनी अल्प आयु का निर्णय करके भी सल्लेखना धारण करना चाहिये।

मानव की मृत्यु के पूर्व शरीर में कुछ ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जिनसे आयु का निर्णय किया जा सकता है। इसी विषय में आचार्य दुर्गदेव कहते हैं कि -

पिण्डस्थं च पयस्थं रूपस्थं होइ तं पि तिवि अण्यं।

जीवस्स मरणकाले रिट्ठं णत्थित्ति संदेहो॥²

इसमें सन्देह नहीं है कि मरण समय में पिण्डस्थ (शारीरिक), पदस्थ (चन्द्र, सूर्य आदि आकाशीय ग्रहों के दर्शनों में विकृति) और रूपस्थ (निज छाया, परछाया आदि अंगविहीन दर्शन) इन तीन प्रकार के अरिष्टों का आविर्भाव होता है। मरण के पूर्व प्रकट होने वाले इन लक्षणों को अरिष्ट कहते हैं।

¹ र. श्रा. श्लो. 17

² रिष्ट समुच्चय गा. 17

पिण्डस्थ रिष्ट - मृत्यु से कुछ समय शारीरिक, इन्द्रिय शक्ति, धैर्य और स्मृति आदि में न्यूनता आने लगती है। ये मृत्यु के काल को निश्चित करने के संकेत हैं। जैसे - जो व्यक्ति स्थिर होने पर भी काँपता रहे, एकाएक मोटे से पतला अथवा पतले से मोटा हो जाये, गले में डालने पर अंगुलियों का बन्धन दृढ़ न हो, दूसरों के बाल और सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश स्पष्ट न दिखे, जिह्वा इन्द्रिय और लिंग (उपस्थ) काले पड़ जायें, ललाट की रेखायें मिट जायें आदि इनमें से कोई भी प्रकट हो तो उसकी आयु एक माह शेष जानना चाहिये।

शरीर कान्तिहीन, श्वास तेज, सुगन्ध-दुर्गन्ध में भेद नहीं हो, स्नानोपरान्त सर्वप्रथम वक्षस्थल सूखे, दूसरों का रूप न देख सके वह 15 दिन तक जीवेगा, ऐसा जानना चाहिये। जिसकी आँखें स्थिर, शरीर काष्ठवत्, ललाट पर पसीना, भौंहें टेढ़ी हो जावें, आँख की पुतली धंस जाये, मुख सफेद विकृत हो जाये, दाँत टूटकर गिरने लगे और दुर्गन्ध आवे, मस्तक में सनसनाहट, शब्दोच्चारण ठीक न हो, बाल खींचने पर दर्द न हो, समुद्र घोष के स्वर सुनाई दें, हथेलियों की चुल्लु न बने, बन जाये तो खुलने में विलम्ब हो तो उसकी आयु सात दिन समझना चाहिये। इसी प्रकार छह, पाँच, चार, तीन, दो, एक दिनों के भी अनेक लक्षण हैं।

पदस्थ रिष्ट - ये रिष्ट आकाशीय दिव्य पदार्थों में, भूमि पर और कुत्ता, बिल्ली, नेवला, सर्प, कबूतर, चींटी, कौआ एवं गाय-बैल आदि के संकेतों द्वारा जाने जा सकते हैं। जो व्यक्ति चन्द्रमा को अनेक रूपों में और छिद्र सहित देखता है, अर्द्धचन्द्र को मण्डलाकार देखे, सप्तऋषि एवं ध्रुव आदि तारों को, दिन में धूप नहीं देखता, चन्द्र को ग्रसित और सूर्य को छिद्रपूर्ण देखता है, वह एक वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहता है। जिसे सूर्य या चन्द्र मध्यभाग में काले, चन्द्रबिम्ब में लाल और सूर्य में काले धब्बे, सूर्य बिम्ब लोहित वर्ण और चन्द्रबिम्ब हरा दिखाई दे, सूर्य-चन्द्र को अथवा उनके किसी अन्त को बाणों से बिद्ध दिखाई पड़े, चन्द्रमा को मंगल, गुरु के मध्य और शुक्र ग्रह के समान्तर दिखाई पड़े तथा मीन राशि की स्थिति चञ्चल हो, वह छह मास से अधिक नहीं जी पाता है। इस प्रकार अन्य चार तीन, दो आदि मासों के अनेक रिष्ट दर्शन हैं जिन्हें आगम से जानना चाहिये।

रूपस्थ रिष्ट - जहाँ रूप दिखाया जाय वह रूपस्थ रिष्ट है। यह छायापुरुष, स्वप्न दर्शन, प्रत्यक्ष, अनुमानजन्य और प्रश्न द्वारा देखा जाता है। इसके देखने की विधि एवं सभी प्रयोग 'रिष्ट समुच्चय' ग्रन्थ से जानना चाहिये।

इस प्रकार इन रिष्टों से अपनी मृत्यु समीप जानकर अथवा अन्य अनेक प्रकारों से अपनी आयु की समाप्ति निकट जानकर आचार्य को अपने आचार्यादि पद एवं शिष्यों का त्याग करके अनेक गुणों से विभूषित सुयोग्य शिष्य को आचार्य पद देकर समस्त संघ को अनेक प्रकार की शिक्षा देकर निर्यापकाचार्य की खोज करना चाहिये।

योग्य निर्यापकाचार्य आचारवान हो, बहुश्रुत का धारी हो, सर्वसंघ की वैयावृत्ति करने में समर्थ हो, रत्नत्रय के विनाश और उपाय को समझाने में निपुण हो, क्षपक के दोषों को बाहर निकालकर उसे निःशक्य बना देने वाला हो, आचार्य गम्भीर स्वभाव वाले हों। ऐसे योग्य निर्यापकाचार्य को प्राप्त कर उनके प्रति आत्मसमर्पण पूर्वक सल्लेखना के लिये याचना करना चाहिये। सल्लेखना दो प्रकार से होती है-

1. **काय सल्लेखना** - आहार आदि का शरीर की स्थिति देखकर क्रम-क्रम से त्याग करके शरीर कृश करना काय सल्लेखना है।
2. **कषाय सल्लेखना** - संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होते हुए जो कषायों को कृश किया जाता है, वह कषाय सल्लेखना कहलाती है।

समाधिमरण - राग-द्वेष-मोह आदि भावों को मन से दूर करके भावों की विशुद्धि पूर्वक मरण करना समाधिमरण कहलाता है। इसी प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं - वचनोच्चारण की क्रिया परित्याग करके वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि कहते हैं। संयम, नियम और तप से तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, वह परम समाधि है।¹ ऐसे चिन्तनपूर्वक समाधिमरण करने से भवों का अन्त होता है। अज्ञानी जीव शरीर द्वारा जीव का त्याग करते हैं और ज्ञानी जीव द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। जीवन पर्यन्त किये गये तप का फल निर्दोष, निरतिचार समाधि है। अन्तिम समय में जितनी विशुद्धि, दृढ़ता, आत्म-लीनता, राग-द्वेष निवृत्ति, संसार

¹ नियमसार गा. 122-123

स्वरूप का चिन्तन और आत्मस्वरूप में ही विचारों का केन्द्रित होना होगा, समाधि उतनी ही निर्दोष होगी।

मरण प्रकृति का शाश्वत नियम है। मरण के स्वरूप की जानकारी होने से मरण के समय होने वाली आकुलता से बचा जा सकता है। मोह के कारण जीव मरण के नाम से ही भयभीत रहता है। अतः ज्ञानी जीव मरण भय से रहित होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी आयुकर्म के क्षय को मरण का कारण मानते हैं।¹

आचार्य शिवार्य मरण के 17 भेद करते हैं और उनमें से जो मुख्य पाँच मरण हैं, उनको पृथक् ग्रहण करके वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि -

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे।

तत्थवि य पंच इह संगहेण मरणाणि बोच्छामि।²

अर्थात् तीर्थङ्कर देव ने परमागम में सत्रह प्रकार के मरण का उपदेश दिया है, उनमें से प्रयोजनभूत पाँच प्रकार के मरण को आगे कहूँगा। वे मरण के सत्रह भेद इस प्रकार हैं -

1. **आवीचि मरण** - आयुकर्म का उदय प्रति समय होता है, अतः प्रत्येक अनन्तर समय में मरण भी होता है। इसी प्रतिसमय होने वाले मरण को आवीचि मरण कहते हैं।
2. **तद्भव मरण** - वर्तमान पर्याय का अभाव होना तद्भव मरण है।
3. **अवधिमरण** - वर्तमान पर्याय में जैसा मरण प्राप्त करता है वैसा ही मरण आगामी पर्याय में भी होगा उसे अवधिमरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं - वर्तमान में जो आयु जैसे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग को लेकर उदय में आ रही है, वैसी ही पुनः आयुबन्ध करता है और भविष्य में उसका उदय होता है तो उसे सर्वावधि मरण कहते हैं तथा वर्तमान में जैसा आयु का उदय होता है, वैसा ही यदि एकदेश बन्ध होता है तो वह देशावधिमरण कहलाता है।

¹ धवला पु. 1 पृ. 33

² भगवती आराधना गा. 25

4. **आद्यन्तमरण** - वर्तमान में जैसा प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाव द्वारा मरण को प्राप्त होता है, वैसा एकदेश अथवा सर्वदेश से आगामी पर्याय में बन्ध और उदय नहीं होता वह आद्यन्त मरण है।
5. **बालमरण** - बाल के मरण को बालमरण कहते हैं। बाल पाँच प्रकार का होता है-
 - (i) **अव्यक्त बाल** - जो धर्म, अर्थ और काम को नहीं जानता और न जिसका शरीर ही उनका आचरण करने में समर्थ है, वह अव्यक्त बाल है। जैसे-बच्चे।
 - (ii) **व्यवहार बाल** - जो वेद और समय सम्बन्धी व्यवहारों को नहीं जानता, वह शिशुवत् होता है, वह व्यवहारबाल है।
 - (iii) **दर्शन बाल** - अर्थ और तत्त्व के श्रद्धान से रहित सब मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल हैं।
 - (iv) **ज्ञान बाल** - वस्तु को यथार्थ रूप से ग्रहण करने वाले ज्ञान से जो हीन हैं, वे ज्ञान बाल हैं।
 - (v) **चारित्र बाल** - जो चारित्र पालन किये बिना जीते हैं, वे चारित्र बाल कहलाते हैं।
6. **पण्डितमरण** - इसके चार भेद हैं-
 - (i) **व्यवहार पण्डित** - जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण हैं, सेवा आदि बौद्धिक गुणों में निपुण हैं वे व्यवहार पण्डित हैं।
 - (ii) **सम्यक्त्व पण्डित** - क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन से जो युक्त हैं, वे सम्यक्त्व पण्डित हैं।
 - (iii) **ज्ञान पण्डित** - जो मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञान रूप से परिणत है, वह ज्ञान पण्डित है।

(iv) **चारित्र पण्डित** - जो सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र में से किसी एक चारित्र का पालक है, वह चारित्र पण्डित है।

इन सबका जो मरण होता है, वह पण्डित मरण है।

7. **अवसन्नमरण** - मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करने वाले संयमियों के संघ से जो विहीन हो गया है, निकाल दिया गया है, वे अवसन्न हैं, उनका मरण अवसन्न मरण कहलाता है। इसमें पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संशक्त भी ग्रहण हो जाते हैं।

8. **बालपण्डित मरण** - सम्यग्दृष्टि संयतासंयत श्रावक के मरण को बालपण्डित मरण कहते हैं।

9. **सशल्य मरण** - इसके दो भेद हैं -

द्रव्य शल्य - मिथ्यादर्शन, माया, निदान इन तीन शल्यों का कारण जो कर्म है, उसको द्रव्य शल्य कहते हैं। पाँचों स्थावरों और असंज्ञी त्रसों का द्रव्य शल्य मरण होता है। माया, मिथ्या और निदान ये भाव, भाव शल्य हैं। इनमें भावशल्य से सहित मरण होता है, वह सशल्य मरण है।

10. **पलाय मरण** - जो विनय, वैयावृत्य आदि में आदर भाव नहीं रखता, प्रशस्त योग धारण में आलसी, प्रमादी है, व्रत, समिति और गुप्तियों में अपनी शक्ति को छिपाता है, धर्म के चिन्तन में निद्रालु, उपयोग न लगने से ध्यान, नमस्कार आदि से दूर भागता है, उसका मरण पलाय मरण है।

11. **वशार्त्त मरण** - आर्त्त और रौद्र ध्यान मरण को वशार्त्त मरण कहते हैं। इसके चार भेद हैं - इन्द्रिय वशार्त्त मरण, वेदना वशार्त्त मरण, कषाय वशार्त्त मरण और नोकषाय वशार्त्त मरण।

12. **विप्राण मरण** - जब व्रत, क्रिया, चारित्र में उपसर्ग आवे एवं सहा भी न जाय और भ्रष्ट होने का भय हो तब असमर्थ होकर अन्नपान का त्याग करके मरण करता है, वह विप्राण मरण है।

13. **गृद्धपृष्ठ मरण** - शस्त्र ग्रहण से होने वाले मरण को गृद्धपृष्ठ मरण कहते हैं।
ये दो मरण ऐसे हैं जिनका निषेध भी नहीं है और अनुज्ञा भी नहीं है।
14. **भक्तप्रत्याख्यान मरण** - अनुक्रम से आहारपानादि का यथाविधि त्याग करके मरण करता है वह भक्तप्रत्याख्यान मरण है।
15. **प्रायोपगमन मरण** - जो प्रायोपगमन संन्यास धारण करके अन्य किसी से वैयावृत्य नहीं कराता और न ही स्वयं करता है, वह काष्ठ-पाषाणमूर्ति अथवा
➤ मृतक शरीर के जैसे प्रतिमायोग धारण करके मरण करता है, वह प्रायोपगमन मरण कहलाता है।
16. **इंगिनी मरण** - जो समाधि धारण करके अन्य किसी से वैयावृत्य नहीं कराता है, वह इंगिनी मरण है।
17. **केवली मरण** - अयोग केवली के निर्वाण को केवली मरण कहते हैं।

इन 17 मरण के स्वरूप वर्णन के पश्चात् इनमें से मुख्यतया जो पाँच भेद हैं, उनको यहाँ विशेष रूप से वर्णित करते हुए कहते हैं-

पंडितपंडितमरणं पंडित्यं बालपंडितं चेव।

बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च।।'

अर्थात् पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बालबालमरण ये मरण के पाँच भेद कहे हैं। इनमें से प्रथम तीन मरण ही प्रशंसा के योग्य हैं। प्रथम पण्डितपण्डितमरण जिससे केवली भगवान् निर्वाण की प्राप्ति करते हैं। उत्तम चारित्रधारी मुनियों के पण्डितमरण कहा गया है। संयमासंयम गुणस्थानवर्ती जीवों के तृतीय बालपण्डितमरण होता है। चतुर्थ बालमरण सम्यग्दृष्टि जीवों के और बालबालमरण मिथ्यादृष्टि के होता है।

¹ भगवती आराधना गा. 26

पण्डितमरण के तीन भेद हैं-

प्रायोपगमन मरण, इंगिनीमरण और भक्त प्रत्याख्यान अथवा भक्त प्रतिज्ञामरण। आहार आदिक के क्रम से त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों मरण समान हैं। इनमें शरीर के प्रति उपेक्षा के भाव का ही अन्तर है।

1. **प्रायोपगमन मरण** - जो मुनि न तो स्वयं अपनी सेवा करते हैं और न ही दूसरों से करवाते हैं। तृणादि का संस्तर भी नहीं रखते, इस प्रकार स्व-पर अनुग्रह से रहित शरीर से निस्पृह होकर स्थिरता पूर्वक मन को विशुद्ध बनाकर मरण को प्राप्त करते हैं, उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। भव का अन्त करने योग्य संस्थान और संहनन को प्रायोग्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति होना प्रायोपगमन हैं, अर्थात् विशिष्ट संहनन और संस्थान वाले ही प्रायोपगमन मरण ग्रहण करते हैं।

2. **इंगनि मरण** - जिसमें सल्लेखनाधारी अपने शरीर की सेवा, परिचर्या स्वयं तो करता है, परन्तु दूसरों से नहीं कराता, उसे इंगनिमरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा। इस तरह वह अपनी समस्त क्रियायें स्वयं करता है। स्व अभिप्राय को इंगित कहते हैं। अपने अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए जो मरण होता है, वह इंगिनीमरण कहलाता है।

3. **भक्तप्रत्याख्यान मरण** - जिस मरण में अपने और दूसरों के द्वारा किये गये उपकार वैयावृत्ति की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है अर्थात् जिसमें क्रम से आहारादि का त्याग करते हुए मरण किया जाता है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। यद्यपि आहार त्याग उपरोक्त दोनों मरणों में भी होता है, तथापि इस लक्षण का प्रयोग रूढ़िवश मरण विशेष में ही कहा गया है। इस मरण के दो भेद किये गये हैं¹:-

(i) **सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण** - नाना प्रकार के चारित्र में विहार करना विचार है। इस विचार के साथ जो वर्तन करता है, उसे सविचार कहते हैं। जो

¹ भग. आरा. गा. 67

गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह अथवा बल युक्त है और जिसका मरण काल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है अर्थात् जिसका मरण दीर्घ काल के बाद होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इस मरण में आचार्य पद त्याग, परगण गमन, सबसे क्षमा, आलोचना पूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण, विशेष भावनाओं का चिन्तन, क्रम पूर्वक आहार का त्याग आदि कार्य व्यवस्थित रहते हैं।

(ii) अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण - जिनकी सामर्थ्य नहीं है, जिसका मरण काल सहसा उत्पन्न हुआ है, ऐसे पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं। यह मरण तीन प्रकार का है¹-

(a) निरुद्ध - रोगों से पीड़ित होने के कारण जिनका जंघाबल क्षीण हो गया हो, जिससे परगण में जाने में असमर्थ हो, वे मुनि निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण करते हैं। इसके दो भेद हैं - क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्र, काल उनके बान्धव आदि का विचार करके अनुकूल कारणों के होने पर उस मरण को प्रकट किया जाता है, वह प्रकाश है और प्रकट न करना अप्रकाश है।

(b) निरुद्धतर - तीव्र शूल रोग, चोर, म्लेच्छ, शत्रु, सर्प, अग्नि, व्याघ्र, हाथी आदि से तत्काल मरण का प्रसंग होने पर जब तक कायबल शेष रहता है और तब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता और प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना जानकर अपने गण के आचार्य के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना कर जो मरण करता है वह निरुद्धतर अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण है।

(c) परम निरुद्ध - सर्प, अग्नि आदि कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन बल यदि क्षीण हो जाये तो उसे परम निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

¹ भग. आरा. गा. 2021

अन्त समय संन्यास धारण की विधि

अपने आयु कर्म को क्षीण होता जानकर शीघ्र ही मन में अरिहन्त एवं सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना करें तथा समस्त शल्य रहित होकर, समस्त ममत्वभाव को छोड़कर मोक्ष प्राप्ति के लिये दो प्रकार संन्यास धारण करें। पहला संन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इस काल तक यदि मेरे प्राण निकल जायें तो जन्म पर्यन्त चारों प्रकार के आहारों का त्याग तथा दूसरे संन्यास में प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित् बच जाऊँगा तो मैं धर्म और चारित्र्य की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद पारणा करूँगा।¹

इस प्रकार अकस्मात् मरण काल आने पर अपने मन को विशुद्ध बनाता हुआ आहारादि का त्याग स्वयं भी कर सकता है, क्योंकि मरण काल में भावों की विशुद्धि का ही विशेष महत्त्व है। श्रावकों को मरण काल में महाव्रत अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये, जिससे परिणाम विशुद्ध बनते हैं। श्रावक को अन्त समय में स्नेह, बैर और परिग्रह को छोड़कर विशुद्ध भाव वाला होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों से क्षमा कराते हुए स्वयं भी सबको क्षमा करें। समस्त पापों की आलोचना करें और मरण पर्यन्त रहने वाले महाव्रतों को धारण करें।

यदि चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय होने से वह दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, तो मरण समय उपस्थित होने पर संस्तर श्रमण होकर क्रम से आहारादि का त्याग करना चाहिये।²

निर्यापकाचार्य के अभाव में सल्लेखना

श्रावक को मुनि के सान्निध्य में ही समाधि लेना चाहिये। मुनि की अनुपस्थिति में श्रावक क्षपक की मनोदशा देखकर आहार, वस्त्र, परिग्रह एवं परिजन से ममत्व आदि विकल्पों का त्याग करा सकता है। मुनिसंघ के सान्निध्य के बिना श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग न करावे, क्योंकि श्रावकों को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है। यदि श्रावक समर्थ, जागरूक एवं होश में हिताहित का निर्णय लेने में सक्षम हो, तो आत्मबल की सजगता से वह स्वयं वस्त्र त्याग कर सकता है। इसमें भी दूरस्थ किसी साधु का निर्देश अथवा सामीप्य अवश्य लेना चाहिये।

¹ मूलाचार प्रदीप 2819-2820

² सावयपण्णत्ति 378

समाधि में मुनियों की आवश्यकता

समाधि में आचार्य को क्षपक के भावों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि भावों में कोई विकार आ जावे तो समाधि विकृत हो जाती है। अतः निर्दोष और निर्विघ्न समाधि करने के लिये उत्कृष्ट 48 परिचारक मुनियों की आवश्यकता होती है। मध्यम रीति से साधुओं की संख्या चार-चार कम करते जाना चाहिये। अत्यन्त निकृष्ट रीति से भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में जघन्य रूप से दो मुनिराज अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। अकेला साधु समाधि कराने में समर्थ नहीं होता है। निर्यापक के बिना क्षपक अशान्ति से मृत्यु प्राप्त करके भयानक दुर्गति में जाता है। वर्तमान में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में 44 मुनियों का सान्निध्य होना चाहिये।¹

सल्लेखना आत्मघात नहीं

इस तथ्य को समझने से पहले हमें यह समझना चाहिये कि आत्मघात क्या है? आत्मघात का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं कि - जो पुरुष निश्चय कर कषाय से रंजित होता हुआ कुम्भक श्वास रोकता है, जल, अग्नि, विष और शस्त्रों आदि के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है, यही वास्तव में आत्मघात है।² ठीक इसके विपरीत सल्लेखना करने वाला तो न मरण चाहता है, न अग्नि में कूदता है, न जल में कूदकर प्राणों का त्याग करता है। वह तो मरणकाल जानकर शान्त भाव सहित होकर देह का विसर्जन करता है। सल्लेखना आत्मघात कदापि नहीं है, इसे और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं -

मरणोऽवश्यंभाविनी कषाय सल्लेखनातनुकरण मात्रे।

रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति।³

अर्थात् मृत्यु के अवश्यंभावी होने से राग-द्वेष और मोह के बिना कषाय और शरीर को कृश करने के व्यापार में प्रवर्तमान पुरुष के सल्लेखना धारण करने में आत्मघात नहीं होता। यहाँ कोई शंका करे कि सल्लेखनाधारी प्राणों को शरीर से हटाने

¹ भगवती आराधना 676-678

² पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लो. 178

³ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लो. 177

के लिये उद्यम करता है और मरण चाहता है। इसी का समाधान करते हुए आचार्य ने कहा है कि आत्मघात करने वाला विशेष राग-द्वेष भावों से अपने आपको मारने की चेष्टा करता है और संक्लेश भावों से मरता है; जबकि सल्लेखनाधारी मरण समय उपस्थित होने पर कषायों को कृश कर अपने परिणामों को विशुद्ध करता है, सभी से क्षमा माँगता है, सर्वपरिग्रह एवं कुटुम्बीजनों से ममत्व छोड़कर शुद्धात्म स्वरूप के चिन्तन में मग्न हो जाता है। क्या आत्मघाती ऐसे निर्मल विशुद्ध परिणाम बना सकेगा?

सल्लेखना में तो न राग है न द्वेष है, न इष्टानिष्ट बुद्धि है, न कोई शल्य है और न ही कोई संक्लेश परिणाम है; प्रत्युत निरपेक्ष, वीतराग और विशुद्ध परिणाम हैं। यह तो साम्यभाव से अन्तिम विदाई है। यह अकाल मरण भी नहीं है, अपितु समता का जीवन जीना है। जब तक जियें, निर्मल भावों के साथ जियें, यही वास्तव में सही रूप से अन्तिम यात्रा की पूर्व सज्जा है। सफल जीवन यात्रा के उद्देश्य को लेकर साधक अपनी साधना के फल के उद्देश्य को लेकर साधक अपनी साधना के फल के रूप में सल्लेखना स्वीकार करता है। इसका फल निश्चित रूप से परिनिर्वाण अर्थात् मोक्ष सुख प्राप्त करना है।

क्षमाभावपूर्वक स्वभाव में लीन हो जाना ही सल्लेखना है। जैनदर्शन से भिन्न अन्य चिन्तकों ने भी सल्लेखना को उत्तम और आवश्यक साधना के रूप में देखा है। यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि जब राजाराममोहनराय ने सती प्रथा पर रोग लागई थी, तब सल्लेखना उस काल में भी होती थी। उन्होंने इस मामले में कोई भी विरोध नहीं किया। वह जानते थे कि इसमें सती-प्रथा जैसी प्रक्रिया नहीं है, जिस पर कोई प्रश्न खड़ा किया जाय। इसमें आवश्यकता यह है कि हम सत्य को समझकर अपनी बुद्धि और विवेक का विकास करें। किसी की भी धार्मिक भावना को नष्ट करने की कुचेष्टा भारतीय संविधान के विपरीत है। अतः सल्लेखना जैसे पावन-परिणामों को आत्महत्या का रूप देना अल्पज्ञता का प्रकटीकरण ही कहा जायेगा, क्योंकि आत्महत्या तो कषायजन्य परिणति का परिणाम है।

हमारी यही भावना हो कि जो अन्तिम लक्ष्य है वह यह है कि जीवन के अन्तिम पड़ाव में प्रभु की आराधना और आत्मसाधना के साथ सल्लेखना पूर्वक मरण हो। यही श्रावक के व्रतपालन का फल है।

चतुर्थ परिच्छेद : दान का स्वरूप, भेद एवं फल

भारतवर्ष में दर्शन और उससे सम्बन्धित शास्त्रों की लोकप्रियता जितनी है, उतनी शायद किसी अन्य देश में नहीं है। पाश्चात्य देशों में ये विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन मात्र हैं। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मनमानी कल्पना किया करते हैं, उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है, परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का गहरा सम्बन्ध है। क्लेशमय संसार से आध्यात्मिक दुःखनिवृत्ति करने के लिये ही भारत में दर्शन का आविर्भाव हुआ है।

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने आपको विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिये निरन्तर संघर्ष करता रहता है और कभी उसे दबाने वाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से संघर्ष करता है। भेद बस इतना ही रहता है कि अन्य जीव बिना विचार किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण जीवन-संग्राम में लगा रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है। सम्पूर्ण मानवीय कार्य-कलापों की आधारशिला मानवीय विचार हैं। हम दर्शन को अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। पशुओं से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के विषय में समानता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है - धर्म अर्थात् धारण करने वाला वस्तु समुदाय, उसका विवेक, उसका विचार या दर्शन। आध्यात्मिक तथ्यों या सिद्धान्तों का चिन्तन या विचार करना दर्शन है और इन सिद्धान्तों के अनुरूप मोक्षप्राप्ति के लिये आचार का पालन किया जाता है वह धर्म है। दर्शन और धर्म एक दूसरे के पूरक हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जैसा विचार वैसा आचार। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। इन दोनों का सामञ्जस्य आचार्य देवसेन स्वामी के द्वारा रचित ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। यह आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता ही है कि जिन्होंने दर्शन के साथ-साथ धर्म का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन दर्शन में किया जाता है, उन्हीं का पालन करना अर्थात् साधना करना धर्म कहलाता है। बिना साधना अर्थात् आचार के

मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक तथ्यों या सिद्धान्तों के विषय में मात्र विचार करने से मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है।

अतः अब यहाँ आचार्य देवसेन की कृतियों में निहित साधनापरक दृष्टि को द्योतित किया जा रहा है।

दान का स्वरूप एवं भेद

महान् पुण्य के आस्रवों के कारणों में जो मुख्य है, ऐसे दान के स्वरूप को बताने हुए आचार्य उमास्वामी महाराज कहते हैं कि - 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'¹ अर्थात् अपना और दूसरों का उपकार करने के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है। इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्रस्वामी भी दान स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि - सात गुणों से सहित और कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा गृहसम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवधाभक्तिपूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है, वह दान कहा जाता है।² यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - जिसकी वंश परम्परा शुद्ध हो, उसे कुलशुद्ध कहते हैं, जिसका आचरण शुद्ध हो उसे आचारशुद्ध कहते हैं और जिसने स्नानादि कर शुद्ध वस्त्र धारण किये हैं, अंग-भंग नहीं है तथा जिसके शरीर में राध-रुधिरादि को झराने वाली कोई बीमारी नहीं है वह शरीर शुद्ध कहलाता है।

जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं। सूना 5 प्रकार के हैं।

खण्डनी - उखली से कूटना,

प्रेषणी - चक्की से पीसना,

चुल्ली - चूल्हा जलाना,

उदकुम्भ - पानी के घट भरना और

प्रमार्जनी - बुंहारी से भूमि बुहारना ये पाँच हिंसा के कार्य गृहस्थ के होते हैं। खेती आदि व्यापारसम्बन्धी कार्य आरम्भ कहलाते हैं। इनसे जो रहित हैं ऐसे मुनिराजों का आहारादि से जो गौरव या आदर किया जाता है वह दान कहलाता है।

¹ त. सू. 7/38, सो. उपा. 766

² र. क. श्रा. 113

आचार्य पूज्यपादस्वामी और अकलंकस्वामी भी लिखते हैं कि दूसरे का उपकार हो इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।¹ दान का ही स्वरूप बताते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिये अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है।² आचार्य देवसेन स्वामी ने विशेष पुण्य की प्राप्ति में दान को मुख्यता से प्ररूपित किया है, परन्तु उसका सामान्य लक्षण न कहकर उनके भेदों के स्वरूप का विशेष विवेचन किया है।

दान का लक्षण कहते हुए आचार्य लिखते हैं कि अपने और पर के उपकार के लिये अपने द्रव्य से उत्पन्न अन्न-पानादि का सत्पात्रों में त्याग करना दान है।³

इस प्रकार अपने और दूसरे के उपकार के लिये जो धन का त्याग किया जाता है वह दान है, ये लक्षण सभी आचार्यों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है। दान से दाता के जो पुण्य का संचय होता है, यह हुआ स्व का अनुग्रह, साथ ही उसके माध्यम से पात्र के जो सम्यग्ज्ञानादि की अभिवृद्धि होती है, इसे उससे पर का उपकार भी जानना चाहिये।

दान के भेद

दान के भेदों का वर्णन सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र स्वामी के द्वारा किया गया। उन्होंने दान के चार भेद किये हैं - आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवास अर्थात् वसतिका अथवा अभयदान।⁴ आचार्य देवसेन स्वामी ने भी आचार्य समन्तभद्र स्वामी का अनुसरण करते हुए चार ही दान स्वीकार किये हैं।⁵ भेदों की संख्या चार ही है बस नामों में जरा से भेद हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने आवास के स्थान पर अभयदान का प्रयोग किया है और उपकरणदान के स्थान पर शास्त्रदान का प्रयोग किया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी महान् दार्शनिक थे अतएव वे व्यापक शब्दों का प्रयोग किया करते थे।

¹ स. सि. 6/12, र. वा. 6/12/4

² ध. 13/5, 12

³ त. भा. 7/33, त. सा. 4/99

⁴ कार्तिकेया. गा. 362, र. क. श्रा. 117, ज. प. 2/148, व. श्रा. 233, पं. वि. 2/50, रत्नमाला 31

⁵ भा. सं. गा. 489

इन चारों में से आचार्य देवसेन स्वामी ने अभयदान को सर्वप्रथम प्ररूपित करते हुए कहते हैं कि -

1. अभयदान - जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे हों ऐसे समस्त जीवों को भयमुक्त करना अभयदान कहलाता है। जो इसे देता है वह तीनों लोकों में निर्भय और सभी मनुष्यों में उत्कृष्ट होता है।¹ इस दान में जीवों की रक्षा करना तथा मुनि आदि चतुर्विध संघ के लिये आवासादि की व्यवस्था करना भी गर्भित रहता है।

2. शास्त्रदान - मुनि आदि चतुर्विध संघ को ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि प्रदान करना, संयम का उपकरण पीछी और शुचिता का उपकरण कमण्डलु आदि प्रदान करना, शास्त्र या उपकरणदान कहलाता है। पाठशाला खोलना, व्याख्यान देकर धर्म और कर्तव्य का ज्ञान कराना भी शास्त्र या ज्ञान दान की कोटि में आता है। आचार्य कहते हैं कि जो शास्त्रदान देता है, जिनागम पढ़ाता है वह पुरुष मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दोनों को पूर्णरूप से प्राप्त करता है। बुद्धि और तपश्चरण के साथ-साथ अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को भी प्राप्त करता है।²

3. औषधिदान - आवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से पीड़ित चतुर्विध देना औषधिदान है।³ आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - जो औषधिदान देता है वह अतुलित, सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को प्राप्त करता है, महाशक्ति को धारण करता है, चिरायु होता है, तेजस्वी होता है और उसका शरीर सभी रोग व्याधियों से रहित होता है।

4. आहारदान - चतुर्विध संघ को चारों प्रकार के आहारों का यथायोग्य दान देना आहारदान कहलाता है। इसमें आचार्य कहते हैं कि - आहारदान के फल को कोई नहीं कह सकता, क्योंकि आहारदान देने से अपने मन की इच्छानुसार समस्त उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है।⁴

1 भा. सं. गा. 490

2 भा. सं. गा. 491

3 व. श्रा. 236

4 भा. सं. गा. 492

इन चारों दानों की विशेषता बताते हुए आचार्यों का आशय यह है कि भूख सबसे बड़ा कष्ट है। वह शरीर की कांति को नष्ट कर देती है, बुद्धि को भ्रष्ट करती है, व्रत-संयम और तप में व्यवधान उत्पन्न करती है, आवश्यक कर्मों के परिपालन में बाधा उत्पन्न करती है, उस भूख के शमन के लिये प्रासुक, वातावरणानुकूल साधना का वर्धन करने वाला आहार भक्ति पूर्वक मुनियों के लिये आहार दान देना ही चाहिये।

मुनियों के निवास हेतु प्रासुक वसतिका अथवा आवास प्रदान करने से अभयदान का अतिशय पुण्य प्राप्त होता ही है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ मनुष्य के लिये इष्ट हैं। वे बिना जीवन के संभव नहीं हैं। अतः दूसरों के जीवन की रक्षा करना ही अभयदान है। 'दया धर्म का मूल है' सम्पूर्ण दानों में जीवन दान सर्वश्रेष्ठ दान है। अतः अभयदान देना अत्यधिक जरूरी ही नहीं अनिवार्य भी है। असातावेदनीय कर्म के उदय से तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय से शरीर में रोगों की उत्पत्ति होती है। ये रोग शरीर को अस्वस्थ और मन को अप्रसन्न बनाते हैं। रोगों के कारण साधना में कुछ शिथिलता आती है। साधक के रोग-ग्रस्त हो जाने पर रोग के निवारण के लिये शुद्ध औषधि देना तथा समुचित परिचर्या करना ही औषधदान कहलाता है।

इस संसार में तीनों कालों में प्राणी का निःस्वार्थ हितकारी बन्धु ज्ञान ही है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य तिर्यञ्च के समान माना गया है। ज्ञान से ही इस लोक और परलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण हेय-उपादेयता का बोध होता है। भेदविज्ञान होने का कारण भी ज्ञान ही है। ज्ञान से श्रद्धान और चारित्र में दृढ़ता आती है, मन एवं इन्द्रिय विषयों से विरक्तता आती है, चित्त पवित्र होता है। अतः ज्ञानप्राप्ति के लिये जिनवाणी भेंट करना, विद्यालय खुलवा देना, पाठशाला खुलवाना, पढ़ाने के लिये योग्य शिक्षक रखवाना, अपने ज्ञान को न छुपाते हुए किसी के भी पूछने पर आते हुए विषय को तुरन्त बता देना आदि करना सब ज्ञान दान ही है।

सामान्य से देखा जाय तो आहारदान, औषधदान और अभयदान तो कुछ समय के लिये ही उपकारी होते हैं, परन्तु ज्ञानदान इस लोक में तो उपकारी होता ही है परलोक में भी कई भवों का उपकारी होता है। अतः ज्ञान-दान सभी दानों में श्रेष्ठ माना जाता है।

चतुर्विध संघ की आत्मसाधना निर्विघ्न हो, इस उद्देश्य से जिनेंद्र देव के अनुसार जैनाचार्यों ने चार प्रकार के दान की प्ररूपणा की है। आचार्य वसुनन्दि महाराज ने दानों के अन्तर्गत एक दान करुणादान भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि - अतिवृद्ध, बालक, मूक, अन्धा, बधिर, परदेशी, रोगी और दरिद्री जीवों को करुणादान दे रहा हूँ, ऐसा समझकर यथायोग्य आहारादि दान देना चाहिये।¹

दिगम्बराचार्यों ने सम्यग्दृष्टि श्रावक को कुपात्रों अथवा अपात्रों में दान देने का सीधा निषेध नहीं किया है, अपितु दिशादर्शन देते हुए कहा है कि कुपात्रों अथवा अपात्रों को स्वविवेक और करुणाबुद्धि से दान देना चाहिये। करुणाबुद्धि से विवेकपूर्वक दान देने में दोष नहीं, अपितु दोष है उन्हें पात्र समझकर दान देने में। अपात्र में पात्र बुद्धि हो तब सम्यक्त्व में दोष आता है। करुणादान में भी विवेक की आवश्यकता होती है कि पात्र योग्य या अयोग्य, उसे आवश्यकता है या नहीं, आदि का ध्यान रखना चाहिये।

इन चारों दानों में कौन-कौन प्रसिद्ध हुआ है यह बताते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि श्रीषेण राजा आहारदान में, वृषभसेना औषधिदान में, कोण्डेश ग्वाला उपकरणदान में और सूकर अभयदान में प्रसिद्ध हुए हैं।²

आचार्य पूज्यपाद स्वामी तीन प्रकार के दान स्वीकार करते हैं - आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान।³ यहाँ आचार्य ने आहारदान में ही औषधिदान को गर्भित कर लिया है।

महापुराणकार भी दान के चार भेद स्वीकार करते हैं परन्तु ये चारों भेद इन भेदों से भिन्न हैं - दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति।⁴

अब दयादत्ति आदि के लक्षणों को प्ररूपित करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं कि - अनुग्रह करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन, वचन और काय की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को पण्डित लोग दयादत्ति दान मानते हैं।⁵

1 व. श्रा. 235

2 र. क. श्रा. 118

3 स. सि. 6/24

4 म. पु. 38/35, चा. सा. 43/6

5 म. पु. 38/36

महातपस्वी मुनियों के लिये सत्कार पूर्वक पड़गाहन करके जो आहारादि दिया जाता है उसे पात्रदत्ति कहा जाता है।¹ क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान है तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिये कन्या, हस्ति, घोड़ा, रथ, रत्न, पृथ्वी और सुवर्ण आदि दान देना अथवा मध्यम पात्र के लिये समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है।²

अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिये पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को अन्वयदत्ति अथवा सकलदत्ति कहते हैं।³ सब कुछ दान कर देने से इसका नाम सकलदत्ति है और यह दान अपने वंश में किया जाता है इसलिये इसे अन्वयदत्ति कहते हैं। इसके बिना मोक्षमार्ग में चलना दुष्कर है। इसीलिये इस सर्वस्व त्याग को मोक्षार्थियों के लिये हितकर कहा है। प्रथमादि प्रतिमाओं में की जाने वाली आत्मा की आराधना के द्वारा जिनका मोहरूपी सिंह छिन्न-भिन्न तो हो गया है, किन्तु फिर भी जिन्हें उसके उठ खड़ा होने की आशंका है उन गृहस्थों के त्याग का धीरे-धीरे बाह्य और अन्तरंग परिग्रह को छोड़ने का यह क्रम है, क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया इष्ट अर्थ की साधना का उपक्रम इष्ट अर्थ का साधक होता है।⁴

आचार्य सोमदेव स्वामी ने तीन प्रकार के दान भी बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं - राजस, तामस, और सात्विक। जो दान अपनी प्रसिद्धि की भावना से भी कभी-कभी ही दिया जाता है और वह भी तब दिया जाता है जब किसी के द्वारा दिये दान का फल देख लिया जाता है वह राजस दान है।⁵ पात्र और अपात्र को समान मानकर या पात्र को भी अपात्र के समान मानकर बिना किसी आदर सम्मान और स्तुति के नौकर-चाकरों के द्वारा जो दान दिया जाता है वह तामस दान है।⁶ जो दान स्वयं पात्र को देखकर श्रद्धापूर्वक दिया जाता है वह दान सात्विक है।⁷

¹ म. पु. 38/37

² वही 38/38-39

³ वही 38/40

⁴ सा. ध. 7/27-28

⁵ सो. उपा. 828

⁶ वही 829

⁷ वही 830

इन तीनों दानों में सात्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान निकृष्ट है। इन दानों के अलावा एक दान और आचार्यों ने निर्देशित किया है वह है क्षायिक दान। दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करने वाला क्षायिक अभय दान होता है।²

चार अधिकार

आचार्य देवसेन स्वामी की दृष्टि के अनुसार दान देने से पहले चार अधिकारों को अच्छी प्रकार से यदि श्रावक समझ लेता है तो उसी दान में श्रावक को और अधिक पुण्य की प्राप्ति हो सकती है। इन चारों के स्वरूप को अच्छी प्रकार से समझना चाहिये वे इस प्रकार हैं - दाता, पात्र, दान देने योग्य द्रव्य और देने की विधि।³ इन्हीं चारों को आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। वे लिखते हैं - 'विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषात्तद्विशेषः'।⁴ इन चारों में बस क्रम परिवर्तन ही है नाम तो चारों वही हैं। इससे ये प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन स्वामी ने इन अधिकारों का वर्णन करने में उमास्वामी का ही अनुकरण किया है।

इन चारों के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि-

दाता - जो भव्य जीव शान्त परिणामों को धारण करता है, जो मन, वचन, काय से दान देने में लगा हो, अत्यन्त चतुर हो, दान देने में जिसका उत्साह हो, जो मद या अभिमान रहित हो और दाता के गुणों से सुशोभित हो वह दाता गिना जाता है। महापुराणकार आचार्य जिनसेन स्वामी के अनुसार नौ कोटियों से विशुद्ध अर्थात् पिण्डशुद्धि में कहे गये दोषों के सम्पर्क से रहित दान का जो देने वाला है वह दाता है। नौ कोटियाँ इस प्रकार हैं - देयशुद्धि और उसके लिये आवश्यक दाता और पात्र की शुद्धि ये तीन। दाता की शुद्धि, उसके लिये आवश्यक देय और पात्र की शुद्धि ये तीन। पात्रशुद्धि, उसके लिये आवश्यक देय और दाता की शुद्धि।⁵

-
- 1 सो. उपा. 831
 - 2 स. सि. 2/4, रा. वा. 2/4/2
 - 3 भा. सं. गा. 494
 - 4 त. सू. 7/39
 - 5 म. पु. 20/136-137

दाता के अन्दर जो सात गुण होने चाहिये उन गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि - जिनको दान देना है उनमें जिसकी भक्ति हो, दान देने में जिसको सन्तोष हो, क्षमा को धारण करने वाला हो, देव-शास्त्र-गुरु में वा पात्र में श्रद्धा रखता हो, दान देने की शक्ति रखता हो, जिसके लोभ का त्याग हो और दान देने में क्या-क्या करना चाहिये इस बात का जिसको पूरा ज्ञान हो वही उत्तम दाता कहलाता है।'

इसी प्रकार दाता के सात ही गुण रत्नकरण्डक श्रावकाचार की टीका करने वाले आचार्य प्रभाचन्द्र स्वामी ने भी उद्धृत किये हैं। उनमें भी दो अलग-अलग प्रतियों में दो प्रकार के सात गुण प्राप्त होते हैं। एक प्रति में श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये गुण और दूसरी प्रति में श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण बताये हैं।² इन दोनों में सन्तोष के बदले शक्ति और सत्य के बदले दया का उल्लेख हुआ है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने भी दाता के सात गुण वर्णित किये हैं, जो इस प्रकार हैं - ऐहिकफल की अपेक्षा नहीं करना, शान्ति, निष्कपटता, अनसूया अर्थात् अन्य दातारों से ईर्ष्या नहीं करना, अविषादित्व, मुदित्व और निरहंकारित्व।³ इन सातों में शान्ति-क्षमा को छोड़कर सभी नवीन गुणों का समावेश हुआ है। पं. आशाधर जी ने भी अपने ग्रन्थ में दाता के सात गुणों का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं - भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलोलुप्ता और क्षमा ये सात गुण दाता में अवश्य होने चाहिये।⁴ आचार्य अमितगति ने इन्हीं सात गुणों के भेद से दाता के भी सात भेद कहे हैं - भाक्तिक, तौष्टिक, श्राद्ध, विज्ञानी, अलोलुपी, सात्त्विक और क्षमाशील।

पात्र - जिसको दान दिया जाता है वह है पात्र। जो ज्ञान एवं संयम में लीन हैं, जिनकी दृष्टि दूसरी ओर नहीं है, जो एकमात्र आत्मा की ओर दृष्टि देते हैं, जितेन्द्रिय हैं और धीर हैं, ऐसे लोक में जो सर्वश्रेष्ठ श्रमण हैं वे पात्र माने गये हैं। जो सुख-दुःख, मान-अपमान और लाभ-अलाभ में सम, राग-द्वेष से रहित हैं वे पात्र कहे गये हैं।⁵ पात्र

¹ भा. सं. गा. 496

² र. क. श्रा. टीका श्लोक 113

³ पु. सि. श्लोक 169

⁴ सा. ध. 5/47, अमि. श्रा. 9/3

⁵ पउमचरिउ 14/39-40, अमि. श्रा. 10/29, महा. पु. 20/82, म. पु. 20/139

का स्वरूप बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं कि - जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, धर्म्यध्यान में लीन रहता है, सब तरह के परिग्रह और मायादि शक्तियों से रहित है, उसको विशेष पात्र कहते हैं, उससे विपरीत अपात्र हैं।¹ पात्र का ही लक्षण आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि - जो मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त होता है वह पात्र कहलाता है।² पं. आशाधर जी भी पात्र का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि - जो जहाज की तरह अपने आश्रित प्राणियों को संसार रूपी समुद्र से पार कर देता है वह पात्र कहलाता है।³ और भी कहते हैं - जो अतिशय युक्त ज्ञानादि गुण रूपी रत्नों को प्राप्त अथैवा गुणों की प्रकर्षता को प्राप्त है वह पात्र है।⁴

पात्र के भेद बताते हुए आचार्य कहते हैं - अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, श्रावक, महाव्रतियों के भेद से आगम में रुचि रखने वाले तथा तत्त्व के विचार करने वालों के भेद से हजारों प्रकार के पात्र जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाये हैं।⁵ ये भेद मात्र आचार्यवर कुन्दकुन्दस्वामी के अलावा अन्य किसी भी आचार्य के द्वारा निरूपित नहीं किये गये। शेष सभी आचार्यों ने पात्र के तीन भेद किये हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने भी पात्र के तीन भेद किये हैं। उत्तमपात्र, मध्यमपात्र और जघन्यपात्र। इनमें से उत्तमपात्र रत्नत्रय को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि हैं, मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि जीव हैं।⁶

कुपात्र का लक्षण कहते हुए आचार्य लिखते हैं कि - उपवासों से शरीर को कृश करने वाले, परिग्रह से रहित, काम-क्रोध से विहीन परन्तु मन में मिथ्यात्व भाव को धारण करने वाले जीव को अपात्र या कुपात्र समझना चाहिये।⁷ कुपात्र का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि - जो पुरुष रत्नत्रय से रहित है और मिथ्या

¹ र. सा. गा. 125

² स. सि. 7/39, रा. वा. 7/39/5

³ सा. ध. 5/43

⁴ स्थानां. अभय. तृ. 1/37

⁵ र. सा. गा. 123, व. श्रा. गा. 221-222, प. पं. 2/48, अमि. श्रा. 10/2,4, सा. ध. 5/44, बा. अ. 17-18, ज. प. 2/149-151

⁶ भा. सं. गा. 497-498, पु. सि. श्लोक 171

⁷ ज. प. 2/150

मत में कहे गये धर्म में लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना घोर तपश्चरण करे तथापि वह कुत्सित पात्र या कुपात्र ही कहलाता है।¹ आचार्य वसुनन्दि लिखते हैं कि - जो व्रत, तप और शील से सम्पन्न है किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित है वह कुपात्र है।²

आचार्य देवसेन स्वामी ने पात्र के भिन्न प्रकार से दो भेद किये हैं - वेदमय पात्र और तपोमय पात्र।³ ये ऐसे भेद हैं जो अन्य किसी भी आचार्य के द्वारा निरूपित नहीं किये गये। इनका प्रकटीकरण तो आचार्य देवसेन स्वामी की दार्शनिक दृष्टि से ही हुआ है। अब वेदमय पात्र कौन कहलाते हैं तो उनका स्वरूप कहते हैं-

वेद शब्द का अर्थ सिद्धान्त शास्त्र है, जो पुरुष सिद्धान्तशास्त्रों को तथा उसके अर्थ को जानता है, नौ पदार्थों के स्वरूप को, छहों द्रव्यों के स्वरूप को, समस्त गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थानों को जानता है, परमात्मा के स्वरूप को जानता है, जीवों का स्वभाव, कर्मों का स्वभाव और कर्म विशिष्ट जीवों का स्वभाव जानता है तथा इन सबका स्वरूप विशेष रीति से जानता है उसको वेदमय पात्र कहते हैं।⁴

अब तपोमय पात्र का क्या स्वरूप है यह बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरण के द्वारा अपना समय व्यतीत करता है तथा जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ता के साथ पालन करता है और सम्यग्ज्ञान को धारण करता है उसको तपोमय पात्र कहते हैं।⁵

इस प्रकार वेदमय और तपोमय दो प्रकार के पात्रों का वर्णन हुआ। ये दोनों पात्र नियमपूर्वक संसार से पार कर देने वाले होते हैं।

पात्र दान का फल एवं महत्त्व

दान का महत्त्व सभी आचार्यों ने प्ररूपित किया है। ऐसे कोई भी आचार्य नहीं जिन्होंने दान के महत्त्व और फल पर प्रकाश न डाला हो। इस युग के आदि में भगवान्

¹ भा. स. गा. 530

² व. श्रा. 223

³ भा. स. गा. 505

⁴ भा. स. गा. 506-507

⁵ वही गा. 508

आदिनाथ को सर्वप्रथम आहारदान देकर राजा श्रेयांस ने दान की परम्परा का प्रारम्भ किया था। इसी कारण उनको दान रूपी तीर्थ को चलाने के कारण दान तीर्थकर के नाम से भी जाना जाता है। कहते हैं कि भरत चक्रवर्ती ने भी राजा श्रेयांस की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और उनका बहुत सम्मान भी किया था और उनको आदर के साथ प्रणाम भी किया था। ऐसे महान पुण्य का कारण दान सभी आचार्यों का गृहीत विषय रहा है। दान का महत्त्व बताते हुए आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि - सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और श्री देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करना श्रावक का परम धर्म है। नित्य इन दोनों को जो अपना मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि है। आगे कहते हैं कि - सुपात्रों को दान देने से भोग-उपभोग की सामग्री तथा स्वर्गसुख मिलता ही है, क्रमशः मोक्ष सुख भी मिलता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।¹ उसी प्रसंग में और भी कहते हैं कि - जो श्रावक मुनियों को आहारदान के पश्चात् अवशेष अंश का सेवन करता है वह संसार के सारभूत सुखों को प्राप्त होता हुआ शीघ्र ही मोक्षसुख को पाता है।² पात्रदान का महत्त्व बताते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि - जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार गृहरहित निर्ग्रन्थ मुनियों के लिये दिया हुआ दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित सुदृढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है। आगे कहते हैं कि - तप के भण्डार स्वरूप मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, आहारादि दान देने से भोग, प्रतिग्रहण आदि करने से सम्मान, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से सुयश प्राप्त किया जाता है।³ जिस प्रकार उत्तम पृथ्वी पर बोया गया बीज लाखों गुणा या करोड़ों गुणा फलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया गया दान इच्छानुसार फल को देता है। यदि कोई सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम पात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग लोक में जाकर महा ऋद्धियों को महाविभूतियों को धारण करने वाला उत्तम देव होता है।⁴ इसी विषय को आचार्य अमितगति लिखते हैं कि - उत्तमपात्र को दान देकर समाधिपूर्वक यदि मरण करता है

¹ र. सा. गा. 16

² वही गा. 22

³ र. क. श्रा. 114-115

⁴ भा. सं. गा. 501-502

वह सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ भोगों को भोगकर दो या तीन भवों में समस्त कर्मों का नाश करके मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं।'

अब कहते हैं कि यदि कोई मिथ्यादृष्टि जीव उत्तम पात्र को दान देता है तो उसको क्या फल प्राप्त होता है सो बताते हैं - उत्तम पात्र के लिये दान देने से अथवा उनके लिये दिये हुए दान की अनुमोदना से जीव जिस भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं वे उसमें जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुख से बढ़ते हैं।¹ यदि मिथ्यादृष्टि जीव मध्यम पात्र को दान देता है तो वह मध्यम भोगभूमि के भोगों को प्राप्त होता है और यदि वही जीव जघन्य पात्र को दान देता है तो वह जघन्य भोगभूमि के भोगों को प्राप्त करता है।²

कुपात्रों को दान देने से क्या फल प्राप्त होता है, सो आचार्य कहते हैं कि - जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय कषाय में अधिक प्रवृत्त हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार, दान, कुदेव रूप में या कुमानुष रूप में पहुँचाता है।³ आचार्य जिनसेन स्वामी तो कहते हैं कि - कुपात्र दान के प्रभाव से मनुष्य, भोग भूमियों में तिर्यञ्च होते हैं या कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अन्तर द्वीपों का उपभोग करते हैं।⁴ आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - कुपात्र को दान देने वाले जो मनुष्य मरकर कुभोग भूमि में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से आकर भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते हैं वहाँ की भी आयु पूर्णकर वे फिर मनुष्य और तिर्यञ्च पर्याय में उत्पन्न होते हैं और वहाँ भी अनेक प्रकार के पाप करके नरक में जा पड़ते हैं और वर्तमान में जो चाण्डाल, भील, छीपी, डोम, कलाल आदि निम्न श्रेणी के लोग धन और विभूति आदि से परिपूर्ण दिखाई देते हैं वे सब कुत्सित पात्रों को दान देने से ही धनी होते हैं।⁵ और भी कहते हैं कि - राजाओं के घर में जो हाथी, घोड़ा आदि उन्नति को प्राप्त होते हैं वे सब कुपात्र दान देने का ही फल समझना चाहिये। कुपात्रों को दान देने वाले स्वर्गों में भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे वहाँ वाहन रूप में उत्पन्न होकर दुःख प्राप्त करते रहते हैं।

¹ अमि. श्रा. 11/102,123

² महा. पु. 9/85, भा. सं. गा. 499, अमि. श्रा. 62, वसु. श्रा. गा. 245

³ भा. सं. गा. 500, वसु. श्रा. गा. 246-247

⁴ प्र. सा. गा. 257

⁵ ह. पु. 7/115, भा. सं. गा. 533, वसु. श्रा. गा. 248, अमि. श्रा. गा. 84

⁶ भा. सं. गा. 542-543

आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि - जिस प्रकार मध्यम खेत में बोया गया बीज अल्पफल वाला होता है उसी प्रकार कुपात्र में दिया गया दान मध्यम फल वाला होता है। जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया गया बीज कुछ फल नहीं देता उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फल रहित समझना चाहिये। अपात्र विशेष में दिया गया दान किस प्रकार का फल देने वाला होता है सो बताते हैं - किसी अपात्र में दिया गया दान अत्यन्त दुःख देने वाला है। जैसे - विषधर को दिया गया दूध भी तीव्र विष रूप हो जाता है।¹ यहाँ आचार्य का यह आशय है कि दान देना स्वयं के लिये हानिकारक भी हो सकता है अगर वह विवेकपूर्वक न दिया गया हो। यदि किसी अपात्र को आपने दान दिया और उसने उसका दुरुपयोग किया तो आपका ही दान आपको दुःख देने वाला है।

कुपात्र और उनकी सेवा करने वालों की स्थिति बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जिस प्रकार पत्थर की बनी हुई और पत्थरों से भरी हुई नाव उन पत्थरों को भी डूबा देती है और स्वयं भी डूब जाती है, उसी प्रकार कुपात्र भी संसार समुद्र में डूब जाता है और अन्य को भी डूबा देता है। जैसे किसी कुत्सित स्वामी के आश्रित रहने वाले सेवक को उसकी सेवा का श्रेष्ठ फल नहीं मिलता वैसे ही कुत्सित पात्रों को दिया हुआ दान भी अच्छा फल कभी नहीं दे सकता।²

अतएव जो भी अपने आत्मा को स्वर्ग और मोक्ष में पहुँचाना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे ऊपर लिखे अनुसार पात्र-अपात्रों के भेदों को अच्छी प्रकार समझकर प्रयत्नपूर्वक सदाकाल उत्तम पात्रों को दान देते रहें।

भोगभूमि में कल्पवृक्ष

जो जीव उत्तमादि पात्रों को दान देते हैं वे उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं। उन सभी भोगभूमियों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं।³ वे एकेन्द्रिय जीवों की वनस्पति जाति के नहीं अपितु पृथ्वीकायिक होते हैं। क्षेत्रजन्य स्वभाव से ही वे जिन जीवों ने पूर्व भव में पुण्य किया है ऐसे जीवों को उत्तम प्रकार

¹ वसु. श्रा. गा. 241-243

² भा. सं. गा. 547, 550

³ वही गा. 588-591

के भोग-उपभोग सामग्री प्रदान करते हैं। वे दस प्रकार के कल्पवृक्ष इस प्रकार हैं-मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भाजनांग, दीपांग, वस्त्रांग, भोजनांग और मालांग।

अब उन दस प्रकार के कल्पवृक्षों का लक्षण बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - अतिसरस, अतिसुगन्धित और जो देखने मात्र से ही अभिलाषा को पैदा करते हैं, इन्द्रिय बल पुष्टि कारक पानक मद्यांग वृक्ष देते हैं।² यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - अत्यन्त सरस-स्वादु, अतिसुगन्धित और जो देखने मात्र से ही पीने की इच्छा पैदा करते हैं, ऐसे इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले पेय पदार्थ मद्यांग जाति के कल्पवृक्ष देते हैं। यह पेय इन्द्रियों को पुष्टिकारक होते हैं, मद अर्थात् गाढ़ मूर्च्छा को उत्पन्न नहीं करते हैं।

अब तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष की विशेषता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष तत, वितत, घन और सुषिर स्वर वाले वीणा, पट्ट, पटह, मृदंग, ढोलक, तूमरा आदि कई प्रकार के वाद्यों को देते हैं। वीणा आदि के शब्द को तत कहते हैं। ढोल, तबला आदि के शब्द को वितत कहते हैं। कांसे के बाजों के शब्द को घन कहते हैं और बासुरी, शंख आदि के शब्दों को सुषिर कहते हैं।³ आगे कहते हैं - भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम मुकुट, कुण्डल, हार, मेखला, केयूर, भाल-पट्ट, कटक, प्रालम्ब, सूत्र, नूपुर, मुद्रिकार्ये, अंगद, असि, छुरी, गैवेयक और कर्णपूर आदि सोलह जाति के आभरणों को प्रदान करते हैं।⁴

ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्य की तरह होते हुए नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र आदि की कांति का संहरण करते हैं अर्थात् उन वृक्षों से इतना तेज प्रकाश निकलता है कि जिसके सामने सूर्य-चन्द्र का आभास तक मालूम नहीं पड़ता। ये वृक्ष हमेशा प्रकाशमान रहते हैं, अतः वहाँ कभी रात-दिन का भेद मालूम नहीं पड़ता है। गृहांग जाति के कल्पवृक्ष स्वस्तिक, नंदावर्त आदि सोलह प्रकार के विशाल-विशाल दिव्य प्रासादों को प्रदान करते हैं।

1 वसु. श्रा. गा. 250-251

2 वही गा. 252

3 स. सि. 5/24, का. अ. गा. 206 टीका

4 वसु. श्रा. गा. 253

भाजनांग कल्पवृक्ष सुवर्ण-रजत आदि से निर्मित कटोरी, झारी, कलश, गागर, चामर, आसन, पलंग आदि देते हैं। दीपांग जाति के कल्पवृक्ष घर के अन्दर प्रकाश करने के लिये शाखा, प्रवाल, फल-फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश देते हैं। वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम रेशमी (विशुद्ध), चीनी और कोशे आदि के वस्त्र प्रदान करते हैं। भोजनांग जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार के आहार, इतने ही प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार की दाल, एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरेसठ प्रकार के स्वाद्य एवं तिरेसठ प्रकार के रसों को प्रदान किया करते हैं। मालांग जाति के कल्पवृक्ष बेल, पत्र, गुच्छ और लताओं से उत्पन्न हुए बहुत सुगन्धी प्रदान करने वाली, अत्यन्त कोमल और रमणीय सोलह हजार भेद रूप पुष्पों से रची हुई प्रवर, बहुल, परिमल, सुगन्ध से दिशाओं के मुख को सुगन्धित करने वाली मालाओं को प्रदान करते हैं।¹

इस प्रकार ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष भोगभूमियों में रहने वाले आर्यों को मनोवांछित फल प्रदान करते रहते हैं।

दान देने योग्य द्रव्य

दान देने के लिये जिसकी सबसे बड़ी भूमिका होती है वह है देने योग्य द्रव्य, क्योंकि बिना द्रव्य के दान की महत्ता निश्चित रूप से कम हो जाती है। इसीलिये विशुद्ध और प्रासुक द्रव्य सुपात्र को देने से ही दान का उत्तम फल प्राप्त हो सकता है। दानयोग्य विशुद्ध द्रव्य कैसा होना चाहिये, इस विषय में आचार्यप्रवर कुन्दकुन्दस्वामी लिखते हैं कि - मुनिराज की प्रकृति, शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्त रूप में से कौन सी है? कायोत्सर्ग अथवा गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है? शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है, उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है इत्यादि बातों का विचार करके उनके उपचार स्वरूप हित-मित-प्रासुक-शुद्ध अन्न-पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान देने योग्य वस्तुयें हैं।² दानयोग्य द्रव्य के विषय में आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि - जिससे तप और स्वाध्याय

¹ वसु. श्रा. गा. 254-257

² र. सा. गा. 23-24

आदि की वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है।¹ दान योग्य द्रव्य के विषय में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि - जो राग-द्वेष, मान, दुःख आदि पापों को उत्पन्न नहीं करता और जिनसे तपश्चरण, पठन-पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों की वृद्धि करता है वही द्रव्य साधु को देने योग्य है।² आचार्य अमितगति के अनुसार दान योग्य द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार है - जिससे राग नष्ट होता है, धर्म की वृद्धि होती है, संयम पुष्ट होता है, विवेक उत्पन्न होता है, आत्मा में शान्ति आती है, पर का उपकार होता है तथा पात्र का बिगाड़ नहीं होता वही द्रव्य प्रशंसनीय है।³ आचार्य देवसेन स्वामी दान योग्य द्रव्य के विषय में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि - उत्तमपात्रों को निरन्तर आहारदान देना चाहिये। वह आहार निर्दोष हो, प्रासुक हो, शुद्ध हो, निर्मल हो, योग्य हो, मन, वचन और शरीर को सुख देने वाला हो, समय या ऋतुओं के अनुकूल हो, नीरोगता का विचार हो और पेट में पहुँचने पर तपश्चरण, ध्यान और ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय वह उत्तम दान योग्य द्रव्य है।⁴ पं. आशाधर जी भी द्रव्य के स्वरूप को बताते हुए लिखते हैं कि - आहार, औषध, आवास, पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु आदि द्रव्य देने योग्य हैं। राग-द्वेष, असंयम, मद, दुःख आदि को उत्पन्न न करते हुए सम्यग्दर्शनादि की वृद्धि का कारण होना उस द्रव्य की विशेषता है।⁵

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि जो भी दान देने योग्य उत्तम द्रव्य को चतुर्विध संघ को देता है, वह द्रव्य पात्र को भी संसार से पार कर देता है और दान देने वाले दाता को भी संसार से पार कर देता है।

नहीं देने योग्य द्रव्य - आचार्य पद्मनन्दि महाराज कहते हैं कि आहारादि चतुर्विध दान से अतिरिक्त गाय, सुवर्ण, पृथ्वी, रथ और स्त्री आदि के दान देने से फल प्राप्त नहीं होता।⁶ इसी प्रसंग में पं. आशाधर जी कहते हैं कि - नैष्ठिक श्रावक प्राणियों की हिंसा के कारण होने से भूमि, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा आदि हैं आदि में जिसके ऐसे कन्या,

¹ स. सि. 7/39, रा. वा. 7/39/3, त. भा. 7/34, चा. सा. 28/3

² पु. सि. श्लोक 170

³ अमि. श्रा. श्लो. 81-82

⁴ भा. सं. गा. 511-513

⁵ सा. ध. 5/46

⁶ पद्म. पं. वि. 2/50

सुवर्ण, अन्न आदि पदार्थों का दान नहीं देवे।¹ यहाँ आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि कुपात्रों और अपात्रों को यदि इन द्रव्यों को दान देता है तो यह सर्प को दूध पिलाने के समान अशुभकारी ही होता है। अतः इनको दया बुद्धि से ही दान देना चाहिये न कि पात्र समझकर।

आहार दान की विधि

आहार दान देने की विधि सभी आचार्यों ने एक समान ही व्याख्यायित की है। वह है नवधा भक्ति। इसमें किसी भी आचार्य का कोई भी मतभेद नहीं है। वह नवधा भक्ति इस प्रकार है-

प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्धि।²

अब संक्षेप में इनका सामान्य स्वरूप देखते हैं - अपने घर के द्वार पर साधु को देखकर 'मुझ पर कृपा करें' ऐसी प्रार्थना करके तीन बार 'नमोऽस्तु' कहकर तीन बार 'अन्न अन्न, तिष्ठ तिष्ठ' कहकर ग्रहण करना प्रथम प्रतिग्रह विधि है। साधु के स्वीकार करने पर अपने घर के भीतर ले जाकर निर्दोष बाधा रहित स्थान में ऊँचे आसन पर बैठाना दूसरी विधि उच्चस्थान या उच्चासन है। साधु के आसन ग्रहण कर लेने पर प्रासुक जल से उनके पैर धोना और उनके पादजल की वन्दना करना तीसरी विधि पाद-प्रक्षालन है। पैर धोने के बाद गंधोदक लेकर अष्ट द्रव्य से साधु की पूजा करना चतुर्थ अर्चन विधि है। तदनन्तर साधु को प्रणाम करना पंचम नमस्कार विधि है। आर्त और रौद्रध्यान छोड़कर मन को शुद्ध करना मनशुद्धि छठवीं विधि है। निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को सातवीं वचनशुद्धि विधि है। सब ओर से विनीत अंग रखना कायशुद्धि आठवीं विधि है। चौदह मल दोषों से रहित यत्नाचार पूर्वक शोधकर जो आहार-जल आदि की शुद्धि है वह आहार-पान अर्थात् एषणा शुद्धि नौवीं शुद्धि जानना चाहिए।³

¹ सा. ध. 5/53

² पु. सि. श्लो. 168, भा. सं. गा. 528, वसु. श्रा. गा. 225, सा. ध. 5/45, र. क. श्रा. श्लो. 113 टीका

³ वसु. श्रा. गा. 226-231

इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक साधु को आहार दान देने से महान् पुण्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार चतुर्विध संघ में अन्य सभी को भी यथायोग्य विधि से आहार देना चाहिये।

आहार दान में गर्भित चारों दान

आहार दान एक ऐसा दान है जिसमें चारों प्रकार के दानों का समावेश होता है। इसलिये आहारदान की महत्ता को प्ररूपित करते हुए सभी आचार्यों ने समानरूप से इसको देने की प्रेरणा भी दी है और इसको महान् पुण्य के बन्ध का कारण भी माना है। ऐसे महान् आहारदान की महिमा का मण्डन करते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी लिखते हैं कि - आहार दान देने पर तीनों ही दानों का समावेश होता है, क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है और भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करते हैं और भोजन से प्राणों की रक्षा भी होती है।¹ इसी प्रकार आचार्य देवसेन स्वामी भी आहारदान की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि - जो पुरुष विशेष रीति से एक आहार दान को ही देता है वह उस एक आहार दान से ही समस्त दानों को दे देता है। यह इस प्रकार सिद्ध होता है - भूख की पीड़ा अधिक होने से मरने का भय होता है, इसलिये आहार दान देने से अभयदान की प्राप्ति होती है तथा भूख ही सबसे प्रबल व्याधि है और दान देने से ही औषध दान हो जाता है। इसी आहार के बल से ही समस्त शास्त्रों का पठन-पाठन होता है। अतः इससे शास्त्रदान का भी फल मिलता है। इस प्रकार एक आहार दान से चारों दानों के फल मिल जाते हैं।²

आचार्य का यहाँ यह आशय है कि - शरीर, प्राण, रूप, विद्या, धर्म, तप, सुख और मोक्ष ये सब आहार पर निर्भर हैं। अतः जो भव्य पुरुष यतियों को आहार दान देता है वह नियम से शरीर, प्राण आदि सबका दान देता है। इसी प्रकार इस संसार में भूख के समान कोई अन्य व्याधि नहीं है और अन्न के समान कोई औषधि नहीं है, इसलिये जो भव्य आहार दान देता है वह पुरुष आरोग्य दान भी देता है। यह शरीर अन्न का कीड़ा है और अगर इसको अन्न न मिले तो यह शिथिल होने लगता है। अतः जिसने

¹ का. अ. गा. 363-364

² भा. सं. गा. 522-524

इसको दान दिया समझो उसने शरीर का दान ही दिया। जब तक आहार है तब तक शरीर है, जब तक शरीर है तब तक प्राण हैं, प्राण हैं तो रूप है, तब तक ही ज्ञान है और तब तक ही विज्ञान है। बिना आहार के सब नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शरीर के रहने पर तपश्चरण है, तप से कर्मों का नाश, कर्मों के नाश से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये आहार दान की महिमा को कोई भी नहीं कह सकता। उसकी महिमा गान करने में शब्दों का संयोजन फीका पड़ जाता है। आचार्य देवसेन स्वामी और भी आहार दान की महिमा कहते हैं कि - घोड़ा, हाथी, गाय, पृथ्वी, रत्न, वाहन आदि का दान देने वालों को उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी सदाकाल आहार दान देने से होती है। जिस प्रकार समस्त रत्नों में वज्र रत्न उत्तम है, समस्त पर्वतों में मेरु उत्तम है उसी प्रकार सभी दानों में आहार दान सर्वोत्तम है।¹

इस प्रकार उपर्युक्त सभी तथ्यों को जानकर रत्नत्रय के धारी पात्रों को आहार दान अवश्य ही देना चाहिये।

जो पुरुष शक्ति और साधन से सम्पन्न होने पर भी मुनिराजों को आहार दान नहीं देता, ऐसे लोभीजनों के प्रति आचार्य कहते हैं कि - जो पुरुष अन्न-धन आदि के होते हुए भी मुनियों को कुभोजन देता है, उसकी पीठ को दरिद्रता अनेक जन्मों तक नहीं छोड़ती अर्थात् अनेक जन्म तक वह लोभी / कृपण दरिद्री बना रहता है।²

आचार्य देवसेन स्वामी और भी कहते हैं कि जो पुरुष धन-सम्पदा के होने पर भी अत्यन्त मोह के कारण सुपात्रों को दान नहीं देता वह स्वयं ही स्वयं को ठगता है। लोभी पुरुष को उदाहरण से समझाते हुए कहते हैं कि - लोभी न तो स्वयं धन का भोग करता है और न ही किसी पात्र को दान देता है तो वह भूसे से बने पुतले के समान खेत में खड़ा रहने वाले के समान होता है जो खेत में न स्वयं खाता है और न दूसरों को खाने देता है बस दूसरों के लिये धन की रक्षा करता रहता है। जिस प्रकार मधुमक्खी अपने छत्ते में शहद को इकट्ठा करती रहती है परन्तु स्वयं उसका उपभोग नहीं करती और दूसरा कोई आता है, सारा शहद निकालकर ले जाता है और सैकड़ों मधुमक्खियों

¹ भा. सं. गा. 525-526

² भा. सं. गा. 516

को भी मार जाता है। उसी प्रकार जो कृपण केवल धन को इकट्ठा करता रहता है वह उसका उपभोग नहीं करता है और वह जब मरता है तो सारा धन दूसरों के लिये ही छोड़ जाता है।¹ इसी प्रकार भर्तृहरि ने भी अपनी कृति में उल्लेख किया है कि-

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।²

इसमें इनका भी यही तात्पर्य है कि धन की तीन गतियाँ हैं - दान, भोग और नाश जो व्यक्ति न दान देता है, न भोग करता है तो वह धन नाश को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार लोभी को तो आचार्यों ने महादानी कहा है, क्योंकि वह थोड़ा-थोड़ा दान नहीं देता बल्कि जब मरता है तब सम्पूर्ण संग्रहीत धन को छोड़कर चला जाता है। अब आचार्य लोभी / कृपण पुरुष को दान देने के लिये व्यावहारिक जीवन से उसका साक्षात्कार कराते हुए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि - लक्ष्मी, यौवन और जीवन कभी भी किसी का स्थिर नहीं रहता, इसलिये इस वास्तविक तथ्य को समझकर श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ पात्रों को सदा काल दान देते रहना चाहिये।³

दान की दुर्लभता का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - संसार में धन बड़े दुःख से प्राप्त होता है और कदाचित् मिल भी जाय तो चित्त में दान देने का भाव अत्यन्त कठिन है। कदाचित् भाव हो भी जायें तो किसी योग्य पात्र का मिलना अतिकठिन है। यदि किसी विशेष पुण्य के उदय से पात्र भी मिल जाय तो अपने स्वजन-परिजन अनुकूल नहीं रहते हैं। यदि स्वजन (स्त्री-पुरुष आदि) ही प्रतिकूल हो गये तो धर्मायतनों में भी दान देने में विघ्न बनकर नरकादि दुर्गतियों में ले जाने वाले कार्यों का उपदेश देते हैं। यदि ऐसा कोई करता है तो वह स्वजन कैसे हो सकता है? वह तो शत्रु के समान ही है। जो हमको धर्म पालन करने में सहायक होता है वही वास्तव में स्वजन बन्धु और मित्र कहलाता है।⁴

1 भा. सं. गा. 557-559

2 नीतिशतकम्, श्लो. 43

3 भा. सं. गा. 560

4 वही गा. 561-565

दान देने के लिये और प्रेरित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - जो यथेष्ट धन, दान देने का भाव और सुपात्र की प्राप्ति, इन तीनों संयोगों को पाकर सुपात्रों में दान देता है वह तीनों लोकों में धन्य समझा जाता है और नरकादि दुर्गतियों को सदा के लिये रोक देता है।¹ कहते हैं कि जो अपना धन पात्रदान में लगाता है वह अगली पर्यायों के लिये अनन्त गुनी सम्पत्ति या स्वर्गसुख रूपी सम्पदा को प्राप्त करने का साधन बना लेता है। लक्ष्मी के बढ़ने पर अधिक दान देना तो स्वाभाविक है परन्तु जब लक्ष्मी घटने लगे तब सोचना चाहिये कि यह लक्ष्मी तो जा ही रही है और चली ही जायेगी, इसलिये इसको अन्य कार्यों में क्यों जाने दिया जाय? इसको तो सुपात्र दान में ही दिया जाना चाहिये। यही समझकर लक्ष्मी के घट जाने पर भी विशेष रीति से सुपात्रों को अधिक दान देना चाहिये।²

अब जो भी जीव दान नहीं देता है उसे क्या फल मिलता है उसको बताते हैं - जो दान पूजादि नहीं करता है वह दूसरों का अन्न पीसकर पेट भरते हैं तो भी उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता है। वे लोग कहार अर्थात् जो पालकी आदि में बैठाकर ले जाता है, होते हैं और दीन आकृति बनाकर लोगों की बड़ी विनय करते हैं, वे दूसरों के हाथ-पैर दबाते हैं और झूठी तारीफ भी करते रहते हैं कि आपके पैर हाथ आदि तो बहुत ही कोमल हैं। किसी के जानवरों और खेतों आदि की रखवाली करते रहते हैं। वे लोग राजाओं के आगे-आगे शस्त्रादि लेकर दौड़ते रहते हैं और सर्दी-गर्मी, धूल-पसीना आदि का ध्यान नहीं रख पाते हैं। वे लोग अतिदीन होते हैं और दूसरों की धन-सम्पदा, स्त्री आदि को देखकर दुःखी होते हैं और पश्चाताप करते हैं कि यदि हमने भी पूर्व भव में पात्रों को दान दिया होता तो ऐसे कष्ट नहीं झेलने पड़ते। इस प्रकार पात्र दान के फल को जानकर और दान न देने वालों के फल को जानकर हृदय में लोभ को दबाना चाहिये और यथाशक्ति सुपात्रों को दान अवश्य देना चाहिए।³

¹ भा. सं. गा. 566

² भा. सं. गा. 567-568

³ वही गा. 569-577

धन का सदुपयोग कैसे?

गृहस्थ अपनी कड़ी मेहनत से जो धनार्जन करता है उस धन का सही तरह से प्रयोग कब? कहाँ? और कैसे? करना चाहिए, इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य कहते हैं कि - बुद्धिमान गृहस्थों को यही उचित है कि वे जितना धन उत्पन्न करें उसके छह भाग कर लेना चाहिए। उसमें से पहला भाग धर्म के लिये निकाल दें, दूसरा भाग अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये देवें, तीसरा भाग अपने भोगों के लिये रख लेवें, चौथा भाग अपने स्वजन-परिवारजन के लिये रख लेवें, शेष दो भाग को जमा कर रखना चाहिये। उससे जिनेन्द्र देव की पूजा अथवा धर्म प्रभावना में लगाना चाहिये अथवा आपत्ति काल के लिये रख लेना चाहिये।¹

कौन सा कमाया धन साथ में जाता है और कौन सा धन यहीं पड़ा रह जाता है और नष्ट हो जाता है सो कहते हैं - जो द्रव्य की महिमा बढ़ाने में, प्रभावना में, पात्र-दान में खर्च होता है वही द्रव्य आगामी पर्याय में साथ में जाता है और जो द्रव्य बिना खर्च किये ही जमीन में गाड़ दिया जाता है वह नष्ट ही हो गया ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि गाड़े हुए धन को या तो वह स्वयं ही भूल जाता है या फिर वह स्थान ही भूल जाता है अथवा चूहे आदि उस द्रव्य को ले जाकर कहीं दूसरे स्थान पर रखे देते हैं अथवा उस द्रव्य को भाई-बन्धु आदि ले जाते हैं अथवा चोर आदि उसे चुरा ले जाते हैं और इनसे भी यदि बच जाय तो उसको राजा ले लेता है। अथवा अपनी ही दुष्ट तरुण स्त्री उस समस्त धन को लेकर किसी अन्य प्रेमी के साथ दूर देशान्तर को भाग जाती है। इस प्रकार अनेक प्रकार से वह गड़ा हुआ धन नष्ट ही हो जाता है। इसीलिये इस तथ्य को निश्चित रूप से अच्छी तरह से समझकर सुपात्रों को चारों प्रकार का दान देना चाहिये तभी इस अर्जित किये गये धन का सदुपयोग हो सकता है। जिससे किये गये पापों का नाश और श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन हो सके।²

यह जो पुण्य अर्जित किया गया है उस पुण्य से इस संसार की समस्त सम्पदायें प्राप्त हो जाती हैं। जैसे उत्तम कुल की प्राप्ति, तीनों लोकों में यश, सर्वोत्तम रूप, अपार

¹ भा. सं. गा. 578-580

² भा. सं. गा. 582-585

धन-सम्पदा, युवावस्था, शरीर में तेज, श्रेष्ठ पति/पत्नी, भोग भूमि की प्राप्ति आदि सभी दान के प्रताप से ही प्राप्त होते हैं।

दान की महिमा तो आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है। आचार्यों ने लिखा है कि - जो भी श्रावक तीर्थंकर मुनिराज को प्रथम आहार देता है उसको उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति होती है और देवों के द्वारा पञ्चाश्चर्य भी प्रकट होते हैं।

पञ्चम परिच्छेद : पुण्य का मुख्य कारण - पूजा

इस संसार में रहने वाला प्रत्येक प्राणी दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करना चाहता है, परन्तु वह उस परम सुख की प्राप्ति के लिये उचित उपाय करने में उत्साहित नहीं रहता है और प्रमाद करता हुआ कषाय और योग से निरन्तर प्रति समय आयुकर्म के अलावा शेष सात कर्मों का बन्ध करता रहता है, क्योंकि आयुकर्म का बन्ध आठ अपकर्ष कालों में ही होता है। इसीलिये आचार्य भगवान् उपदेश देते हैं कि इस संसार के जालू को छोड़कर मुनिव्रत का पालन करो और कर्मनाश करके मोक्ष रूपी परमसुख को प्राप्त करो। परन्तु फिर भी यह श्रावक मुनिव्रत का पालन करने में असमर्थ रहता है तो उसे कम से कम पाप क्रियाओं को छोड़कर पुण्यास्रव के मार्ग में लग जाना चाहिये। यदि कोई यह कहता है कि वर्तमान पंचम काल में तो मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है तो उसके लिये पुरुषार्थ करना व्यर्थ है? जब मोक्ष प्राप्ति का समय आयेगा तो तभी हम पुरुषार्थ कर लेंगे तो ऐसे लोगों के लिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि-

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत् नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्।¹

अर्थात् व्रतों के नहीं पालने से नरक पर्याय प्राप्त होती है तो व्रतों के पालन करने से देवों की पर्याय प्राप्त करना श्रेष्ठ है। जैसे कि कोई व्यक्ति किसी अन्य की प्रतीक्षा कर रहा है तो धूप में रहकर करने की अपेक्षा छाया में खड़े रहना श्रेष्ठ है। अतः आचार्य कहना चाहते हैं कि जब मोक्ष के योग्य समय की प्रतीक्षा ही करनी है तो पापास्रव करके नरक में करने की अपेक्षा पुण्यास्रव करके स्वर्ग में देवपर्याय में सुखों को भोगते हुए ही क्यों न करे? अर्थात् यही श्रेष्ठ है। पुण्यास्रव किन-किन कारणों से होता है तो श्रावक के करने योग्य कार्यों में आचार्यवर कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि - 'दानपूया मुख्ख' एवं दान और पूजा ही हैं जो श्रावक को महान् पुण्य का आस्रव कराने में मुख्य साधन हैं। यद्यपि पाप और पुण्य दोनों ही संसार के कारणभूत हैं तथापि पाप तो सर्वथा हेय है और पुण्य तात्कालिक उपादेय है। ऐसा कौन सा पुरुष है जो पुण्य क्रियाओं

¹ इष्टोपदेश श्लोक 3

का त्याग करने में समर्थ है, तो आचार्य कहते हैं कि - जिस पुरुष ने अपने समस्त प्रमाद नष्ट कर दिये हैं और इन्द्रियों के विषय तथा कषायों में लगे हुए अपने चित्त को जिसने सर्वथा अपने वश में कर लिया है, गृहस्थी के समस्त व्यापारों का त्याग कर दिया है और निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके महाव्रतों को अतिचार रहित पालन करते हुए 6-7वें गुणस्थान में रहते हुए उपशम या क्षपक श्रेणी के सम्मुख होते हैं और वह जब शुद्ध अवस्था की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है तब यह पुण्य भी उसको हेय है। क्षपक श्रेणी में कर्मों का क्षय, उपशम श्रेणी में कर्मों का जब उपशम होता है तो पुण्य तो स्वतः ही छूट जाता है उसे छोड़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। परन्तु जो गृहस्थ अपने परिग्रह व्यापारादि में रत है उसको यह पुण्य के कारण कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि पुण्य साक्षात् रूप से तो स्वर्ग में देवपर्याय को प्राप्त कराता है और परम्परा से मोक्ष का कारण होता है। आचार्यों ने श्रावक के 6 आवश्यकों में सर्वप्रथम देवपूजा को ही स्थान दिया है। वे लिखते हैं कि-

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायसंयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने।¹

इस मनुष्य जन्म की प्राप्ति हमें किसी महान् पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुई है, इसमें भी आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, निरोगी काया, सत्पुरुषों की संगति आदि उत्तम से उत्तम निमित्त मिलने पर भी जो दान-पूजादि षट् आवश्यक कार्यों को नहीं करता है, उसे आचार्यों ने पशु के समान स्वीकार किया है। इसलिये प्रत्येक श्रावक को यदि पाप से बचना है तो उसको पूजा आदि कार्यों को परमावश्यक समझकर करना ही चाहिये, जिससे इहभव में और परभव में सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सके। दान के विषय में विस्तृत चर्चा पिछले परिच्छेद में हो चुकी है। अब पूजा के विषय में चर्चा करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि पुण्य के कारणों में सर्वप्रथम भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करना है, अतः समस्त श्रावकों को परम भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। पूजा को और किन-किन नामों से जाना जाता है, उसको वर्णित करते हुए आचार्य जिनसेन स्वामी

¹ प. पं. श्लोक 6/7

लिखते हैं कि - याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजा विधि के पर्यायवाची शब्द हैं।¹

पूजा का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि - अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की तथा शास्त्रों की जो वैभव युक्त होकर गुणों का अनुराग और भक्ति की जाती है उसे पूजन विधान कहते हैं।² यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - पंच परमेष्ठियों एवं शास्त्रों की विभिन्न प्रकार से अर्चना करने को पूजन कहा है। जिस विशिष्ट शुभ विधि के अन्तर्गत पंचपरमेष्ठी आदि की आराधना की जाती है उसे पूजन कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु और चौबीस तीर्थकरों आदि की जो गुणानुराग, स्तुति और भक्ति की जाती है वही पूजा कहलाती है। पूजा के विषय में आचार्य समन्तभद्रस्वामी कुछ विशेषरूप से वर्णित करते हुए कहते हैं कि - श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम को भस्म करने वाले अरिहन्त भगवान् के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा के फल का विचार जरूर करना चाहिये। जिसने काम-क्रोधादि विकारी भावों को भस्म कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्रदेव पूज्य हैं। इसके अलावा विकारीभावों को आंशिक रूप से नष्ट करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कराने में सहायक होने से समीचीन शास्त्र भी पूज्य हैं। यद्यपि ये सब पूजा से प्रसन्न होकर किसी को कुछ भी नहीं देते और इनकी निन्दा करने से अप्रसन्न होकर किसी का भी कुछ अनिष्ट नहीं करते हैं, फिर भी मनोरथों को पूर्ण करने वाले कहे जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि जब इनकी पूजा करने वाला इनकी पूजा करता है, तब उसके हृदय में जो भगवान् आदि के प्रति शुभराग पैदा होता है तो उसके कारण ही पुण्यकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म का अनुभाग क्षीण होता है। अतः इससे सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश अपने आप ही हो जाता है। उनके गुणों में जो अत्यन्त आदरभाव रखता है वह पूजक कहलाता है। प्रभु आदि की परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते हैं। समस्त दुःखों का दूर हो जाना ही पूजा का फल है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि - पूज्य वही हो सकता है जो सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला

¹ म. पु. 67/193

² वसु. श्रा. गा. 380

हो और कामादिक विकारी भावों को नष्ट करने वाला हो। इसीप्रकार पूजक का विशेष स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि पूजक वही हो सकता है जो पूज्य के गुणों में अत्यन्त आदरभाव से अनुराग और भक्ति रखता हो। पूजा के विषय में कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु की उनके पद के अनुरूप परिचर्या करना, अर्थात् प्रतिमा रूप देव की अभिषेक तथा पूजना करना, शास्त्रों की विनय करते हुए उनकी सुरक्षा तथा उनके द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्वों का प्रचार करना और निर्ग्रन्थ गुरुओं की पूजा करते हुए उनकी आहारादिक की व्यवस्था करना ही सही मायने में पूजा है। पूजा के फल को तो स्पष्ट ही कर चुके हैं कि दुःखों का सम्पूर्ण रूप से नाश होना है। सम्यग्दृष्टि श्रावक भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते समय यह भाव रखता है कि - हे भगवान्! जैसी शान्तनिर्विकार मुद्रा आपकी है, वैसी ही मुद्रा मेरी भी हो जावे, यही मेरा भी स्वभाव है, परन्तु मैं स्वभाव को भूलकर विभाव रूप में परिणमन करता हुआ संसार के दुःखों को भोग रहा हूँ। आपकी पूजा के फलस्वरूप मैं बस यही चाहता हूँ कि मैं स्वकीय शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहूँ। इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पद की इच्छा मुझे किञ्चित् भी नहीं है, उन्हें तो मैं अपने संसार काल में अनन्तबार प्राप्त कर चुका हूँ। जो मनुष्य निश्छल भाव से जिस किसी भी विधि से भगवान् की पूजा करता है उसकी सभी इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं।

पूजा के भेद

पूजा भी कई प्रकार से की जाती है, अतः उनको अलग-अलग भेद के रूप में पिरोकर आचार्यों ने पूजा के भी भेद प्रस्तुत किये हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं कि पूजा चार प्रकार की होती है - सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टान्हिक।¹

1. सदार्चन (नित्यमह) - आचार्य कहते हैं कि - प्रतिदिन अपने घर से लाए हुए जल, चन्दन, अक्षत आदि के द्वारा जिनालय में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करना अथवा अपने धन से जिनबिम्ब जिनालय आदि का बनवाना अथवा भक्तिपूर्वक गाँव, मकान, जमीन आदि शासन के विधान के अनुसार रजिस्ट्री आदि कराकर मन्दिर के निमित्त देना, अथवा अपने घर में भी तीनों संध्याओं में अर्हन्त देव की

¹ म. पु. 38/26, ध. 8/94, चा. सा. 43/1

आराधना करना और मुनियों को प्रतिदिन पूजापूर्वक आहार दान देना नित्यमह कहा है।¹

2. **चतुर्मुख (सर्वतोभद्र)** - मण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है उसको सर्वतोमुख, चतुर्मुख और महामह कहते हैं।² यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - जिनको सामन्त आदि के द्वारा मुकुट बांधे गये हैं उन्हें मुकुटबद्ध या मण्डलेश्वर कहते हैं। वे जब भक्तिवश जिनदेव की पूजा करते हैं तो उस पूजा को सर्वतोभद्र आदि कहते हैं। वह पूजा सभी प्राणियों को कल्याण करने वाली होती है, इसलिये उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। चतुर्मुख मण्डप में की जाती है इसलिये इसे चतुर्मुख पूजा कहते हैं। अष्टाह्निक की अपेक्षा महान् होने से इसे महामह कहते हैं। यहाँ पर 'भक्तिवश' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि यदि मण्डलेश्वर, चक्रवर्ती आदि के भय से यह पूजा करता है तो उसकी यह गरिमा समाप्त हो जाती है। यह पूजा भी कल्पद्रुम पूजा के समान ही होती है बस इसमें इतना अन्तर है कि कल्पद्रुम में चक्रवर्ती अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में किमिच्छक दान देता है और मण्डलेश्वर केवल अपने जनपद में ही दान देता है।
3. **कल्पद्रुम पूजा** - 'क्या चाहते हो' इस प्रकार के प्रश्नपूर्वक याचक की इच्छा के अनुरूप दान के द्वारा लोगों के मनोरथों को पूरा करके चक्रवर्ती के द्वारा जो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं।³
4. **अष्टाह्निक पूजा** - भव्य जीवों के द्वारा नन्दीश्वर पर्व में अर्थात् प्रतिवर्ष आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन के शुक्लपक्ष के अन्तिम आठ दिन अर्थात् अष्टमी से पूर्णिमा तक जो नन्दीश्वर द्वीप में विराजमान 52 अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं उनमें विराजमान जिनेन्द्र भगवान् की जो पूजा की जाती है वह अष्टाह्निक पूजा कहलाती है।⁴

1 म. पु. 38/27-29, सा. ध. 2/25

2 म. पु. 38/30, सा. ध. 2/27

3 म. पु. 38/31, सा. ध. 2/28

4 म. पु. 38/32, सा. ध. 2/26

इन पूजाओं के अलावा इन्द्र-प्रतीन्द्र, सामानिक आदि के द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे ऐन्द्रध्वज पूजा कहते हैं।

शेष जो कई प्रकार की पूजायें हैं उनका अन्तर्भाव इन्हीं पूजाओं में ही हो जाता है। इसी प्रकार वसुनन्दि आदि आचार्य पूजा के 6 भेद भी स्वीकार करते हैं जो इस प्रकार हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पूजा।¹ अब इन छहों भेदों को सामान्य से लक्षित करते हुए आचार्य कहते हैं कि -

नाम पूजा - अरिहन्तादि के नाम का उच्चारण करके विशुद्ध स्थान पर पुष्प क्षेपण करना नाम पूजा कहलाती है।² नामपूजा के अन्तर्गत परमपद में स्थित पंचपरमेष्ठी में से किसी भी परमेष्ठी, मुक्तात्मा अथवा मुक्ति की साधना में तल्लीन आत्मा का नाम स्मरणीय है।

स्थापना पूजा - जिनेन्द्र भगवान् ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना यह दो प्रकार की स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तु में जो अरिहन्तादि के गुणों का आरोपण करना है वह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है और अक्षत वराटक, सुपारी अथवा कंमलगट्टा आदि में अपनी बुद्धि के अनुसार यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना ही असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिये।³

यहाँ आचार्य का यह आशय है कि - किसी विशिष्ट आकारवान् वस्तु में उसी आकार रूप व्यक्ति (देवता) की स्थापना करना सद्भाव स्थापना पूजा है। जैसे - मनुष्याकार पद्मासन प्रतिमा में यह भगवान् महावीर हैं ऐसा मानकर उसमें उनके गुणों का आरोपण करके पूजन करना अथवा फणयुक्त मनुष्याकृति में भगवान् पार्श्वनाथ मानकर पूजन करना सद्भाव स्थापना पूजा है। इसी प्रकार किसी भी आकार की वस्तु में अथवा आकार रहित वस्तु में किसी देवता की स्थापना करना असद्भाव स्थापना पूजा है। जैसे - गोल या चौकोर पत्थर में भगवान् महावीर की स्थापना करना अथवा चावल,

¹ वसु. श्रा. गा. 382, गुण. श्रा. श्लोक 212

² वसु. श्रा. गा. 382, गुण. श्रा. श्लोक 213

³ वसु. श्रा. 383-384, गुण. श्रा. 214-215

कमलगट्टा श्रीफल आदि में किसी देवता की स्थापना करके पूजन करना असद्भाव स्थापना पूजा है।

सद्भाव स्थापना तो स्पष्ट ही है, किन्तु असद्भाव स्थापना के सन्दर्भ में थोड़ा और समझ लेना आवश्यक है। प्रायः जितने भी प्राचीन पूजन-विधान के सन्दर्भ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें सद्भाव स्थापना पर ही जोर दिया गया है, किन्तु आचार्य सोमदेव ने असद्भाव स्थापना पूजा का भी विशेष वर्णन किया है। यथा - पवित्र पुष्प, पल्लव, फलुक, भूर्जपत्र, सिकता, शिलातल, क्षिति, व्योम या हृदय आदि के मध्य भाग में अर्हन्त को, उसके दक्षिण भाग में गणधर को, पश्चिम भाग में जिनवाणी को, उत्तर भाग में साधु को और पूर्वभाग में रत्नत्रय रूप धर्म को समय अर्थात् शास्त्र के ज्ञाता लोग हमेशा स्थापित करें।¹

वर्तमान में यह असद्भाव स्थापना की पूजा पद्धति समाप्त प्राय है। विद्वज्जनों को प्रचलित सद्भाव स्थापना पूजन ही करनी चाहिए। आचार्य वसुनन्दि महाराज असद्भाव स्थापना का स्पष्ट निषेध करते हुए कहते हैं कि - हुण्डावसर्पिणी काल में दूसरी असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कुलिंग मतियों से मोहित इस लोक में सन्देह हो सकता है।²

आचार्य वसुनन्दि महाराज ने कुलिंगियों से मोहित इस लोक में काल दोष के कारण असद्भाव स्थापना का निषेध किया है। आकार रहित अक्षत, कमलगट्टा आदि में देवता की स्थापना नहीं करनी चाहिये। अगर अरिहन्त मतानुयायी भी जिस किसी वस्तु में भी अपने इष्ट देवता की स्थापना कर उसकी पूजा करने लगेंगे, तो फिर साधारण लोगों से विवेकी लोगों में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा और सर्वसाधारण जनमानस में अनेक प्रकार के सन्देह भी उत्पन्न होंगे। चूँकि आचार्य वसुनन्दि के पूर्ववर्ती आचार्य सोमदेव ने असद्भाव स्थापना की पुष्टि की है, किन्तु आचार्य वसुनन्दि के तर्क ध्यान में रखकर असद्भाव स्थापना का निषेध स्वीकार करने योग्य है। यह बात भी विचार करने योग्य है

¹ यशस्तिलक चम्पू आशवास 8/383-384

² वसु. श्रा. गा. 385

कि हुण्डावसर्पिणी से केवल पंचमकाल ग्रहण करना है या अन्य काल भी, क्या चौथे काल में भी अतदाकार स्थापना नहीं होती थी?

यहाँ असद्भाव स्थापना के अन्तर्गत अक्षत, पुष्प, कौड़ी आदि में 'यह जिनेन्द्र भगवान् हैं' ऐसी कल्पना स्थापना का निषेध किया है। कृत्रिम सिंहासन पर अथवा पाण्डुकशिला पर तदाकार मूर्ति की स्थापना का निषेध नहीं किया है। पूजन करते समय जो आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण होता है उसमें स्थापन का आशय यह है कि जिनेन्द्र भगवान् की मन में स्थापना पूर्वक पुष्प क्षेपण करना। उन पुष्पों में जिनेन्द्र की स्थापना नहीं की जाती है। इस स्थापना में तदाकार मूर्ति में उसी के गुणों की स्थापना की जाती है अथवा उसे हृदय में स्थापना पूर्वक पुष्पों का क्षेपण किया जाता है।

अब आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि सद्भाव स्थापना पूजा में पाँच अधिकार जानना चाहिये जो इस प्रकार है - कारापरक, इन्द्र, प्रतिमा, प्रतिष्ठाविधि और प्रतिष्ठाफल।¹

कारापरक - प्रतिमा को बनाकर उसकी प्रत्येक स्थिति में सुरक्षा कर लाने एवं प्रतिष्ठा करवाने वाला जो है वह कारापरक अथवा यजमान भी कहलाता है। वह भाग्यवान वात्सल्य, प्रभावना, क्षमा, सत्य और मार्दवगुण से संयुक्त, जिनेन्द्रदेव, शास्त्र और गुरु की भक्ति करने वाला प्रतिष्ठाशास्त्र में कारापरक कहा गया है।²

इन्द्र - जो देश, कुल और जाति में शुद्ध हो, निरूपम अंग का धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रतिष्ठा लक्षण विधि का जानकार हो, श्रावक के गुणों से युक्त हो, श्रावकाचार में स्थिर बुद्धि हो, इसप्रकार के गुणवाला व्यक्ति जिनशासन में अर्थात् जैनशास्त्रों में प्रतिष्ठाचार्य अथवा इन्द्र कहा गया है।³ शास्त्रज्ञानरहित, विवाद एवं प्रलाप करने वाला, अत्यन्त लोभी, अशान्तस्वभाव वाला, परम्पराहीन, अर्थ को नहीं जानने वाला कभी भी प्रतिष्ठाचार्य बनने के योग्य नहीं हो सकता।

¹ वसु. श्रा. गा. 386

² वही गा. 387

³ वही गा. 388-389

प्रतिमा - मणि, स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल और पाषाण आदि से प्रतिमा की लक्षण विधिपूर्वक अरिहन्त, सिद्ध आदि की प्रतिमा बनवाना चाहिये।¹ जिनबिम्ब जिनेन्द्र भगवान् की अनुकृति का निर्माण है, इसमें बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। प्रथमतः धातु या पाषाण का चुनाव किया जाता है तथा सामर्थ्यानुसार सोना, चाँदी, माणिक्य, मूँगा, पत्रा आदि धातुओं-पाषाणों से जिन प्रतिमाओं का निर्माण कराया जाता है। यदि प्रतिमा तैयार मिले तो उसमें निम्न लक्षण देखना चाहिये - सांगोपांग, सुन्दर, मनोहर, कायोत्सर्ग खड्गासन अथवा पद्मासन, दिगम्बर, युवावस्था, शान्तिभावयुक्त, हृदय पर श्रीवैत्स का चिह्नसहित, नखकेशहीन, पाषाण या धातु द्वारा रचित, समचतुरस्र संस्थान, वैराग्यमय प्रतिमा पूज्य होती है।² नासाग्र दृष्टि और क्रूरतादि 12 दोष (रौद्र, कृशांग, संक्षिप्तांग, चिपिटनासा, विरूपक नेत्र, हीनमुख, महोदर, महाअंस, महाकटी, हीनजंघा, शुष्क जंघा) रहित प्रतिमा होना चाहिये।³

प्रतिष्ठा विधि - इस पूजा में उपर्युक्त तीन पूर्तियाँ हो जाने के उपरान्त विधिपूर्वक प्रतिमा की प्रतिष्ठा होना आवश्यक है। इसके लिये पंचकल्याणक महोत्सव एवं गजरथ का आयोजन भी किया जाता है।

प्रतिष्ठा फल - प्रतिष्ठा हो चुकने के बाद जो फल की इच्छा होती है, प्राप्ति होती है और स्वर्ग सुख आदि पूर्वक मोक्ष की सिद्धि होती है वह प्रतिष्ठा का फल है।

द्रव्य पूजा - द्रव्य पूजा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - अर्हदादिकों के उद्देश्य से गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है तथा उठ करके खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना आदि शरीर क्रिया करना, वचनों से अर्हदादि के गुणों का स्तवन करना, यह भी द्रव्य पूजा है।⁴ बाह्य द्रव्यों का आलम्बन लेकर प्रारम्भिक चतुर्थ, पंचमादि गुणस्थानवर्ती श्रावक/पूजक पूज्य पुरुषों अर्थात् अरिहन्तादि की जो भावपूर्वक अर्चन करता है उसे द्रव्यपूजा कहते हैं। आचार्य वसुनन्दि महाराज कहते हैं कि द्रव्य पूजा तीन प्रकार की है - सचित्त, अचित्त और मिश्र अर्थात्

1 वसु. श्रा. गा. 390

2 जयसेन प्रतिष्ठापाठ 151-152

3 आशाधर प्रतिष्ठापाठ पृ. 7

4 भ. आ. वि. 47/159, अ. ग. श्रा. 12/12

सचित्ताचित्त। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदि की यथायोग्य पूजन करना सचित्त पूजा है। तीर्थंकर और गुरु आदि के शरीर की प्रतिकृति की तथा द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज अथवा धातु आदि पर लिपिबद्ध शास्त्र की जो पूजा की जाती है वह अचित्त पूजा कहलाती है। जो दोनों का पूजन किया जाता है वह मिश्र पूजा कहलाती है।¹ यहाँ मिश्र द्रव्य पूजा से यह आशय है कि - जल, गंध आदि द्रव्यों से जो देवशास्त्रगुरु की समुच्चय पूजा की जाती है अथवा समवसरण सहित अरिहंत की पूजा अथवा शास्त्र सहित मुनि की पूजा अथवा साक्षात् विराजमान अरहंतादि के साथ सिद्ध भगवान् या समौधिस्थ साधुओं की पूजा करना अथवा प्रासुक द्रव्य एवं अप्रासुक द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की साक्षात् पूजा अथवा प्रतिमा आदि की पूजा करने को मिश्र द्रव्य पूजा कहते हैं।

इसी विषय में आचार्य लिखते हैं कि - आगम, नो आगमादि के भेद से अनेक प्रकार के द्रव्य निक्षेप को जाकर जैसा मार्ग शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है, उससे द्रव्यपूजा करनी चाहिये।²

क्षेत्रपूजा - जिनेन्द्र भगवान् की जन्मकल्याणकभूमि, तपकल्याणकभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति स्थल, तीर्थचिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियों में जैसे शास्त्रों में वर्णित किया गया विधान से क्षेत्र पूजा जानना चाहिये।³ इन सबको तिलोपपणत्तिकार ने क्षेत्र मंगल कहा है और उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं - पावानगरी, ऊर्जयन्त पर्वत, चम्पापुर आदि हैं तथा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण आकाश प्रदेश के स्थान हैं अर्थात् उन स्थानों से मुक्ति प्राप्त करने वाले जीवों के शरीर की अवगाहना से जितना आकाश प्रदेश रोका गया है उतना स्थान क्षेत्र मंगल है अथवा केवलज्ञान से व्याप्त आकाश क्षेत्रमंगल है अथवा लोकपूरण समुद्घात के द्वारा पूरित जगत्श्रेणी के घनप्रमाण आत्मा के प्रदेशों से व्याप्त समस्त लोक क्षेत्र मंगल है। इस प्रकार समस्त लोक के प्रदेश भी क्षेत्रमंगल हैं।⁴

1 वसु. श्रा. गा. 449-450, गुण. श्रा. 219-221

2 वसु. श्रा. गा. 451

3 वही गा. 452

4 ति. प. 1/22-24

कालपूजा - जिस दिन तीर्थकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक हुए हैं उस दिन जिन भगवान् का अभिषेक करें तथा संगीत नाटकादि के द्वारा जिनगुणगान करते हुए भक्ति करना चाहिये। इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों तथा सोलहकारण व्रत के दिनों में, दशलक्षण व्रत के दिनों में तथा अन्य भी उचित पर्वों में जिन महिमा का मण्डन किया जाना चाहिये वही कालपूजा है। और भी किसी घटना के दिनों में पूजन करना भी कालपूजा है।¹

भावपूजा - भावपूजा के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि - परमभक्ति से युक्त, अठारह दोषों से रहित वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान् के अनन्त चतुष्टयों का, अष्ट प्रातिहार्यों का, जन्म के दस, केवलज्ञान के दस तथा देवकृत चौदह अतिशय आदि 46 मूलगुणों एवं अन्यान्य गुणों का तीनों सन्धिकालों में गुणानुवाद करना भावपूजा है। अथवा पूर्वानुपूर्वी, पश्चातानुपूर्वी और याथातथ्यानुपूर्वी आदि अनेक प्रकार से णमोकार महामंत्र का जाप करना भी भावपूजा है। अथवा जिनेन्द्र भगवान् की स्तोत्रों के माध्यम से भक्ति करने को भी भावपूजा कहा है। अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है उसे भी भावपूजा या भाव अर्चना कहा गया है।²

आचार्य देवसेन स्वामी पुण्य प्राप्ति हेतु गृहस्थ श्रावाकों को भक्तिपूर्वक भगवान् की पूजा की विधि को प्ररूपित करते हुए कहते हैं कि पूजा करने करने वाले गृहस्थ को सर्वप्रथम प्रासुक जल से स्नान करना चाहिये। शुद्ध वस्त्र पहनना चाहिये फिर पूजा करने के लिए मन्दिर को ईर्यापथ शुद्धि से जाना चाहिये, वहाँ जाकर पद्मासन से बैठना चाहिये। पश्चात् पूजा के समस्त उपकरण अपने पास रखना चाहिये और मंत्र पूर्वक मूर्ति स्नान कराना चाहिये और मंत्रपूर्वक आचमन करना चाहिये। पंच परमेष्ठियों का ध्यान करते हुए यह पुरुष मन, वचन, काय तीनों योगों से प्रतिदिन पाप कर्मों का आश्रव करता है, उन समस्त पापकर्मों को वह पुरुष शीघ्र ही नाश कर देता है।

¹ वसु. श्रा. गा. 453-455

² वही गा. 456-458

इस प्रकार से जो देह से भिन्न निज आत्मा को शुद्ध कर चुका है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। अतः ध्यानी पुरुष को अपनी देह को पुण्य कर्म रूपी पूजन में लगाना चाहिये। पश्चात् निज सम्पूर्ण शरीर को करोड़ों चन्द्रमाओं से व्याप्त आकाश की ओर उठाकर पंच परमेष्ठी मंत्र से सकलीकरण करना चाहिये। शरीर के अंग बायें हाथ की अंगुलियों से शिर, मुख, वक्षस्थल नाभिप्रदेश एवं पैरों पर अक्षत छिड़कना चाहिये। निज शरीर को इन्द्र की कल्पना करके कंकण, मुकुट, मुद्रिका और यज्ञोपवीत पहनना चाहिये।

इसके पश्चात् पूजा हेतु स्थापन किये हुये सिंहासन में ही मेरु पर्वत की कल्पना करके उस सिंहासन पर जिनप्रतिमा को स्थापित कर रखकर मनसभावों से अर्हन्त भगवान् को प्रत्यक्ष में होना मानना चाहिये। इसके बाद सिंहासन के चारों तरफ के कोनों पर चार कलश पानी, घी, दूध, दही से भरे हुए स्थापित करना चाहिए। इन कलशों के ऊपर नवीन सौ दल वाले कमल रखना चाहिये।

इसके बाद दशों दिशाओं में इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्य, वरुण, पवन, कुबेर, ईशान, धरणेन्द्र और चन्द्र इन 10 दिक्पालों को उनके वाहन एवं शास्त्रों के साथ स्थापित कर पूजा द्रव्य का होम, नैवेद्य, यज्ञभाग तथा वीजाक्षर सहित मंत्रों से नैवेद्य देना चाहिये।

इसके बाद ही देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् के शिर पर से जल, घी, दूध, दही आदि पदार्थों से मंत्रोच्चार करते हुये अभिषेक करना चाहिये। जिनप्रतिमा का अभिषेक करने के पश्चात् निर्मल गन्धोदक की वंदना कर कश्मीरी केशर और चंदन आदि से जिनप्रतिमा का उबटन करें।

इसके पश्चात् पूजा-द्रव्य की थाली में गुरु द्वारा बताये अनुसार मंत्रोच्चार पूर्वक सिद्धचक्र बनाना चाहिये। सिद्धचक्र (सार्थिया) बनाने हेतु सोलह दल का कमल बनाना चाहिये। इसके मध्य में कर्णिका पर बिन्दु एवं कला सहित हीं लिखना चाहिये फिर उसको ब्रह्मस्वरो से वेष्टित करना चाहिये। उसके चारों ओर सोलह स्वर लिखना चाहिये फिर उन सबको माया बीज से वेष्टित करना चाहिये। फिर 16 दल का कमल बनाना चाहिये जिसमें कि 8 दल और 8 वर्ग हों। आठों वर्गों में 16 स्वर तथा क, व आदि

अक्षर हों। सिद्धचक्र बनाकर 'अर्हद्भ्यो नमः' लिखना चाहिये। इस सभी को तीन माया रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये। फिर चारों ओर धरा मंडल बना देना चाहिये।

इस प्रकार से संक्षिप्त में सिद्धचक्र का विधान कहा। जो पुरुष गंध, दीप, धूप और फूलों से इस यंत्र की पूजा करता है तथा इसकी जाप करता है, वह पुरुष अपने संचित पाप कर्मों का क्षय करता है। इसके सिवाय सिद्धचक्र का वृहत उद्धार महाउद्धार विधान भी है। जो अन्य शास्त्रों में वर्णित है, परन्तु उसको इस काल में नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी सामग्री प्राप्त नहीं होती।

शांति चक्र यंत्र

गुरु के उपदेश से शांति चक्र यंत्र का उद्धार कर उसकी पूजा करनी चाहिए। जो इस प्रकार है :- बीच में कर्णिका रखकर वलय देकर उसके बाहर आठ दल का कमल बनावे, फिर वलय देकर सोलह दल का कमल बनाये, फिर वलय देकर उसके बाहर चौबीस दल का कमल बनावे और वलय देकर बत्तीस दल का कमल बनावे। उसके मध्य में कर्णिका पर मंत्र सहित अरंहत परमेष्ठी लिखे। चारों दिशाओं में अन्य परमेष्ठियों को लिखे। विदिशाओं में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप लिखे। बाहर आठ दलों में जया आदि आठ देवियों को लिखे। सोलह कमलों में मंत्र सहित सोलह विद्या देवियों को लिखे, चौबीस कमलों में चौबीस यक्षियों को लिखे। बत्तीस कमलों में बत्तीस इन्द्रों को लिखे। इन सबको अपने-अपने मंत्र सहित लिखना चाहिये।

इस प्रकार सात रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये तथा सातों ही रेखाएं वज्र सहित होनी चाहिए। चारों ओर चार द्वार करना चाहिये। बाहर प्रत्येक दिशा में छह-छह यक्षों का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार से शान्ति चक्र यंत्र उद्धार करना चाहिए।

इस प्रकार से यंत्रोद्धार का संक्षिप्त कथन किया गया। शेष विस्तार गुरुओं से जानना चाहिये।

नियमपूर्वक सिद्धचक्र यंत्रों पर अष्ट द्रव्य पूजा करने के पूर्व अत्यन्त शुद्ध सुगंधित द्रव्य से सिद्धचक्र लिखना चाहिये। जो पुरुष प्रतिदिन सिद्धचक्र यंत्रों की पूजा करता है, वह पुरुष अनेक पूर्वजन्मों से बांधे गये समस्त पापकर्मों को नष्ट कर देता है तथा प्रतिदिन होने वाले पापकर्मों को भी नष्ट करता हुआ अत्यधिक पुण्यकर्मों का संचय

करता है। इसके जाप करने या पठन करने मात्र से लोक में अनेक प्रकार की विद्यायें इच्छानुकूल हो जाती हैं तथा अनेक प्रकार के मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

सिद्धचक्र यंत्रों के प्रभाव से तथा सिद्ध मंत्र एवं सिद्ध विद्याओं के प्रभाव से घरों में रहने वाले भूत, पिशाच आदि सभी नष्ट हो जाते हैं और उनका भय दूर हो जाता है, विष दूर हो जाते हैं। सिद्ध किये गये यंत्र मंत्रों का ध्यान करने से वशीकरण, आकर्षण, स्तम्भन, स्नेह, मानसिक शान्ति तथा अनेक प्रकार के रोग और बीमारियों को दूर कर लिया जाता है।

शत्रु उसे मारने में समर्थ नहीं हो पाते। शत्रु भी मैत्रीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। संसार में वह राजा-महाराजाओं द्वारा भी पूजनीय होता है। अधिक क्या कहना सिद्धचक्र यंत्रों के प्रताप से मोक्ष सुख तक प्राप्त होते हैं फिर उससे सांसारिक सुख क्यों प्राप्त नहीं किये जा सकते? अर्थात् अवश्य ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

पंच परमेष्ठी चक्र

जो पुरुष सिद्धचक्र यंत्रों को सिद्ध करने में असमर्थ हो, वह पुरुष संसार में मनवांछित फल प्राप्ति हेतु परम पंच परमेष्ठी चक्र की पूजा अर्चना करे। उसकी विधि बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि- परमेष्ठी चक्र यन्त्र पूजा हेतु यन्त्र को चन्द्रकला बिन्दु से युक्त करें, जिसके ऊपरी शिर एवं रेफ वाले भाग को खाली रखें। ऊपर मात्रायें तथा बीजाक्षर लिखें। बायीं दिशा में नकार, मकार तथा दक्षिण की ओर विसर्ग बिन्दु सहित बाहरी भाग में त्रिगुणी अष्टकमल बनावें। कमलपत्र के बीच में ऊँकार बनाकर शेष पर अर्हत् पर लिखें और मध्य में देवपूजा चक्र बनावें। अथवा अनेक रेखायें खींचकर एक 49 कोठे का यन्त्र बनावें तथा सभी में अति पवित्र अक्षरों को क्रमानुसार लिखकर मध्यभाग में पंच परमेष्ठियों का नाम लिखें और मंत्राक्षरों को लिखें।

ऐसे पंच परमेष्ठी वाचक यंत्रोद्धार पूजन से पापकर्मों का आवरण समूह नष्ट होकर इच्छित फल की प्राप्ति होती है।

मूर्ति पूजा का फल

जिनप्रतिमा की पूजा मन लगाकर एकाग्रचित्त पूर्वक अष्ट द्रव्य से विधि से ही करनी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों की जलधारा से पूजा करने पर समस्त पापकर्म नष्ट हो जाते हैं, सुगन्धित चन्दन से पूजा करने पर स्वर्ग में उत्तम देव शरीर को प्राप्त करता है, अखण्डित अक्षतों से पूजा करने पर नव अक्षय निधियों से सम्पन्न चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है। सुगन्धित पुष्पों से पूजा करने पर कल्पवृक्ष के वनों से सुशोभित स्वर्ग में इन्द्र होता है, शुद्ध विधि से निर्मित उत्तम नैवेद्य से पूजा करने पर उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है, शुद्ध घी अथवा कपूर आदि से प्रज्वलित दीपक से पूजा करने पर सूर्य एवं चन्द्र के समान तेजस्वी शरीर की प्राप्ति होती है, शुद्ध धूप को अग्नि में खेकर जो पूजा करता है उसे तीनों लोकों में श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है और अच्छे फलों से पूजा करने पर मनवांछित फल की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार पूजा के पश्चात् मूलमंत्र की 108 बार जाप देकर आवाहन किये गये देवों का विसर्जन कर पूजा समाप्त करना चाहिए।

भावसहित जिनपूजा का फल

जो पुरुष पूर्व में बताये अनुसार विधिपूर्वक भक्ति भाव से, मन वचन काय से भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करता है। वह पुरुष तीनों लोकों में कष्ट एवं अशान्ति पहुंचाने के कारणभूत ज्ञानावरणादि पापकर्मों का क्षय करके, पूजन से, पुण्यकर्मों का संचय करता है या पुण्य बंध करता है।

निष्कर्ष

अनादिकाल से यह संसारी प्राणी मिथ्यादर्शन और कषाय आदि के वश में होकर पञ्चेन्द्रिय के विषयों में आसक्त होता हुआ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि अनेक दुःखों को निरन्तर भोग रहा है। इस संसार परिभ्रमण से मुक्त होने के लिए जीव को रत्नत्रय रूपी महौषधि का सेवन करना होगा और अपने वास्तविक स्वरूप में लीन होकर आत्मशक्ति से कर्मों का नाश करना होगा। इसमें रत्नत्रय को गर्भित करते हुए तप, को जोड़कर चार आराधनाओं का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी द्वारा सहज रूप से किया गया है। आराधक के गुणों और उसकी पात्रता का भी वर्णन किया है। आराधक का विभिन्न लक्षणों और उपमाओं द्वारा प्ररूपण करते हुए आराधना का फल सल्लेखना बताया है। उपसर्ग और परीषहों के आने पर भी सल्लेखना में अडिग रहने का उपदेश देते हुए उपसर्ग विजेता मुनिराजों की कथाओं का उल्लेख भी किया है।

भारतीय ध्यान परम्परा अतिप्राचीन है। चार्वाक को छोड़कर भारत के प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में ध्यान की सत्ता को स्वीकार किया है। ध्यान में एकाग्रता का होना अत्यावश्यक है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन के ध्यान की अवधारणा में भिन्नता प्रतीत होती है, इसलिए जैनाचार्यों ने ध्यान का स्वरूप अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। ध्यान के भेदों का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने मौलिक किया है। आचार्य ने आर्त और रौद्र ध्यान के पश्चात् भद्र ध्यान जो अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं किया है, का वर्णन किया है। वह वास्तव में अपूर्व है। तत्पश्चात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया है। यहां उनका आशय यह है कि गृहस्थ के धर्म्यध्यान की साधना सहज नहीं है, परन्तु वह आर्त-रौद्र ध्यान से पाप बंध का अर्जन करता है, उसको अपने सदज्ञान और भद्रध्यान से नष्ट करता है। इसके पश्चात् चारों ध्यानों के साथ भद्रध्यान का स्वरूप विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। फिर आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल प्ररूपित किया है। इसमें ही विशेष रूप से एक शून्य ध्यान का वर्णन किया है जो बिल्कुल शुक्ल ध्यान की ही तरह निर्विकल्पक बताया है, जो अन्य किसी आचार्य के द्वारा प्ररूपित नहीं किया गया। जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं है, किसी भी प्रकार का

चिन्तन और धारणा का विकल्प नहीं है वह शून्य ध्यान है। शून्यता और शुद्धभाव में कोई अन्तर नहीं है। यहां शून्य ध्यान से तात्पर्य निर्विकल्पक समाधि है। ध्यानों को गुणस्थानों के अनुरूप ही वर्णित किया है।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान तिर्यच एवं नरक गति का कारण होने से हेय हैं। भद्र ध्यान और धर्म्य ध्यान स्वर्गादि की प्राप्ति एवं परम्परा से मोक्ष का कारण होने से तात्कालिक उपादेय हैं और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण होने से परम उपादेय है, क्योंकि शुक्ल ध्यान, ध्यान की सर्वोच्च कोटि है। ध्येय रूप पंच परमेष्ठियों का वर्णन करते हुए टीकाकार ने आचार्य परमेष्ठी के भिन्न 36 मूलगुणों का वर्णन किया है।

दान के सन्दर्भ में आचार्य ने चार अधिकारों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है - दाता, पात्र, देने योग्य द्रव्य और देने की विधि। आचार्य ने पात्र के दो विशेष भेद किये हैं - वेदमय पात्र और तपोमय पात्र। यहाँ वेद से तात्पर्य सिद्धान्त-शास्त्र है। इसके पश्चात् पात्रदान का फल और महत्त्व, कुपात्रों को दान का फल, नहीं देने योग्य द्रव्य और आहार दान में ही चारों दानों को गर्भित करते हुए अच्छी प्रकार से आहार दान के महत्त्व का वर्णन किया है। अपने द्रव्य को किस प्रकार सदुपयोग में लगाना चाहिये, इसका भी उपदेश दिया।

पुण्यास्रव के मुख्य कारणों में जिनपूजा का विशेष वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी ने पूजा की विधि, पूजा के यन्त्र की विधि, पूजा के फल का विशद रूप से प्ररूपण किया है। इसप्रकार से पूजा की विधि अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं की है।

संक्षेप से श्रावकों के अष्ट मूलगुण और अणुव्रत सहित बारह व्रतों का भी वर्णन किया है। शिक्षाव्रत के भेदों में सल्लेखना को भी ग्रहण किया है।



पञ्चम-अध्याय

आचार्य देवसेन की कृतियों में विभिन्न मतों की समीक्षा

प्रथम परिच्छेद : विभिन्न मतों की उत्पत्ति, कारण और समय

विभिन्न धर्म, दर्शन और सम्प्रदायों का समूह है भारत। इसमें प्रत्येक दर्शन को अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, इसीलिये भारत एक धर्म निरपेक्ष देश है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त भी पृथक्-पृथक् हैं। उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन वे भली-भाँति तर्कपूर्ण तरीके से करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक दर्शन के सिद्धान्तों को कोई अन्य दर्शन भी स्वीकार करे; इसलिये वे भी इनके द्वारा प्रदत्त तर्कों को अपने तर्कों से खण्डित कर देते हैं। इन विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्त एक-दूसरे से खण्डित इसलिये हो जाते हैं, क्योंकि ये एक पक्ष का ही दृढ़ता से पालन एवं कथन करते हैं। इनके कथन में एकान्त पुष्ट होता है, इसलिये इनका कथन अन्य अपेक्षा से खण्डन को प्राप्त हो जाता है। एक अपेक्षा से तो उनका 'ऐसा ही है' होता है। अतः ये सदोष हो जाते हैं।

ऐसे एक पक्षीय समर्थक कई दर्शन आज भी विद्यमान हैं और इन सब दार्शनिकों अथवा मत प्रवर्तकों का मुखिया आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव का महामोही और मिथ्यात्वी पौत्र मरीचि पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।¹ उस मरीचि ने एक विचित्र दर्शन अथवा मत का प्रवर्तन कुछ इस प्रकार से किया कि वही आगामी समय में कुछ सिद्धान्तों के परिवर्तन से आगे चलकर अनेक मतों के रूप में प्रकट हो गये।² ये सारे मत एकान्तवाद को ही पुष्ट करने वाले थे। इनका समर्थन करने वालों की संख्या में समय के अनुसार हानि-वृद्धि होती रही। जो एक ही पक्ष की अपेक्षा कथन करने वाले होने से मिथ्यात्व को संपोषित करते हैं। आचार्य जिनसेन स्वामी के अनुसार भगवान् आदिनाथ का पौत्र मरीचि भी अन्यान्य लोगों के साथ परिव्राजक हो गया। उसने असत् (जिनकी कोई सत्ता नहीं है) सिद्धान्तों के उपदेश से मिथ्यात्व की वृद्धि की। योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र को उसी ने रचा, जिनसे मुग्ध होकर यह सम्पूर्ण लोक सम्यग्ज्ञान से विमुख हो गया।³ पं. नाथूराम जी प्रेमी का ऐसा विचार है कि - आदिपुराण के कुछ श्लोकों से मालूम होता है कि सांख्य और योग का प्रणेता मरीचि है, परन्तु

1 दर्शनसार गा. 3

2 वही गा. 4

3 आदिपुराण 18/61-62

वास्तव में सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल और योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि हैं। दर्शनसार की चौथी गाथा से इसका समाधान इस रूप से हो जाता है कि मारीचि इन शास्त्रों का साक्षात् प्रणेता नहीं है। उसने अपना विचित्र मत चलाया था, उसी में उतार-चढ़ाव होता रहा और फिर वही सांख्य और योग के रूप में एकबार व्यक्त हो गया अर्थात् इनके सिद्धान्तों के बीज मरीचि के मत में विद्यमान थे। सांख्य और योगदर्शनों के प्रणेता लगभग 2500 वर्ष पहले हुए हैं, परन्तु ऋषभदेव को हुए जैनशास्त्रों के अनुसार करोड़ों ही नहीं खरबों से भी अधिक वर्ष बीत चुके हैं। उनके समय में इनको मानना ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं बन सकता। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी मरीचि को सांख्य और योग का प्ररूपक माना गया है।

द्वितीय परिच्छेद : पाँच मिथ्यात्वी मतों का खण्डन

इन मिथ्यात्वी मतों को मुख्य रूप से पाँच भेदों में विभाजित किया गया है-विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व।¹

मिथ्यात्व और उसके भेदों के स्वरूप का वर्णन तृतीय अध्याय में विस्तृत रूप से कर चुके हैं, इसलिये यहाँ करना पुनरुक्ति दोष होगा। यहाँ सिर्फ इन मिथ्यात्वों के उत्पत्ति, दोष, कारण तथा उनके उपायों का वर्णन किया जायेगा। अब विपरीत मत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - बीसवें तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के समय में एक उपाध्याय (पाठक) जिनका नाम क्षीरकदम्ब था, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और उसके प्रमुख तीन शिष्य थे - नारद, राजकुमार वसु जो दुष्ट स्वभावी था और उनका पुत्र पर्वत वक्र बुद्धि था। पर्वत और वसु ने मिलकर नारद को झूठा साबित करके संयम का घात किया और हिंसा को पुष्ट करने वाली यज्ञ में बकरे की बलि को मान्यता प्रदान कर दी। इस कारण से वे और पर्वत की माता भी महाघोर सातवें नरक में जा पड़े।² उन्होंने यज्ञ में अज का अर्थ धान न करके बकरा करके असत्य रूप बलि को प्रतिपादित किया और इस प्रकार विपरीत मिथ्यात्वी होकर नरक में गये।

तीर्थ जल स्नान से आत्मा की शुद्धि, मांस भक्षण से पितर की तृप्ति, पशुवध से स्वर्ग की प्राप्ति और गाय की योनि के स्पर्श से धर्म प्राप्ति आदि में धर्म की विपरीतता किस प्रकार सिद्ध होती है उसको प्ररूपित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं - यदि जल स्नान करने मात्र से ही यह जीव पापों से छूट जाता है तो जल में निवास करने वाले समस्त जलचर जीवों को तो नियम से स्वर्ग की प्राप्ति हो जायेगी। परन्तु यह असंभव है, इसलिये तीर्थों के जल से स्नान करने पर पापों की शुद्धि मानना विपरीत श्रद्धान है। फर्रुखाबाद में देखते हैं कि कितने ही लोग गंगा में स्नान करके

¹ भा. सं. गा. 16, द. सा. गा. 5

² द. सा. गा. 16-17

किनारे बैठकर गोमुखी में माला डालकर जप करते हैं और मछली पकड़ने के लिये काँटा डाल देते हैं। ऐसा करने से निश्चित रूप से वे महापाप का बन्ध ही करते हैं।

विचार करें तो जो पाप कर्म, मन, वचन, काय के योग अथवा चपलता से बाँधे हैं, वे मात्र तीर्थस्थान के जलस्पर्श मात्र करने से कैसे नष्ट हो सकते हैं? आत्मा में लगे कर्म जल के स्पर्श से नहीं छूट सकते हैं। जब उस तीर्थ जल से मलमूत्र, रुधिर, मांस आदि कुधातुओं से परिपूर्ण एवं रजोवीर्य से उत्पन्न हुआ महान् अपवित्र शरीर शुद्ध नहीं होता है फिर सूक्ष्म अमूर्तिक आत्मा में लगे सूक्ष्म कर्म कैसे छूट सकते हैं? अतः न तो आत्मा शुद्ध होती है और न ही घृणित धातुमय शरीर। यह चित्त अन्तरंग में अत्यन्त दुष्ट है, यह तीर्थों के जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता जिस प्रकार मद्य से भरा घड़ा कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता चाहे उसे सौ-सौ बार पवित्र जल से ही क्यों न धोया जाय। इसी सन्दर्भ में गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि - एक ब्राह्मण जो वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता किसी जल रहित प्रदेश में पहुँच गया और वह बिना जल शुद्धि किये ही मरण को प्राप्त हो गया। अब बिना जलशुद्धि के कारण नरक गया तो उसका वेदज्ञान निरर्थक हो जायेगा और यदि वह स्वर्ग जाता है तो जलशुद्धि व्यर्थ हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की शुद्धि जल से कभी नहीं हो सकती।

आगे भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि - हे अर्जुन! यह शुद्ध आत्मा एक नदी है जो संयम रूपी जल से भरी हुई है, सत्यवचन ही इसके प्रवाह हैं, शील पालन करना ही इसके किनारे हैं और दया करना ही इसकी लहरें हैं। अतः ऐसी शुद्ध आत्मा रूपी नदी में ही स्नान करना श्रेष्ठ है अर्थात् ऐसे शुद्ध आत्मा में लीन हो तभी आत्मा पूर्ण शुद्ध हो सकती है।

समाधि अथवा ध्यान को धारण करने से चित्त की शुद्धि, सत्य भाषण से मुख की शुद्धि और ब्रह्मचर्य आदि से शरीर शुद्ध होता है। इस प्रकार ये बिना गंगा स्नान के ही शुद्ध हो जाते हैं। एक विषय विचारणीय है कि जो कामोन्मुख होकर स्त्रियों के वश में होकर सैकड़ों तीर्थों में स्नान करे तो भी वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता है।

शुद्धि को प्राप्त करने का उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार से अग्नि का संयोग होने से सोना शुद्ध होता है उसी प्रकार रत्नत्रय से सहित आत्मा तप

और इन्द्रियों का परम निग्रह करने से ही शुद्ध होता है।' जो मुनि पंच महाव्रतों के साथ गुप्ति, समिति आदि का पालन करते हैं और पूर्णरूप से शीलव्रत का पालन करते हैं। समस्त कषायों को नष्ट कर देते हैं, समस्त जीवमात्र को अभयदान प्रदान करते हैं, ऐसे मुनि बिना किसी तीर्थजलस्नान के सदैव शुद्ध रहते हैं और उत्तरोत्तर कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

अतः तीर्थस्थानों के जल से शुद्धि को मानना सर्वथा विपरीत मिथ्यात्व है। इस प्रकार संक्षेप से तीर्थजलस्नान के दोष बतलाये, अब मांसभक्षण के दोष बतलाते हैं-

आचार्य कहते हैं कि जिनके मत में मांस-भक्षण को धर्म और मांस-भक्षण कराने से पितरों को तृप्ति होती है, ऐसी विपरीत मान्यता वालों को ये समझना चाहिये कि वे लोग नियम से अपने स्वजन और परिजनों को मारकर के खा जाते हैं, क्योंकि ये जीव मरकर चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं और जिन पितरों की तृप्ति के लिये ब्राह्मणों को मांसभक्षण कराया जाता है, संभवतः वे उन्हीं की आगामी पर्याय हो सकती है। यह जीव अपने कर्मों का फल अवश्य प्राप्त करता है और उसी के फलस्वरूप वह हिरण, बकरा, खरगोश, मछली आदि की पर्याय में भी उत्पन्न होता है। इन्हीं को मारकर पितरों की तृप्ति की जाती है। इस प्रकार लोग अपने माता-पिता को स्वर्ग पहुँचाने के लिये उन्हीं की पर्यायों को मारकर ब्राह्मणों को भी खिलाते हैं और स्वयं भी खाते हैं।

जिस प्रकार एक बक नामक व्यक्ति ने अपने ही पिता के श्राद्ध में अपने ही पिता के जीव हिरण को मारकर श्रोत्रियों को खिलाया था और स्वयं भी खाया था।¹ पहली बात यह है कि मांस खाने वाले पुरुष कभी भी दान देने के पात्र नहीं स्वीकार किये जा सकते। दूसरी बात यह है कि मांस का दान देना कभी भी दान नहीं कहला सकता। फिर उत्तम दान तो कदापि नहीं हो सकता। तीसरी बात दूसरे को भोजन कराने से अन्य पुरुष तृप्ति को प्राप्त नहीं हो सकता।² जैसे देवदत्त के भोजन करने से यज्ञदत्त को तृप्ति कभी नहीं हो सकती है, वैसे ही किसी और को मांस खिला देने से स्वर्ग में बैठे पितरों की तृप्ति कैसे संभव है?

¹ भा. सं. गा. 21

² भा. सं. गा. 30

³ वही गा. 31

आगे भी आचार्य कहते हैं कि यदि पितरों को श्राद्ध में खिलाये गये मांस से तृप्ति मिल जाये तो इस संसार में यज्ञ, होम, स्नान, जप-तप और वेदाध्यानादि व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि सभी को तृप्ति श्राद्ध से ही हो जायेगी। जबकि सभी जीव अपने-अपने पुण्य और पाप कर्मों के फल से ही नरनारकादि पर्यायों को प्राप्त होता है।¹ यदि ऐसा माना जाये कि जिन पितरों को पापकर्म के फल से नरक की प्राप्ति हो चुकी है और श्राद्ध में पिण्डदान करने से उनका उद्धार हो सकता है, तो फिर ऐसा भी संभव है कि जो पितर पुण्यकाल से स्वर्ग में गये हैं वे पुत्र द्वारा ब्रह्म हत्या आदि महापाप के प्रभाव से नरक को प्राप्त हो जायेंगे। परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं है।

जो पुण्य करता है वह स्वर्ग जाता है और पाप करता है तो नरक जाता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि पाप करे कोई और फल किसी को मिले अथवा पुण्य कोई करे और स्वर्ग कोई और जाये, क्योंकि ये अटल नियम हैं कि जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है।² यदि ऐसा न माना जाय तो संसार से पुण्य और पाप का लोप हो जायेगा। अतः पितरों के उद्धार के लिये श्राद्ध करना व्यर्थ है। श्राद्ध एवं बलि यज्ञादि में महादोष है। ऐसा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - कोई मत वाले कहते हैं कि विष्णु कण-कण में हैं, समस्त संसार और समस्त जीव विष्णुमय हैं। यदि कोई भी व्यक्ति वृक्ष को काटता है तो मानो वह साक्षात् विष्णु को ही काटता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिनकी मूर्ति बनाकर पूजा जाता है ऐसे उन विष्णु के अवतारों (सुअर, कच्छप, मत्स्य आदि) को पितरों के लिये मारकर खिलाते हैं, यह कैसी विपरीत और आश्चर्यजनक बात है।³

और भी कहते हैं कि यदि अपने ही देव को मारकर उसका मांस खाकर जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर अन्य ऐसे कौन से पाप हैं जिनसे यह जीव नरक जायेगा, क्योंकि ऐसे महापाप से भी यह जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर संसार में नरक जाने योग्य कोई भी महापाप नहीं होगा।

¹ भा. सं. गा. 33

² भा. सं. गा. 37

³ वही गा. 41-42

जो ऐसा मानते हैं उन्हीं के शास्त्रों में लिखा है कि जो पुरुष मांस भक्षण करते हैं वे मरकर नीच कुल में उत्पन्न होते हैं। नीच कर्म करने वाले होते हैं, दरिद्री होते हैं और अल्पायु होते हैं। कहा है-

अल्पायुषो दरिद्राश्च नीचकर्मोपजीविनः।

दुष्कुलेषु प्रसूयन्ते ये नराः मांसभोजिनः॥

और भी कहते हैं कि यदि वेद में वर्णित अर्थ के अनुसार मोटा-ताजा बकरा मारकर खा जाने से यह तो स्वर्ग जाता ही है, वह बकरा भी स्वर्ग में जाता है। यदि ऐसा है तो उनको अपने पुत्र, स्त्री, भाई आदि को मारना चाहिये जिससे वे लोग बिना पुण्य धर्म किये ही स्वर्ग को प्राप्त हो जायेंगे।¹ वह पशु उन लोगों से कोई निवेदन तो नहीं करता कि वे उसको स्वर्ग में पहुँचा देवें बल्कि वह तो तृण-घास आदि खाकर ही सन्तुष्ट रहता है। अतः ऐसा जो कहता है कि मरने वाला और मारने वाला दोनों स्वर्ग जाते हैं, सर्वथा विपरीत कथन है।

इस संसार में रहने वाले समस्त संसारी जीवों के नाभि में ब्रह्मा, कण्ठ में विष्णु, तालु में रुद्र, ललाट पर महेश, नासिका पर अन्य देवता निवास करते हैं, जो ऐसा मानते हैं तो जीवों के मारने में इन देवताओं का भी घात होता है। ये निश्चित है, यदि इन देवों को मारकर स्वर्गादिक की प्राप्ति करना चाहते हैं तो वे सभी हत्यारे पारधी हैं जो लोग वृक्षों की वंदना करके भी प्रसन्न रहते हैं।

हिंसा करने पर कभी धर्म नहीं हो सकता, घर-व्यापार आदि के आरम्भ कार्य करते हुए कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, स्त्रीसमागम करने पर कभी पवित्रता नहीं हो सकती और मांसभक्षण करने पर कभी दया नहीं हो सकती। जो यह कहते हैं कि अन्न और मांस खाने में कोई अन्तर नहीं है तो उनके लिये कहा है कि अन्न अथवा धान्य और मांस ये दो अलग-अलग पदार्थ हैं, इसको आबालवृद्ध सभी जानते हैं, क्योंकि 'मांस लाओ' तो कोई भी अन्न अथवा धान्य नहीं लाता है। इसका कारण यह है कि त्रस जीवों से मांस उत्पन्न होता है और स्थावर वृक्षों पर फल एवं अन्न/धान्य लगते हैं।

¹ भा. सं. गा. 44-45

यहाँ कोई कहता है कि जितने भी धान्य, फल, फूल आदि हैं वे सब जीव के शरीर के ही अंग हैं, इसलिये वे भी मांस रूप हैं। उनका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि वृक्षादि जीव हैं परन्तु उनका मांस नहीं होता, जिस प्रकार त्रस जीवों का होता है, क्योंकि वृक्ष ही जिनका शरीर है वे हैं वनस्पति जीव। अतः वृक्ष में रहने वाले जीव मरकर अन्यत्र चले जाते हैं और शरीर रूप वृक्ष यहीं रह जाता है और मांस में रुधिर आदि सात कुधातुयें होती हैं परन्तु वृक्षों आदि में ऐसा कुछ भी नहीं पाया जाता है। गाय से दूध भी प्राप्त होता है और मांस भी प्राप्त होता है, परन्तु दूध शुद्ध एवं भक्ष्य है और मांस अशुद्ध एवं सर्वथा अभक्ष्य है। दूध प्राप्ति में गाय को कोई भी कष्ट नहीं होता परन्तु, मांस प्राप्ति में उसकी जान चली जाती है। जिस प्रकार विष वृक्ष के पत्ते आयु बढ़ाते हैं और उसकी जड़ मृत्यु का कारण है, उसी प्रकार मांसभक्षण महापाप के बंध का और दुर्गतियों का कारण है और दूध स्वास्थ्य लाभ में सहायक है। इन सब कारणों को समझकर यह कभी नहीं कहना चाहिये कि मांस और धान्य दोनों समान हैं।

अतः मांसभक्षण करना महानिन्द्य और महापाप एवं दुर्गति का कारण है। उसको ऐसा जानकर सदा के लिये त्याग देना चाहिये और पूर्वोक्त विपरीत मान्यताओं का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसमें किसी भी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार संक्षेप से मांसभक्षण के दोष बतलाये हैं।

अब आगे गो योनि वन्दना के दोष बतलाते हैं - जो लोग गाय के मुख को अपवित्र कहकर छोड़ देते हैं और उसकी योनि की वन्दना करते हैं, यह उनका विपरीत श्रद्धान है, इसीको प्रगट अथवा साक्षात् मिथ्यात्व कहते हैं।¹ उनके लिये आचार्य कहते हैं कि यदि आप लोगों ने यही मान लिया है गाय चाहे भिष्ठा भक्षण करती रहे तथापि वह वन्दनीय है, तो फिर उसे कभी भी बाँधना नहीं चाहिये, कभी नहीं मारना चाहिये और कभी दुहना भी नहीं चाहिये, वह गाय वन्दनीय कैसे हो सकती है जो स्वयं पापकर्म के उदय से पशु पर्याय को प्राप्त हुई है, अविवेकी है, घास-फूस-भिष्ठा आदि भक्षण करती है।² जो लोग ऐसा मानते हैं कि गाय प्रत्यक्ष देवता है और वे ही गवोत्सव में उसी गाय को मारकर उसका मांस खा जाते हैं। क्या उस गाय को मारने से समस्त देवों का घात

¹ भा. सं. गा. 49

² वही गा. 51

नहीं होगा? अवश्य ही होगा। गो वध का विषय वर्णन वेदादि शास्त्रों में अनेकों स्थलों में आता है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण अष्टक 3 अध्याय 9, सायण भाष्य में , खदिर गृह्यसूत्र पटल 3 खण्ड 4 आदि में भी गाय का हवन करने का विधान है। एक ओर गाय की योनि की वन्दना करते हैं और दूसरी ओर गाय के मांस को श्रोत्रिय लोग भक्षण करते हैं, यह साक्षात् विपरीतता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रोत्रिय का अर्थ विपरीत कर लिया है। वास्तविक श्रोत्रिय सर्वथा ब्रह्मचारी होता है। मद्य-मांसादि निन्द्य पदार्थों का सेवन कभी नहीं करता और कभी भी जीव हिंसा नहीं करता, परन्तु जो लोभी है, लालची है, ठग है, मद्य-मांस भक्षण का अभिलाषी है और स्त्री सेवन में आसक्त है वही बनावटी श्रोत्रिय है। यज्ञ में पशुवध का विधान करता है, इस प्रकार वह स्वयं नरक जाता है और यजमानों को भी ले जाता है।

इस प्रकार से जो इस विपरीत मिथ्यात्व का पालन करता है वह निश्चित रूप से नरक को प्राप्त करता है वह स्वर्ग तो कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि किसी वजह से वह नरक से निकलता भी है तो उसी तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होकर श्रोत्रियों द्वारा यज्ञ में मारा जाता है।¹ इस प्रकार वेद के कहे अनुसार यह जीव अनेक प्रकार की दुर्गतियों को प्राप्त होता है और फिर बार-बार मरकर नरक में जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य इस विपरीत मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करता है वह स्वर्गादिक के उत्तम स्थान को प्राप्त करता है।

अब एकान्त मिथ्यात्व की उत्पत्ति एवं दोष को बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि - भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में सरयू नदी के तट पर पलाश नामक नगर में पिहितास्रव का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि जो महान् शास्त्रज्ञ था, वह मछलियों के आहार करने से दीक्षा से भ्रष्ट हुआ और उसने रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके एकान्त मत को प्रवर्तित किया।² उसका मानना था कि फल, दूध, दही, चीनी आदि के समान मांस और जल एवं दूध के समान द्रव पदार्थ होने से शराब भी सेवनीय है, त्याज्य नहीं है।³ उनके और भी दोष बताते हुए कहते हैं कि - ये सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। यह

¹ भा. सं. गा. 58-59

² द. सा. गा. 6-7

³ वही गा. 8-9

जीव जैसा कर्मबन्ध करता है वैसे ही कर्मबन्ध के अनुसार ही नरक-स्वर्ग में जाता है। यदि क्षणिक माना जाय तो जो पाप करेगा उसका फल दूसरा भोगेगा, ऐसी अवस्था में कोई भी कैसा भी पाप करेगा, क्योंकि फल तो उसे मिलेगा ही नहीं, और जो पुण्य करेगा तथा फल पाप का पा जायेगा तो संसार की सारी स्थिति अव्यवस्थित हो जायेगी। ऐसी अवस्था में जीव भी क्षणस्थायी ठहरेगा। इस स्थिति में जीव के द्वारा न तो तपश्चरण संभव होगा, न व्रत धारण होगा, न वस्त्र धारण करना संभव होगा, न मस्तक मुंडाना और न ही सात घंटों में भिक्षा माँगना संभव होगा। जब यह जीव दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो वह कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा।'

यदि जीव के ज्ञान को क्षणिक माना जाय तो बचपन में उसने क्या काम किया था, वह भूल जायेगा, घर से निकलकर बाहर गया जीव लौटकर कैसे आ पायेगा? फिर भी सभी लोग अपने घर लौटकर आते हैं। यदि आत्मा की चैतन्य शक्ति भी अनित्य अर्थात् क्षणिक माना जाय तो शरीर में उत्पन्न हुई चिरकाल की व्याधि का स्मरण कैसे कर लेता है और देखने मात्र से ही अपने शत्रु अथवा मित्र को पहचान लेता है, क्योंकि ये कार्य चैतन्य की नित्यता के बिना संभव ही नहीं है।

क्षणिकवादी लोग अपने पात्र में आये हुए भक्ष्य-अभक्ष्य आदि पदार्थों को ग्रहण करने में कोई दोष नहीं मानते हैं। ऐसा करने पर भी वे स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, जबकि यह सर्वथा असंभव है। अगर शराब पीकर एवं मांस-भक्षण करके स्वर्गादि की प्राप्ति करते हैं तो संसार के सभी मद्यपायी और मांस-भक्षी हत्यारे पारधी आदि सब स्वर्ग चले जायेंगे, जबकि यह कदापि संभव नहीं है। अतः यह समझना चाहिये कि इस लोकाकाश में सभी जीवादि द्रव्य पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य हैं, क्योंकि पर्यायें सदा बदलती रहती हैं और द्रव्य सदैव विद्यमान रहता है। जैसे एक बालक धीरे-धीरे बढ़ता है और बड़ा हो जाता है, वह बालक से युवा हो जाता है। बालक पर्याय का नाश और युवा पर्याय का उत्पन्न होना परन्तु उसका जीव बालक में भी था और युवा में भी है। तभी तो कहते हैं 'यह वही

¹ भा. स. गा. 65

² वही गा. 68

बालक है जो छोटा था अब बड़ा हो गया है' अतः कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा अनित्य नहीं हो सकता है।'

इस प्रकार एकान्त मिथ्यात्व को मानता हुआ यह जीव वास्तविक स्वभाव को नहीं जान पाता है। वह अपने अज्ञान से पापबन्ध करके दुर्गति को प्राप्त करता है।

अब आगे वैनयिक मिथ्यात्व की उत्पत्ति एवं दोष को बताते हैं - कोई दुष्ट हो अथवा गुणवान्, जो दोनों में समानरूप से भक्ति करता है और समस्त देवताओं को साष्टांग नमस्कार करता है, वह वैनयिक मिथ्यात्वी कहा जाता है। सभी तीर्थङ्करों के तीर्थों में वैनयिक मिथ्यादृष्टियों का उद्भव होता है जिनमें कोई जटाधारी, कोई मुण्डे, कोई शिखाधारी, कोई नग्न, ऐसे तापसी लोग अज्ञानी, अविवेकी और सद्गुणों से रहित होते हैं।¹ इनकी मान्यता होती है कि सभी की विनय करने से मोक्ष की प्राप्ति आगामी काल में हो ही जायेगी। यदि ऐसा ही है तो उनको गधा, चाण्डाल आदि सबकी विनय करना चाहिये। परन्तु वे लोग ऐसा कभी भी नहीं करते हैं। जो लोग धर्म समझकर इन रागी द्वेषी देवों को नमस्कार भी मिथ्यात्व के कारण ही करते हैं। जो लोग पुत्रोत्पत्ति अथवा आयु बढ़ाने के लिये चण्डी, मुण्डी आदि देवी-देवताओं की विनय करते हैं तो उनके लिये कहा जाता है कि वे देव जब स्वयं अपनी आयु तो बढ़ा नहीं पाते अथवा महापुरुषों (नारायणादि) की रक्षा तो कर नहीं पाते फिर वह अन्य दूसरों की आयु कैसे बढ़ा सकते हैं। कहा भी है-

'जो बेचारे खुद दुःखी वे क्या हरे पर की पीर रे' जीना मरना तो आयु कर्म के अधीन है। इसमें कोई भी कुछ नहीं कर सकता। पुत्रोत्पत्ति भी रतिकर्म में प्रवृत्त हुए स्त्री-पुरुषों के अपने आप होती है। जैसा कि कहा गया है कि महादेव जी तारकासुर के भय से पुत्र उत्पन्न करने के लिये पार्वती के साथ देवताओं के हजार वर्ष तक किसी वन में समागम करते रहे थे। इससे स्पष्ट है कि पुत्रोत्पत्ति में किसी भी देवी-देवता की विनय करना व्यर्थ है और जब तक आयुकर्म शेष है तो कोई भी हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता है। यदि पूजा या वन्दना करने से देवता मनुष्यों की रक्षा करता तो रावण

¹ भा. स. गा. 71

² द. सा. गा. 18-19, भा. सं. गा. 73

के पास कई विद्यायें थीं फिर भी उन्होंने रावण के प्राणों की रक्षा नहीं कर पाई थी। जैसे ही उसका आयुकर्म पूर्ण हुआ और वह अपने द्वारा ही चलाये चक्र से मारा गया।

अतः यह सिद्ध हुआ कि कोई भी देवी-देवता कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, इसलिये जो सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी अरिहन्त देव को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं तो वे देते तो कुछ भी नहीं है परन्तु उनकी भक्ति से महान् पुण्य का बंध होता है और उससे इच्छित पदार्थों की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। इसके अलावा अपनी आत्मा का ध्यान करने से आत्मा निर्मल हो जाती है और उससे वह जीव स्वयं भी अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है। इसलिये सभी रागी देवी-देवताओं की विनय करने का नियम से त्याग करना चाहिये।

अब संशय मिथ्यात्व की उत्पत्ति और उसके दोषों को कहते हैं - आचार्य देवसेन स्वामी श्वेताम्बर मतानुयायियों को संशय मिथ्यात्वी मानते हैं। वि. सं. 136 में सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर जिसका उल्लेख सन् 640 में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया है, में श्वेताम्बर संघ श्रीभद्रबाहुगणि के शिष्य शान्ति नामक आचार्य का शिथिलाचारी और दुष्ट शिष्य 'जिनचन्द्र' ने किया था।¹ उनके मन में यह संशय बना रहता है कि मोक्ष की प्राप्ति निर्ग्रन्थ लिंग (दिगम्बर अवस्था) से अथवा सग्रन्थ लिंग (श्वेताम्बर की अवस्था) से होती है। अतः ये संशय मिथ्यात्वी कहे गये हैं।

एक विशेष तथ्य ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में जिनचन्द्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके अलावा गोम्मटसार के अनुसार 'इन्द्र' नामक मुनि को कहा गया है, परन्तु भद्रबाहु चरित्र के कर्ता इन दोनों को न बतलाकर रामल्य स्थूलभद्रादि को इसका प्रवर्तक बतलाते हैं। पं. नाथूराम प्रेमी जी एवं प्रो. कमलेश कुमार जैन वाराणसी का ऐसा मानना है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी इन तीन केवलियों तक दिगम्बर और श्वेताम्बर में समानता थी। इसके आगे जो श्रुतकेवली हुए हैं उनमें दोनों में मतभेद है। भद्रबाहुस्वामी जो अन्तिम श्रुतकेवली हैं, को दोनों सम्प्रदाय मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम अथवा सूत्रग्रन्थ वीर निर्वाण संवत् 980 (वि. सं. 510) के लगभग वल्लभीपुर में

¹ द. सा. गा. 11-12

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में संगृहीत होकर लिखे गये हैं और जितने दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जो निश्चयपूर्वक साम्प्रदायिक कहे जा सकते हैं, वे प्रायः इस समय से बहुत पहले के नहीं हैं। अतएव यदि यह मान लिया जाय कि विक्रम संवत् 410 के सौ पचास वर्ष पहले ही ये दोनों भेद सुनिश्चित और सुनियमित हुए होंगे तो हमारी समझ में असंगत न होगा।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - श्वेताम्बर मत में स्त्रियों को उसी भव में मोक्षप्राप्ति हो सकती है और केवली कवलाहार करते हैं तथा रोगग्रस्त भी होते हैं। वस्त्र धारण करने वाला मुनि भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है, महावीर भगवान् के गर्भ का संचार हुआ था अर्थात् वे पहले ब्राह्मणी के गर्भ में आये, बाद में क्षत्रियाणी के गर्भ में चले गये, जैन मुद्रा के अतिरिक्त अन्य वेषों से भी मुक्ति संभव है और प्रासुक भोजन सर्वत्र किसी के भी घर में कर लेना चाहिये।¹ ऐसा श्वेताम्बर मानते हैं। इस प्रकार की मान्यता वास्तविक धर्म के विरुद्ध है। अतः आचार्य कहते हैं कि यदि परिग्रह सहित अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो तीर्थङ्कर आदि को अपना राज्य ऐश्वर्य आदि त्यागकर निर्जन वन में जाने की क्या आवश्यकता थी, और जब परिग्रह सहित ही मोक्ष संभव है तो रत्न-निधियाँ आदि छोड़कर अन्य परिग्रह ग्रहण क्यों करते हैं, वही क्यों नहीं रखते हैं?² वे ही तीर्थङ्कर मुनि अवस्था को धारण करके हाथ में पात्र लेकर घर-घर भोजन माँगने के लिये क्यों जाते हैं? क्या प्रत्येक घरों में पंचाशचर्य उत्पन्न होते हैं, इसलिये त्यागकर फिर ग्रहण करना सर्वथा मिथ्यावाद है।

जिसका हृदय संशय मिथ्यात्व के रस से रसिक हो रहा है, उसका यह सब उपर्युक्त कथन सर्वथा गलत है, क्योंकि मोक्ष का मार्ग निर्ग्रन्थ अवस्था ही है। जिसमें वस्त्र दण्ड आदि समस्त बाह्य परिग्रहों का भी त्याग हो जाता है। सग्रन्थ अवस्था मोक्षमार्ग कभी नहीं हो सकती।³

अब आगे स्त्री मुक्ति उसी पर्याय से संभव नहीं है, ये बतलाते हैं। आचार्य कहते हैं कि स्त्रीलिंग कुत्सित लिंग है अर्थात् स्त्री का शरीर अथवा पर्याय निन्द्य है। स्त्री

¹ द. सा. गा. 13-14, भा. सं. गा. 87

² भा. सं. गा. 88-89

³ वही गा. 91

उग्र से उग्र तपश्चरण करती रहे और प्रत्येक महीने के अन्त में उपवास की पारणा करे तथापि स्त्री को उसी पर्याय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण बताते हैं - स्त्रियों में मायाचारी की अधिकता, प्रमाद की प्रचुरता होती है। इसके अलावा प्रत्येक महीने में उनके योनि रजः स्राव होता रहता है, इसलिये उनका चित्त स्थिर नहीं रह पाता और स्थिरता से ध्यान होकर मोक्ष की प्राप्ति होना संभव है। स्त्रियों के शरीर के और भी दोष बताते हुए आचार्य कहते हैं कि स्त्रियों की योनि, नाभि, काँख में सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होकर प्रतिसमय मरते रहते हैं। ये जीव मनुष्य के आकार के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, सूक्ष्म और अपर्याप्तक होते हैं। यही कारण है कि स्त्रियों के सर्वथा हिंसा का त्याग नहीं हो पाता है। अतः स्त्रियाँ मात्र संकल्पी आदि हिंसा की त्यागी होती हैं परन्तु मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना से समस्त जीवों की पूर्ण हिंसा का त्याग उनसे नहीं हो सकता, इसलिये वे पूर्ण संयम को धारण नहीं कर सकती हैं। मोक्षप्राप्ति संयम से ही संभव है और स्त्रियों के दोनों प्रकार का संयम का पालन नहीं हो पाता है, इसलिये स्त्रियाँ अपने योग्य आर्थिका के व्रत धारण कर स्त्रीलिंग छेदकर स्वर्ग में देव हो सकती हैं और वहाँ से आकर मनुष्य पर्याय में पुरुष होकर मुनिव्रत पालन करके मोक्ष की प्राप्ति कर सकती हैं। सीता का जीव अथवा अन्य स्त्रियाँ इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगीं।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि क्या स्त्रियाँ जीव नहीं हैं, उनके उपयोग चेतना नहीं है? स्त्रियों में ऐसा क्या नहीं है जिस कारण वे मोक्ष नहीं जा सकतीं। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - यदि जीव होने से ही मोक्ष होना मानते हो तो सभी जीव जो महापापी हैं वे भी मोक्ष चले जायेंगे और यदि स्त्रियों के चेतना होने से मोक्ष मानते हो तो वेश्या आदि स्त्रियाँ भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगीं, इसलिये ऐसा होना सर्वथा असंभव है। स्त्रियों में प्रकृति के दोष के कारण अभव्यकाल रहता है, क्योंकि स्त्रियों के शरीर में अनेक सम्मूर्च्छन मनुष्य प्रतिसमय उत्पन्न और मरण को प्राप्त होते रहते हैं। अब यह बताते हैं कि कौन मोक्ष जाने के योग्य होता है? बिना उत्तम संहनन के मोक्षप्राप्ति असंभव है और स्त्रियों के वह होता नहीं। स्त्रियों की पर्याय उत्तम नहीं निन्द्य है, स्त्रियाँ निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण नहीं करती एवं जब उनको ऋद्धियाँ ही नहीं

¹ भा. सं. गा. 93-94

² भा. सं. गा. 97-98

होती हैं तो मोक्षप्राप्ति कैसे हो सकती है? अतः मोक्षप्राप्ति उत्तम कुल में उत्पन्न हुए चरमशरीरी महापुरुषों को होती है। वह भी निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर उत्तम ध्यान करने वाले पुरुषों को ही होती है।

अब आगे बतलाते हैं गृहस्थावस्था में घर में रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उत्तम कुल में उत्पन्न होने पर भी गृहस्थी सम्बन्धी व्यापारादि में लीन रहने से आर्त्त-रौद्र ध्यान तो लगे ही रहते हैं और कोई सम्यग्दृष्टि भी हो परन्तु बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहों से सहित और इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है तो मोक्ष की प्राप्ति असंभव है, क्योंकि मोक्षप्राप्ति में निःसंग और निर्विकल्प अवस्था ही साधन है। यदि कोई ऐसा कहे कि सग्रन्थ अवस्था में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थङ्कर आदि महापुरुष समस्त परिग्रहों का त्याग करके एकान्त वन में जाकर तपश्चरण क्यों करते हैं? इससे यह सिद्ध होता है कि सग्रन्थ अवस्था में कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अब आगे केवली भगवान् के कवलाहार का निषेध करते हैं। इसका विशद वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप से यही कहा जाता है कि क्षुधा वेदनीय मोहनीय कर्म के रहते ही भूख उत्पन्न करा सकती है और वे मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण रूप से नाश कर चुके हैं और उनके 18 दोषों का भी नाश हो चुका है, इसलिये केवली भगवान् के कवलाहार कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार संशय मिथ्यात्व का स्वरूप वर्णन किया।

अब आगे अज्ञान मिथ्यात्व का कारण और उसके दोषों का वर्णन करते हैं - भगवान् पार्श्वनाथ के समय में मस्करीपूरण नामक मुनि थे। वे भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में आये थे परन्तु गणधर के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं हो रही थी। जब इन्द्रभूति गौतम आये और दीक्षित हुए तो गणधर के सद्भाव होने से दिव्यध्वनि खिरने लगी, यह सब देखकर मस्करी पूरण बाहर निकल गये और दिव्यध्वनि भी नहीं सुनी। समवसरण के बाहर आकर उसने लोगों से कहा कि देखो मैं ग्यारह अंगों का पाठी हूँ, मैं समवसरण में बैठा रहा तथापि भगवान् की दिव्यध्वनि प्रगट नहीं हुई। जब उनके

¹ भा. सं. ग. 102

शिष्य गौतम आये तो दिव्यध्वनि खिरने लगी। वह गौतम ऋषि जिनशास्त्रों को नहीं जानता, वह तो वेदाभ्यासी है। अतः सिद्ध होता है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से नहीं अज्ञान से होती है। यदि ज्ञान से ही मुक्ति होती है तो ग्यारह अंग के जानकार मेरे होते हुए भी दिव्यध्वनि अवश्य प्रगट होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इस संसार में कोई देव नहीं है। प्रत्येक जीव को अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार मस्करी पूरण ने प्रकट करके अज्ञान मिथ्यात्व को प्रकट किया।¹

इस प्रकार पाँचों मिथ्यात्व के स्वरूप, उत्पत्ति का कारण और कर्ता एवं निराकरण को बताया। अतः इन पाँचों मिथ्यात्वों को बुद्धिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये शुभगति से दूर करते हैं और दुःखों के साथी हैं। इसका साक्षात् उदाहरण यह है कि हम सब आज तक चतुर्गति रूप दुःखों को भोग रहे हैं, इनके त्यागने से ही संसार परिभ्रमण से छुटकारा मिलेगा, अन्यथा नहीं। अनादिकाल से अब तक इन मिथ्यात्वों का साथ हम देख चुके हैं और दुःखों में ही हैं और इनका साथ रहा तो अनन्तकाल तक ऐसी ही अवस्था बनी रहेगी। अतः इनका त्याग करके मनुष्य भव में जिन भगवान के वचनों का पालन करेंगे तो निश्चित ही मुक्ति की प्राप्ति होगी।

¹ भा. सं. गा. 161-164, द. सा. गा. 20-22

तृतीय परिच्छेद : सृष्टि सम्बन्धी समीक्षा

अब आगे मिश्र गुणस्थान के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि के कार्यों का निराकरण करते हैं। मिश्र गुणस्थान का वर्णन तीसरे अध्याय में कर चुके हैं। अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। सबसे पहले ब्रह्मा के कार्यों का निराकरण करते हैं - आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि यदि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न कर सकता है तो फिर वह इन्द्र का स्वर्ग लेने के लिये (हड़पने) अपना लोक छोड़कर मनुष्य लोक में घोर तपस्या क्यों करता है? यह कुछ समझ में नहीं आता है कि जो ब्रह्मा सभी जीवों को उत्पन्न स्वयं करता है, नारकी, मनुष्य, देव, तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) सभी को बनाता है, अनेक कुल, जाति, योनियों को उत्पन्न करता है, सभी को आयु और धन-ऐश्वर्य आदि प्रदान करता है, पर्वत, नदी, सागर, द्वीप, ग्राम, नगर, पृथ्वी, आकाश आदि जड़ पदार्थों को क्षण मात्र में निर्मित कर देते हैं। तो फिर वह स्वर्ग का राज्य लेने के लिये तप क्यों करता है? वह स्वयं अन्य स्वर्ग उत्पन्न क्यों नहीं कर लेता है? वह अपने शरीर को व्यर्थ में क्यों तपाता है? जब तीनों लोकों को बनाता है तो वह अपने लिये एक स्वर्ग क्यों नहीं बना लेता है? यह बड़े आश्चर्य की बात है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा अथवा अन्य कोई इस जगत् का कर्ता नहीं हो सकता है। जबकि यह जगत् स्वयं सिद्ध, अकृत्रिम अनादिकाल से है, इसका कोई कर्ता-विशेष नहीं है।¹

आगे आचार्य देवसेन स्वामी ब्रह्मा की चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं - ब्रह्मा को तप करते देखकर चिन्तित इन्द्र ने तप भंग करने के लिये तिलोत्तमा नामक अप्सरा को भेजा। ब्रह्मा अप्सरा के प्रति आसक्त होकर उसका नृत्य देखने लगा। अप्सरा ने उसके चारों ओर नृत्य किया और ब्रह्मा ने अपने चारों तरफ मुख बना लिये और जब वह ऊपर नृत्य करने लगी तो उसने ऊपर भी एक सिर बना लिया,² और उसके पीछे-पीछे चलने लगा। यह देखकर सभी देव हँसे तो वह उनको गधे वाले मुख से भक्षण करने को उद्यत हुआ। सभी देव महादेव (शंकर) की शरण में गये। महादेव ने उस गधे वाले मुख को काट डाला तो वह कामवासना से संतप्त होकर निर्जन

¹ भा. सं. गा. 204-209

² वही गा. 210

वन में चला गया। वहाँ रीछनी को तिलोत्तमा समझ उससे कामभोग करने लगा, तब उससे राम का सेवक जम्बू नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसा कुत्सित आचरण करने वाला ब्रह्मा देव कैसे हो सकता है? जो स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता वह तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाला कैसे हो सकता है?' क्या वह अपने लिये एक स्त्री पैदा नहीं कर सकता था? निराकरण करते हुए आचार्य और भी कहते हैं कि इस संसार में जब कुछ भी (पृथ्वी, आकाश आदि) नहीं था तो ब्रह्मा ने कहाँ बैठकर इन सबकी रचना की। कर्ता दो प्रकार के होते हैं - एक यथार्थ कर्ता और दूसरा वैक्रियिक। घट, पट, घर आदि बनाना यथार्थ कर्तापन है और जो देवों द्वारा निर्मित होता है वह वैक्रियिक कहलाता है। यदि ब्रह्मा यथार्थ रूप से तीनों लोकों को बनाता है तो ईंट, चूना आदि पदार्थ कहाँ थे, क्योंकि उससे पहले तो ये थे ही नहीं। बिना सामग्री के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। दूसरा यदि लोक को अपनी विक्रिया से बनाया है तो ये पदार्थ अधिक समय तक ठहर नहीं पाते, क्योंकि वैक्रियिक पदार्थ अनित्य और अवस्तु भूत होते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा सामान्य पुरुष के समान बिना सामग्री के इस लोक की रचना करने में असमर्थ है।¹ जो एक अप्सरा के प्रति आसक्त होकर तप छोड़ सकता है, तो वह पूज्य परम देव कैसे हो सकता है?

अतः जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है वही परमब्रह्मा अथवा परमात्मा हो सकता है।

अब आगे कृष्ण (विष्णु) के विषय को प्रतिपादित करते हैं और उनके द्वारा संसार की रक्षा होने का निराकरण करते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि - यदि विष्णु सूकर का रूप धारण करके अपनी दाढ़ पर सम्पूर्ण लोक को उठा लेते हैं तो वह कहाँ पर ठहरे होते हैं। यदि कोई यह कहे कि वे कछुआ की पीठ पर स्थित रहते हैं तो फिर यह प्रश्न उठता है कि वह कछुआ कहाँ स्थित है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक को तो विष्णु उठाये हुए हैं।² और भी बताते हैं - विष्णु राम के अवतार में जब वन में थे तो रावण अपनी मायाचारी से उनकी पत्नी सीता का हरण करके ले गया। विष्णु जगत्

¹ भा. सं. गा. 212-216

² वही गा. 219-220

³ वही गा. 224

पालक होते हुए भी अपनी पत्नी की रक्षा न कर सके। सीता के विरह में गिरते, पड़ते, रोते थे और वन में पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों से सीता के विषय में पूछते रहते थे। लंका तक पहुँचने के लिये समुद्र सेतु बनाया। रावण से साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से काम लिया और क्रोध के वश से विभीषण के बताने पर रावण को मार पाये।¹ क्या रावण तीन लोक के बाहर लेकर गया था जो सीता को ढूँढ़ नहीं पा रहे थे। परम शक्तिशाली होते हुए भी रावण को सहजता से नहीं मार सके। अतः जो अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सका वह लोक की रक्षा क्या करेगा? जब महादेव ने सबके समक्ष तीनों लोकों को जला दिया था तब भी विष्णु जगत् की रक्षा करने में समर्थ नहीं दिखे। कृष्ण के अवतार में ईश्वर होते हुए भी जनसामान्य के सदृश युद्ध में अर्जुन के सारथि बनकर कूटनीति से पाण्डवों को जिता दिया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विष्णु न तो तीनों लोकों के कर्ता हैं और न ही पालनकर्ता। वे तो सिर्फ अलग-अलग अवतार धारण करके मरते हैं। यदि कोई यह कहे कि विष्णु शरीर रहित, सर्वदोषों से रहित और सिद्ध हैं एवं स्वेच्छा से मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं तो उसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे घी कभी मक्खन, मक्खन कभी दूध, रंधे हुए अन्न में अंकुर नहीं हो सकते उसी प्रकार एकबार सिद्धत्व को प्राप्त करने वाला कभी भी संसार में नहीं आता है।² यदि वे शरीर रहित कर्ममल रहित हैं तो किस कारण से संसार में दुःखों को सहने के लिये आते हैं, क्योंकि एकबार सच्चा सुख प्राप्त कर लेने के पश्चात् कोई भी दुःख प्राप्त करना नहीं चाहता। यदि सदा सुखी ईश्वर होते हुए भी उनको संसार की चिन्ता रहती है तो वह निश्चित रूप से संसारी ही हैं, वह भगवान् नहीं हो सकते हैं।

अतः उपर्युक्त कथन से यह समझना चाहिये कि जो 18 दोषों से रहित है, अनन्त ज्ञानी है और कर्ममल रहित वीतराग है वही परमात्मा हो सकता है। इन गुणों से रहित कोई भी परमात्मा नहीं हो सकता।

¹ भा. सं. गा. 226-227

² भा. सं. गा. 235-236

अब आगे महादेव (शंकर) के कार्यों और चारित्रिक विशेषताओं को बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी उनका निराकरण भी करते हैं। वे कहते हैं - यह कहा जाता है कि महादेव सभी जीवों सहित इस संसार को पलभर में नाश कर डालते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि संसार नष्ट हो जाने पर वे स्वयं कहाँ ठहरे रहते हैं? समस्त संसार तो अन्धकारमय हो जाता होगा।' और दूसरी बात कहते हैं कि - कोई व्यक्ति एक छोटे से गाँव को जला देता है तो उसे महापापी कहा जाता है। यदि कोई गाय अथवा ब्राह्मण को मार देता है तो उसे ब्रह्महत्या करने वाला महापापी माना जाता है, फिर असंख्यात जीवों सहित सम्पूर्ण लोक का संहार कर डालने वाले महादेव तो महापापियों से बढ़कर महापापी होना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि महादेव तो सबसे बड़े देव हैं इसलिये सम्पूर्ण लोक का नाश कर देने पर भी उनको पाप नहीं लगता है तो फिर यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि जब उन्होंने ब्रह्मा के मस्तक का गधे वाला मुख काटा था तो उनको ब्रह्महत्या का पाप क्यों लग गया था? उस ब्रह्महत्या के पाप का निवारण करने के लिये अपने गले में हड्डियों की माला, मुंडमाला धारण की एवं शरीर को धूलमय कर लिया था और मनुष्य के कपाल में भोजन करता हुआ सभी तीर्थों में भ्रमण करने लगा था। भ्रमण करते हुए महादेव पलाश नामक गाँव में एक बैल के पास पहुँचे जहाँ वह बैल भी अपने स्वामी एक ब्राह्मण की सींगों से हत्या करने के कारण ब्रह्महत्या का पापी था। महादेव ने उस बैल के पीछे-पीछे जाकर बनारस में गंगा के जल में प्रवेश किया तब दोनों ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो पाये जो कपाल हाथ में चिपक गया था वह भी गंगा के जल में गिर गई।

अतः जो महादेव ब्रह्महत्या के पाप को दूर करने के लिये बैल को गुरु बनाते हैं? वे अन्य संसारी जीवों के पूर्व संचित पाप कर्मों को कैसे दूर कर सकते हैं। अर्थात् वे कभी भी दूर नहीं कर सकते हैं। जो अपने ही दुःखों को दूर करने में समर्थ नहीं है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है? अतः जो एक सामान्य संसारी की तरह है, अपनी पत्नी को साथ रखता है, अर्द्धनग्न होकर पर्वतों में निवास करता हो, वह इस संसार का नाश कैसे कर सकता है?

इस प्रकार इन तीनों देवों की मिथ्या अवधारणा निश्चित रूप से संसारी जीवों को भ्रमित करने वाली है और उनमें अंधविश्वास एवं अकर्मण्यता की वृद्धि करती है। अतः अपना हित चाहने वाले को सच्चे वीतरागी देव, सच्चे शास्त्र और निर्लोभी निष्परिग्रही, जितेन्द्रिय गुरु की शरण में जाकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

चतुर्थ परिच्छेद : चार्वाक मत की समीक्षा

चार्वाक के अन्य नाम जड़वाद अथवा लोकायत भी प्रचलित हैं। इनके अनुसार मन तथा चैतन्य की उत्पत्ति पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों से होती है। यह मत मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार करता है। इसीलिये चार्वाक मत वाले कहते हैं कि जब कोई जीव होता ही नहीं है तो फिर किसको पुण्य लगता है और किसको पाप लगता है? कौन स्वर्ग जाता है और कौन नरक जाता है? वे कहते हैं कि जिस प्रकार किसी पात्र में गुड़ और धाय के फूल मिलाकर रख देने से उसमें मद्य की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि भूतों के परस्पर मिल जाने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।¹ इस प्रकार इन पञ्चभूतों से मिलकर चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है और मर जाने से पञ्चभूतों का अपने-अपने रूप में पहुँचने से चैतन्य शक्ति सहित जीव की सत्ता भी समाप्त हो जाती है। शरीर पञ्चभूतमय है शरीर के कार्य भी पञ्चभूत रूप हैं और शरीर के गुण सभी पञ्चभूत रूप हैं। वास्तव में चैतन्य शक्ति अथवा जीव पदार्थ कोई अलग-अलग नहीं है। इस प्रकार जीव का अभाव सिद्ध होता है। जब कोई जीव, स्वर्ग, नरक, पुण्य और पाप आदि का सद्भाव ही नहीं तो फिर खाओ, पीओ और मौज करो, क्योंकि मरने से मुक्ति ही मिल जाती है। चार्वाक परम्परा में कहते हैं-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

परन्तु इनका यह कहना बिल्कुल असंगत है, क्योंकि एक भट्टी पर हाण्डी रखकर उसमें पानी और पत्थर रखकर पकाने से कोई भी चैतन्य शक्ति समन्वित जीव उत्पन्न नहीं होता; जबकि वहाँ पाँचों भूत एक साथ होते हैं। अतः उनका यह कथन सर्वथा गलत है कि पञ्चभूतों के मिलने से जीव की उत्पत्ति होती है। पञ्चभूत अचेतन हैं, वे जीव की उत्पत्ति में उपादान कारण नहीं हो सकते।

गोबर में बीछू उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु गोबर उन जीवों का उपादान कारण नहीं है, वह तो मात्र शरीर का कारण हो सकता है। यह शरीर भी तभी तक काम करता है

¹ भा. सं. गा. 172-173

जब तक इसमें आत्मा होता है। वह हँसता, बोलता, देखता, सुनता, सूँघता आदि है और जीव के निकल जाने से शरीर निष्क्रिय हो जाता है। मैं सुखी, दुःखी आदि भी जीव के रहने पर ही अनुभूत होता है। जातिस्मरण से पहले मैं क्या था आदि बातें प्रत्यक्ष देखी गई हैं। सभी जीवों का आकारादि अलग-अलग होना भी एक कारण है जिससे उन जीवों के पूर्व पर्यायों में उनकी सत्ता सिद्ध करता है।

ये प्रत्यक्ष प्रमाण मानने से ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते और अनुमान प्रमाण को चार्वाक स्वीकार नहीं करते। इन्द्रियज्ञान ही एक मात्र यथार्थ ज्ञान है अर्थात् जो इन्द्रियों के ज्ञान में आ रहा है वही सही है उसके अलावा सब कुछ भ्रम है। ये चार्वाक व्याप्ति, कार्यकारण सम्बन्ध, शब्द और वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। चार्वाक चार (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) भूतों को ही स्वीकार करते हैं, आकाश को अनुमान से सिद्ध होने के कारण स्वीकार नहीं करते हैं।

चैतन्य को ये शरीर का एक विशिष्ट गुण मानते हैं जो शरीर के साथ उत्पन्न और शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है। अतः ये चार्वाक मत वाले सिर्फ सुख को ही अपना लक्ष्य मानकर अर्थ और काम पुरुषार्थ में ही संलग्न रहते हैं। इस प्रकार ये ऐसी मिथ्या धारणाओं को अपनाकर धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को नहीं मानते, क्योंकि जीवन को नष्ट होना ही मोक्ष मानते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि यह शरीर तब तक ही गमनागमन करता है जब तक इसमें आत्मा रहता है, क्योंकि मृत शरीर न तो देखता है, न सुनता है, न चलता है, न सोता है। अतः इस मिथ्या धारणा का शीघ्र ही परिहार करके चार्वाक रूप मिथ्यामत का विश्वास नहीं करना चाहिये।

पञ्चम परिच्छेद : सांख्यमत की समीक्षा

सांख्य दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल हैं। सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है क्योंकि इसकी झलक श्रुति, स्मृति और पुराण आदि सभी प्राचीन कृतियों में दिखाई पड़ती है। सांख्य नाम की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है। इसके प्ररूपण में सामान्य रूप से दो मत प्रस्तुत होते हैं। उनमें एक यह है कि इसमें तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है। भागवत् (3/35) में इसको 'तत्त्व संख्यान' अथवा तत्त्व-गणन कहा गया है। दूसरा यह है कि संख्या का अर्थ सम्यग्ज्ञान है और इसी कारण से यह सांख्य कहलाता है। गीता में भी यही अर्थ किया गया है। इसका मूल ग्रन्थ महर्षि कपिल द्वारा रचित 'तत्त्व समाज' है। ग्रह ग्रन्थ अत्यधिक संक्षिप्त और सारगर्भित है। अतः सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों और मर्म को विस्तृत रूप से समझाने के लिये उन्होंने 'सांख्य सूत्र' नामक विशद ग्रन्थ की रचना की, इसलिये यह दर्शन सांख्य प्रवचन नाम से भी जाना जाता है। ये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। योगदर्शन सांख्य के ही समान है, परन्तु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के कारण 'शेश्वर सांख्य' कहलाता है।

सांख्यदर्शन मुख्य रूप से दो पदार्थ मानता है एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुष जीव को कहते हैं और ये इसको क्रिया रहित स्वीकार करते हैं अर्थात् जीव को कर्ता एवं भोक्ता नहीं मानते हैं। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि उत्पन्न होती है। इसमें प्रकृति को अन्ध और पुरुष को पंगु की उपमा दी गई है।¹ सृष्टि के पहले तीनों गुण (सत्त्व, रज और तम) साम्य अवस्था में थे। फिर पुरुष और प्रकृति के संयोग से गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, गुणों में क्षोभ होने पर रज गुण में प्रवृत्ति निमित्तक चञ्चलता उत्पन्न होती है। इससे प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् का ही अपर नाम बुद्धि है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। सात्त्विक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन ऐसे 11 गण उत्पन्न होते हैं। तामस और अहंकार

¹ प्रवचन भाष्य की भूमिका से उद्धृत

² पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। -

पद्म-वन्धवदुभयारेपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ सांख्यकारिका 2।

से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। इन पाँचों तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।¹

सांख्य मत का ऐसा मानना है कि पुरुष और प्रकृति का संयोग होता ही है मुक्ति के लिये। जब तक विकृत नहीं होंगे तो शुद्ध कैसे होंगे? पुरुष का प्रकृति से संयोग अविवेक के कारण होता है और बन्धन भी। विवेक से दुःख की निवृत्ति होती है। कहते हैं - 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः' अर्थात् दोनों का अथवा एक का उदासीन हो जाना ही अपवर्ग अर्थात् मोक्ष कहा गया है। पुरुष का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि - यह तीनों गुणों से रहित, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन, अप्रसवधर्मी, अविकारी, कूटस्थ, नित्य और सर्वव्यापक है। वह कैवल्य सम्पन्न, मध्यस्थ, दृष्टा, अकर्ता और इस जगत् का साक्षी बताया गया है।

जैनदर्शन में जीव अर्थात् आत्मा ज्ञाता, दृष्टा और चेतनसहित स्वीकार किया गया है। यह प्रारम्भ से ही कर्मों के संयोग से अशुद्ध है और तप-ध्यान आदि के द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा आचारपरक अधिक विवेचन किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय सांख्य के सिद्धान्तों से सभी लोग भली-भाँति परिचित थे। अतः आचार्य ने अधिक व्याख्यान करना उचित नहीं समझा। टीकाकार ने भी कोई विशेष विवेचन नहीं किया है, इसलिये कुछ श्लोक मैंने इसमें उद्धृत किये हैं।

सांख्य मत में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।² शब्द अर्थात् आप्तवचन कहा गया है। परन्तु त्रिचारणीय तथ्य यह है कि ये शब्दों को तो प्रमाण मानते हैं परन्तु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ईश्वर के प्रमाण का अभाव होने से असिद्ध होते हैं। ये आप्त को ईश्वर से भिन्न स्वीकार करते हैं।

¹ सांख्यकारिका श्लो. 22

² प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु॥ सां. का. 5

जैनदर्शन दो प्रमाण स्वीकार करता है प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन दोनों में ही सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। एक विषय दोनों में समान है - प्रत्येक जीव की भिन्न सत्ता।

आचार्य देवसेन स्वामी ने सांख्य को आचार की दृष्टि से बताते हुए लिखा है कि ये लोग सदैव विषयों में आसक्त रहते हैं, काम सेवन के लिये उन्मत्त रहते हैं, दयारहित, दुराचारी होते हैं। उनका विचार है कि कौसी भी स्त्री हो उसके प्रणय निवेदन को स्वीकार करके भोग करना चाहिये चाहे वह माता, बहिन अथवा पुत्री ही क्यों न हो। उसको व्यास के वचनों को प्रगट करके दिखाना चाहिये। जिस प्रकार वेदपाठी ब्राह्मण ने कामासक्त होकर ब्राह्मणी, भंगिन, नटिनी, धोबिन, चमारिन, कजिरिन आदि सबके साथ रमण किया था।¹ और भी कहते हैं कि ऐसे कामासक्त गुरुओं की सेवा करने वाले निश्चित रूप से महद्दुःखों को भोगते हैं। ये गुरु पत्थर की नाव की तरह हैं जो स्वयं तो डूबेंगे ही, जो इसमें सवारी करेगा वह भी निश्चित ही डूबेगा। अतः निर्ग्रन्थ परम दिगम्बर मुनियों की सेवा करने से निश्चित ही स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तर्गत चार्वाक और सांख्य मतों का प्ररूपण करके सामान्य रूप से निराकरण आचार्य देवसेन स्वामी के द्वारा किया गया।

¹ भा. सं. गा. 180, 182

निष्कर्ष

भारत धर्मनिरपेक्ष देश होने के कारण विभिन्न धर्म, दर्शन और सम्प्रदायों का समूह है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। समस्त दार्शनिकों अथवा मत प्रवर्तकों का मुखिया आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव का महामोही और मिथ्यात्वी पौत्र मरीचि पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उसने ऐसे विचित्र दर्शन का प्रवर्तन किया कि जिससे कुछ सिद्धान्तों के परिवर्तन से अनेक मतों का प्रवर्तन हो गया। आचार्य देवसेन स्वामी के अनुसार मरीचि सभी मतों का साक्षात् प्रणेता नहीं है, उन मतों में कुछ उत्तरे-चढ़ाव होते रहे और विभिन्न मत प्रचलित हो गये। इनमें सिद्धान्तों का बीज मरीचि का ही है और ये सभी एकान्त को पुष्ट करने वाले होने से सदोष कहलाये। अतः जैनाचार्यों ने स्याद्वाद से इन सभी मतों की समीक्षा की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मरीचि सांख्य और योग का प्ररूपक है, जबकि सांख्य के प्रणेता कपिल और योग के प्रणेता पतंजलि हैं, जो ऋषभदेव के तो काफी वर्षों बाद उत्पन्न हुए हैं।

उन एकपक्षी मिथ्यात्वी मतों को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी पांच भेदों में विभक्त किया है। विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान। इन पांचों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके उनकी सम्यक् समीक्षा की है। इन मतों की उत्पत्ति, उत्पत्तिकर्ता, उनका पालन करने का फल और उनकी संक्षेप में समीक्षा अच्छी प्रकार से की है।

इसी संदर्भ में श्राद्धों को पिण्डदान देना, गोमांस भक्षण, गोयोनि वन्दना आदि का तर्कयुक्त समीक्षण करके इनको विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत वर्णित किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने श्वेताम्बर मत को संशय मिथ्यात्वी कहते हुए उनके सग्रन्थ लिंग से मोक्षप्राप्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति को और अन्य मान्यताओं को युक्ति संगत तर्कों द्वारा खण्डन करके समीक्षा की है। मस्करीपूरण को अज्ञान मिथ्यात्वी बताते हुए उसके सिद्धान्तों का भी समीक्षात्मक खण्डन किया है। आचार्य ने विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत तीर्थजल स्नान से आत्मशुद्धि, मांस भक्षण को धर्म और मांस भक्षण कराने से पितरों को तृप्ति तथा गोयोनि वन्दना को वर्णित करके उनमें व्याप्त दोषों का निराकरण करके इन मिथ्यात्वों को दूर करने का उपदेश दिया। इन विपरीत मान्यताओं में आश्चर्य प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इनके मानने वाले भ्रान्तिमय तर्कों को प्रस्तुत करके स्वयमेव पाप का बंध करते हैं और अन्य लोगों को भी भ्रमित करते हैं।

*

षष्ठ-अध्याय

आचार्य देवसेन की कृतियों में अध्यात्मपरक दृष्टि

प्रथम परिच्छेद : स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्व

भारतवर्ष हमेशा से समस्त विश्व का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। इसी कारण से भारत का प्राचीन नाम विश्वगुरु है। विश्व के प्राचीन लिखित ग्रन्थ वेद और उपनिषद में पर्याप्त आध्यात्मिक विषय वर्णित हैं। उन्हीं का सारभूत तथ्य भगवद्गीता में दिया है। कहा भी गया है-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

उसी प्रकार जैनाचार्यों ने भी आध्यात्मिक क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को अत्यन्त दृढ़ता प्रदान की है। जैन अध्यात्मशास्त्र अध्यात्मरूपी वृक्ष के मूल स्तम्भ हैं। जिसके प्रभाव से आज तक अध्यात्म की संतति निरन्तर प्रवहमान है। इस श्रृंखला में सर्वप्रथम नाम अध्यात्म गुरु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का लिया जाता है। आचार्यवर द्वारा प्रतिपादित समयसार आदि ग्रन्थ पाठक को अध्यात्ममय कर देते हैं। पाठक स्वयं को इसके अध्ययनोपरान्त तल्लीन महसूस करता है।

सामान्य रूप से देखा जाय तो अध्यात्मक अधि + आत्म इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ होता है आत्मा के समीप।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के पश्चात् इस कड़ी को अग्रसरित करने में आचार्य समन्तभद्रस्वामी, आचार्य पूज्यपादस्वामी, आचार्य योगिन्दुदेव, आचार्य अकलंक, आचार्य देवसेनस्वामी आदि प्रमुख हैं। उसी प्रवाह को अग्रिम आचार्यों ने आज तक संजोये रखा है। अध्यात्मक के बिना ध्यान आदि की कल्पना अधूरी है। उस ध्यान से ही जैनदर्शन ने मोक्ष की प्राप्ति स्वीकारी है, इसलिये अध्यात्म भी मुक्ति का एक साधन है। चूँकि आचार्य देवसेन स्वामी ने जिनागम के प्रत्येक विषय को स्पर्श किया है, इसलिये वे अध्यात्म से दूर कैसे रह सकते थे। उन्होंने बहुधा अध्यात्मपरक चिन्तन को भी व्यक्त किया है; इसी कारण से उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में भगवान् महावीर को मंगलाचरण में नमस्कार किया है, परन्तु उन्होंने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ 'तत्त्वसार' में सिद्ध परमात्मा को ही नमस्कार किया है। वह इस प्रकार है-

ज्ञानगिगदडकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसम्भावे।

णमिऊण परमसिद्धे सुतच्चसारं पवोच्छामि॥

अर्थात् आत्मध्यान रूपी अग्नि से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को दग्ध करने वाले, निर्मल और परम विशुद्ध आत्मस्वभाव को प्राप्त करने वाले, परम सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके श्रेष्ठ तत्त्वसार को कहूँगा। सिद्ध भगवान् अध्यात्मक की प्रतिमूर्ति हैं, इसलिये समस्त आचार्य आध्यात्मिक ग्रन्थ की शुरुआत में सिद्धपरमात्मा को ही मंगलाचरण में मंगलरूप ग्रहण करते हैं और नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार मंगलाचरणोपरान्त अपने सहज सुख साधन से सम्पन्न आत्मतत्त्व की शक्ति और सुख का वर्णन भी इतना सहज किया है कि कोई भी इस अध्यात्म के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। सुगम्य अध्यात्म के समान ही सरल प्राकृत गाथाओं में किया है। जिस व्यक्ति को अल्प ज्ञान भी प्राकृत भाषा का हो, तो वह भी उन गाथाओं का भावार्थ आसानी से समझ सकता है।

सर्वप्रथम आचार्य देवसेन कहते हैं कि धर्मप्रवर्तन और भव्यों को धर्म का मर्म समझाने के लिये पूर्वाचार्यों ने तत्त्व को अनेक भेद रूप प्ररूपित किया है। यहाँ उनका अभिप्राय है कि आचार्यों ने तत्त्वों के जीवादि सात भेद किये हैं। तत्त्व का सामान्य रूप से आशय यह है कि पदार्थ जिस रूप में होता है उसका उस रूप होना ही तत्त्व कहलाता है। सामान्य से पदार्थों के स्वभावगत तत्त्वों की गणना करना चाहें तो वे असंख्यात लोकप्रमाण भेद वाले हैं। भेदगत दृष्टि से तो तत्त्व सात ही होते हैं। इन सातों तत्त्वों का स्वरूप वर्णन पूर्व अध्याय में कर चुका हूँ। आचार्य देवसेन स्वामी का यहाँ आशय यह है कि तत्त्वों का निरूपण भव्य जीवों को तत्त्वबोध कराने एवं धर्मप्रवर्तन हेतु किया गया है। उनका कहना है कि जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती। वह तत्त्वज्ञान सद्शास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से ही संभव हो सकता है, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के आत्मकल्याण होना असंभव है। अतः प्रत्येक साधर्मी श्रावक का परम कर्तव्य है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मतत्त्व की प्राप्ति की जाय जो कि जीव का परम लक्ष्य है।

अन्य आचार्यों की अपेक्षा आचार्य देवसेन स्वामी ने तत्त्व के भिन्न प्रकार से दो भेद किये हैं - स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्व। उनके अनुसार स्वगत तत्त्व निजात्मा और परगत तत्त्व सभी जीवों के आश्रयभूत पञ्च परमेष्ठी हैं।¹ कोई भी जीव हो उसके लिये स्वतत्त्व तो निजात्मा ही होती है, परन्तु यहाँ पञ्चपरमेष्ठी को परगत तत्त्व कहा है, तो यहाँ विचारणीय यह है कि पञ्च परमेष्ठी वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं फिर भी जीव की स्वात्मा से तो भिन्न ही हैं। वे सामान्य रूप से भिन्न नहीं हैं, अत्यन्त भिन्न हैं। उनका चतुष्टय मेरे चतुष्टय से सर्वथा पृथक् है और उनका स्वभाव सम्बन्ध अपनी आत्मा से नहीं है। उनसे जीव का सम्बन्ध मात्र श्रद्धा-श्रद्धेय का है न कि अविनाभाव। अतः पञ्चपरमेष्ठी परगत तत्त्व प्ररूपित किये हैं। परमेष्ठी हमारे आराध्य हैं, परन्तु साध्य तो हमारी शुद्ध निजात्मा ही है। परमेष्ठी साध्य तक पहुँचने के लिये साधन हैं तो साधन हमसे पृथक् है, इसलिये साध्य को प्राप्त करने लिये साधन को दूर से ही छोड़ना पड़ता है। जैसे नदी पार करने के लिये नाव साधन है। किनारे पर पहुँचते ही नाव का त्याग कर दिया जाता है, क्योंकि नाव में बैठे रहेंगे तो किनारे को प्राप्त कैसे कर पायेंगे। वस्तुतः संसार में उपादेय क्या है? पञ्चपरमेष्ठी। पञ्चपरमेष्ठी में अधिक उपादेय कौन है? अरिहन्त और सिद्ध। इन दोनों में भी अधिक उपादेय कौन है? सिद्ध। क्या सिद्ध परमेष्ठी ही सर्वथा उपादेय हैं? हाँ जीव के दर्पण हैं। इनमें जीव का स्वरूप दिखाई देता है, इसलिये ये तो साधन हैं। वास्तविकता में साध्य और सबसे ज्यादा उपादेय प्राणी की निजात्मा ही है। अतः आचार्य देवसेन स्वामी ने स्वगत तत्त्व निजात्मा और परगत तत्त्व पञ्चपरमेष्ठी बताये हैं, वे युक्ति संगत भी हैं।

मोक्ष का इच्छुक जीव पहले परगत तत्त्व परमेष्ठी का ध्यान करके अभ्यास करता है, फिर अभ्यस्त होने पर स्वमत तत्त्व टंकोत्कीर्ण, ज्ञायकस्वभावी, परम पारिणामिक निजात्मा को ही ध्याता है, तभी उसको निज परमात्म तत्त्व की प्राप्ति होती है।

¹ तत्त्वसार गा. 3

परगत तत्त्व स्वरूप पञ्चपरमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। अतः पुनरावृत्ति करना योग्य नहीं है। इन पञ्चपरमेष्ठी के चिंतन करने से किस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, तो आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि -

तेसिं अक्खर रूवं भवियमणुस्साणं ज्ञायमाणानां।

बज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो॥¹

अर्थात् उन पञ्चपरमेष्ठियों के वाचक अक्षर रूप मंत्रों का ध्यान करने वाले भव्य जीव बहुत पुण्य का अर्जन करते हैं और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी ने मुख्यतया पदस्थ ध्यान की ओर संकेत किया है। इस ध्यान के अन्तर्गत मन्त्राक्षरों अथवा बीजाक्षरों को ध्यान करने से ध्याने वाले साधक का चित्त शान्त रहता है और अज्ञान का नाश करके अनन्तज्ञान का धारी केवली भगवान् बन जाता है। अतः मंत्रों का ध्यान मुमुक्षु को अवश्य करना चाहिये। पदस्थ ध्यान का स्वरूप वर्णन पहले ही कर आये हैं फिर भी प्रसंगवशात् सामान्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं कि एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पञ्चपरमेष्ठी वाचक पवित्र मंत्रों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं।

पञ्चपरमेष्ठी वाचक मंत्र एक अक्षर का भी हो सकता है और कई अक्षरों का भी हो सकता है, परन्तु ध्यान अवश्य करना चाहिये। सुभौम चक्रवर्ती की तरह कोई कितना भी भ्रमित करने का प्रस्ताव रखे तो भी अपने मन को इन परमेष्ठियों में ही लगाये रखना है, क्योंकि यही संसार रूपी सागर से पार लगाने में समर्थ हैं। जिनागम का उपदेश है कि कितनी भी विपत्ति उपस्थित हों फिर भी इनकी आराधना नहीं छोड़ना चाहिए।

अब आगे आचार्य स्वगत तत्त्व का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि-

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्यं हवइ तह य अवियप्यं।

सवियप्यं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं।²

1 तत्त्वसार गा. 4

2 तत्त्वसार गा. 5

अर्थात् जो स्वगत तत्त्व है, उसके दो भेद हैं-सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प स्वतत्त्व वह है जो आम्रव सहित है और आम्रव एवं संकल्प रहित अविकल्प स्वतत्त्व है।

ग्रन्थकर्ता ने यहाँ आम्रव की अपेक्षा स्वगत तत्त्व आत्मा के दो भेद प्ररूपित किये हैं। उनका आशय यह है कि साम्प्रायिक आम्रव से सहित सविकल्प स्वतत्त्व और ईर्यापथ आम्रव से सहित अविकल्प स्वतत्त्व कहलाता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि विकल्प क्या कहलाता है? तो उसका समाधान यह है कि मन में अनेक प्रकार की जो कल्पनायें उठती हैं, उन्हें विकल्प कहते हैं, क्योंकि मन की चञ्चलता ही सर्व विकल्पों का कारण है। मन की चपलता से सहित होना सविकल्प और रहित होना अविकल्प होना है। आचार्य देवसेन स्वामी का तात्पर्य यह है कि जहाँ तक कषाय का सद्भाव है, वहाँ तक सविकल्प अवस्था है। यद्यपि सप्तम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक आत्मानुभूति की अपेक्षा निर्विकल्प स्वतत्त्व है, क्योंकि वहाँ अन्य किसी पर-पदार्थ का विकल्प नहीं होता है, तथापि अकषाय की अवस्था नहीं है। अतः संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने से वास्तविक अवस्था तो नहीं हो पाती। आचार्य वीरसेन स्वामी ने कषाय के मन्द उदय रहने के कारण 10वें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान स्वीकार किया है। अकषाय अवस्था 11वें गुणस्थान से शुक्ल ध्यान की निर्विकल्प अवस्था स्वीकार की है।

यह निर्विकल्प अवस्था कषाय उपशमन की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान से तथा कषाय के क्षय की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान से ग्रहण करना चाहिये। इसी कारण से इनके सार्थक नाम उपशान्त मोह और क्षीण मोह हैं। जहाँ मिथ्यात्वादि का उपशमन अथवा अभाव हो जाने से कर्मों का संवर हो जाता है। संवर होने से पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा होती है और नवीन कर्माग्रव रुक जाता है। इससे परम चैतन्यरूप परमात्मा पद अरिहंत और सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

अब आगे आचार्य आत्मा के शुद्धभाव का निरूपण करते हुए कहते हैं कि-

समणे णिच्चलभूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे।

थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥¹

¹ तत्त्वसार गा. 7

अर्थात् अपने मन के निश्चलीभूत होने पर, समस्त विकल्पों के समूह नष्ट होने पर विकल्प रहित, निर्विकल्प, निश्चल, नित्य, शुद्ध स्वभाव स्थिर रहता है। जो निश्चय से शुद्धभाव है, वह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूप कहा गया है अथवा उसको शुद्ध चेतना रूप कहा जाय तो भी उचित होगा।

यहाँ आचार्य का आशय यह है कि - रागादिक भावों से रहित चैतन्यभूत परम परिणामिक भाव ही जीव का वास्तविक स्वभाव है। शरीर के वेश को साधु बनाने मात्र से शुद्धात्म स्वभाव का प्रकटीकरण नहीं हो सकता है और बिना वेश धारण किए भी शुद्धस्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती है। उसको प्राप्त करने के लिये शरीर को संभालने के साथ-साथ अन्तरंगपरिणामों का संभालना परम आवश्यक है। साधक जब तक राग-द्वेष रूप बाधक परिणामों में रत रहेगा, तब तक शुद्धात्मा के आनन्द रूषी सागर में गोता नहीं लगा पायेगा। यदि साधक समाज, देश एवं राष्ट्र के प्रपञ्चों में कर्तृत्व दृष्टि रूप परिणत होकर चल रहा है तो वह आत्माभिमुख नहीं हो सकेगा। पन्थ, सम्प्रदाय, संघ, जाति, स्थान, क्षेत्र, नगर एवं प्रदेश आदि में भेदभाव की दृष्टि जिनमें दृष्टिगत होती है, तो वह साधक कदापि नहीं हो सकता है। मुमुक्षु पुरुष तो जाति, सम्प्रदाय एवं पंथ आदि से कहीं ऊँचे होते हैं और उनकी दृष्टि में प्राणीमात्र का कल्याण निहित होता है और निज कल्याण की भावना अन्दर से प्रस्फुटित होती है, उन्हें संसार के समस्त परद्रव्यों के विषय में चिन्तन करने का समय ही नहीं होता है।

द्वितीय परिच्छेद : विभिन्न उपमाओं वाला आत्मा

निर्ग्रन्थ स्वरूप - निर्ग्रन्थ आत्मा का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि -

बहिरब्भंतरगंधा मुक्का जेणेह तिविह जोएणा।

सो णिगगंधो भणिओ जिणलिंग समासिओ समणो॥¹

अर्थात् इस लोक में जिसने मन, वचन और काय इन तीन प्रकार के योगों से बाह्य और अन्तरंग परिग्रहों का त्याग कर दिया है, वह जिनेन्द्र देव के लिंग का आश्रय करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ कहा गया है। यहाँ आचार्य का आशय स्पष्ट है कि ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित जो श्रमण है, वही निर्ग्रन्थ है। वह निर्ग्रन्थ ही शुद्धोपयोग की अवस्था को प्राप्त हो सकता है। शुद्धोपयोग का स्वरूप विवेचित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं-

सुविदिद पयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।

समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।²

अर्थात् जिन्होंने अच्छी प्रकार से पदार्थ और सूत्रों को जान लिया है, संयम-तप से युक्त हैं, जिनका राग भाव बीत चुका है अर्थात् वीतरागी हैं, सुख-दुख में साम्य भाव धारण करते हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

पूज्य आचार्य के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को कदापि शुद्धोपयोग की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है। जो एकान्ती मूढ़ बिना संयम धारण किये ही अव्रत अवस्था में निश्चय आत्मानुभूति और शुद्धोपयोग निर्विकल्प ध्यान मान रहे हैं, उन्हें इस गाथा का अर्थ अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। आचार्य शुभचन्द्र ने भी ज्ञानार्णव में यह विषय अच्छी तरह से स्पष्ट किया है कि - जैसे आकाश का फूल, गधे के सींग किसी भी क्षेत्र में एवं किसी भी काल में नहीं होते हैं, वैसे ही निर्विकल्पक ध्यान, शुद्धोपयोग की सिद्धि, गृहस्थ आश्रम में किसी भी क्षेत्र में और किसी भी काल में

¹ तत्त्वसार गा. 10

² प्रवचनसार गा. 14

संभव नहीं है।¹ निर्विकल्पक ध्यान की सिद्धि अप्रमत्त गुणस्थान में निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतरागी मुनि के ही संभव होती है। आचार्य वीरसेन स्वामी की अपेक्षा से कषाय रहित 11वें गुणस्थान में स्थित मुनिराज के ही संभव है, क्योंकि उनका आशय है कि ईषत् कषाय का उदय भी निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति में बाधक है।

निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा

निश्चयनय से आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

दंसण-णाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।

सगहियदेहपमाणो पायव्वो एरिसो अप्पा।²

अर्थात् निश्चय नय से आत्मा दर्शन और ज्ञान गुणप्रधान है, असंख्यात प्रदेशी है, अमूर्तिक है, अपने द्वारा गृहीत देहप्रमाण है। ऐसा स्वरूप आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने आत्मस्वरूप का विशद वर्णन किया है, उनमें कुछ विशेष आत्मस्वरूप का वर्णन इस प्रकार है-

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।

णावि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तंपि।³

अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय नय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ, सदा अरूपी हूँ, किञ्चित् मात्र भी अन्य पदद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने और भी विशेष यह कहा है कि निश्चयनय से आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ जीव का अपना नहीं है - यह जीव रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा चेतना जिसका गुण है, शब्द रहित किसी चिह्न से अर्थात् इन्द्रिय से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई

¹ ज्ञानार्णव

² तत्त्वसार गा. 17

³ समयसार गा. 38

आकार नहीं होता है। इस जीव के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, आस्रव, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि भी नहीं हैं, क्योंकि यह सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।¹

इसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी द्वारा वर्णित बृहद्द्रव्य संग्रह में भी आत्मा का स्वरूप वर्णन नयापेक्षा की कसौटी में खरा उतरता है। वे कहते हैं कि जीव को नौ प्रकार के अधिकारों के अन्तर्गत परिभाषित विवेचित कर सकते हैं।

जीवो उक्वओगमओ अमूर्तिकता सदेहपरिमाणो।

भोक्ता संसारस्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।²

अर्थात् यह जीव जीवत्व, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार ये जीव के नौ अधिकार हैं। ये नौ अधिकार के अन्तर्गत ही आत्मा को निश्चयनय की अपेक्षा से विशेष रूप से वर्णन किया है। इसका विशेष वर्णन पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसलिये यहाँ करना पुनरुक्ति दोष होगा।

इसी प्रकार आचार्य योगीन्दुदेव भी निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धात्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु।

अप्पा इंदियविसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु।³

अर्थात् यह शुद्ध आत्मा परमात्मा से विपरीत विकल्प जालमयी मन से रहित है, शुद्धात्मा से भिन्न इन्द्रिय समूह से रहित है, लोक और अलोक के प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान स्वरूप है, अमूर्तिक आत्मा से विपरीत स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाली मूर्ति से रहित है, अन्य द्रव्यों में नहीं पाई जाने वाली शुद्धचेतना स्वरूप ही है और इन्द्रियों के

¹ समयसार गा. 49-55, तत्त्वसार गा. 20-22

² बृ. द्र. सं. गा. 2

³ परमात्मप्रकाश दोहा 31

गोचर नहीं है, वह वीतराग स्वसंवेदन से ही ग्रहण किया जाता है। ऐसे जो लक्षण हैं वह आत्मा को प्ररूपित करने वाले हैं।

आगे आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि यह आत्मा निरञ्जन स्वभावी है। निरञ्जन शब्द दो पदों से मिलकर बना है - निर् + अञ्जन। निर् उपसर्ग का सामान्य अर्थ रहित है और अञ्जन का सामान्य अर्थ है काजल। काजल का अर्थ पक्ष में कर्म कालिमा से है और यह आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा से सर्वकर्ममलों से रहित है, इसलिये आत्मा को निरञ्जन स्वभावी कहा गया है। और भी कहते हैं कि जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ, शल्य, लेश्या, जन्म, मृत्यु और बुढ़ापा भी नहीं है, वही निरञ्जन में कहा गया हूँ। इसी प्रकार के विषय को और संपोषित किया है आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने, वे कहते हैं-

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।²

अर्थात् भय किस बात का है, जब मृत्यु ही मेरी नहीं है और जिसकी मृत्यु है, उसे कोई भी नहीं बचा सकता है। मेरा आयुकर्म शेष है तो औषधि मुझे बचाने में निमित्त बनती है और यदि मेरा आयु कर्म शेष नहीं है तो औषधि भी कुछ नहीं कर सकती है। न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न ही युवक हूँ, ये सब तो पुद्गल की अवस्थायें हैं। मेरा तो स्वभाव इन सबसे रहित निरञ्जन है।

और भी आचार्य कहते हैं कि - जो सिद्ध जीव नोकर्म और कर्ममल से रहित है, केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से समृद्ध हैं। निश्चयनय से वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक स्वरूप हूँ और निरालम्ब हूँ, मैं शरीर प्रमाण हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं असंख्य प्रदेशी हूँ और अमूर्त हूँ।³ ये सब गुण हमारे आत्मा में सदा से विद्यमान हैं और रहेंगे परन्तु जैसे सूर्य के प्रकाश को बादल ढक लेते हैं प्रकट नहीं होने देते वैसे ही आत्मशक्ति को कर्ममल रूपी बादलों ने ढक दिया है, उसको प्रकट करना है, कर्ममलरूपी बादल को दूर

तत्त्वसार गा. 19

इष्टोपदेश श्लो. 29

तत्त्वसार गा. 27-28

हटाना ही होगा तभी अनन्त ज्ञानादि शक्तियाँ प्रकट होंगीं। अतः हमें शरीरादि पुद्गलों की चिन्ता न करके आत्मशक्ति के विषय में ही चिन्तन करना चाहिये, क्योंकि आत्मतत्त्व ही सब कुछ है। जैसे कोई कहता है कि ज्योति दीपक में है या ज्योति दीपक है? तो आचार्य कहते हैं कि ज्योति बिना दीपक नहीं, दीपक बिना ज्योति नहीं है। अतएव आत्मा ही दीपक है, आत्मा ही ज्योति है, इसलिये आत्मा स्वयं ज्ञाता है, स्वयं ज्ञेय है और स्वयं ज्ञानी है वही परम ब्रह्म है।

आगे आचार्य कहते हैं कि निश्चयनय के आश्रय से जीव में जो आत्मतत्त्व है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चरित्र है और वही शुद्ध चेतना भी है। राग और द्वेष रूप दोनों भावों के नष्ट होने पर अत्यन्त शुद्ध आत्मस्वरूप निजभाव के उपलब्ध होने पर योग-शक्ति से योगियों के परम आनन्द शोभायमान होता है।¹

आचार्य कहते हैं कि आत्म स्वभाव में स्थित योगी मुनिराज उदय आये हुए किसी भी इन्द्रिय विषय को बिल्कुल भी नहीं जानते। वह योगी मात्र अपने आत्मा को ही जानता है और वह उसी अतिविशुद्ध आत्मतत्त्व को ही देखता है, जानता है। इस प्रकार से समस्त विकल्पों के अवरुद्ध होने पर उसको अद्वितीय शाश्वत भाव की उत्पत्ति होती है, जो वास्तविकता में उसका स्वयं का स्वभाव है। वह ज्ञानी तो निश्चय से मोक्ष का कारण है।²

आगे आचार्य कहते हैं कि समस्त विकल्पों के अवरुद्ध होने पर यदि कोई अद्वितीय शाश्वतभाव उत्पन्न होता है, जो आत्मा का स्वरूप/स्वभाव है। यही निश्चय नय की अपेक्षा से मोक्ष का कारण है। इस प्रकार के आत्म स्वभाव में स्थित योगी, उदय में आये हुए पञ्चेन्द्रिय विषयों को नहीं जानता है अपितु आत्मा को ही जानता है और उसी अतिविशुद्ध आत्मा को देख पाता है।³

इसी प्रकार निश्चयनय की अपेक्षा से जीवात्मा का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आदि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में विशद रूप से वर्णन किया है।

¹ तत्त्वसार गा. 57-58

² वही गा. 60-62

³ वही गा. 61-62

उनका सारा विशेष वर्णन मुझे यहाँ करना उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। विशेष जानने के इच्छुक समयसारादि ग्रन्थों का वाचन कर सकते हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा - अब सामान्य रूप से व्यवहारनय की अपेक्षा से भी आचार्य कथन करते हैं, क्योंकि निश्चय और व्यवहार एक सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों को साथ लेकर जो चलता है वही सम्यग्दृष्टि बुद्धिमान पुरुष है। जिस प्रकार पक्षी को उड़ने के लिये दोनों पंखों की आवश्यकता होती है, एक के अभाव में दूसरा कार्यकारी नहीं होता है, उसी प्रकार किसी भी पदार्थ का निर्णय करने के लिये निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार पक्षी की उड़ान के लिये पंख ही सर्वोपरि है, चाहे दायें हो या बायाँ पंख यदि एक भी पंख क्षतिग्रस्त हो जाय तो वह पक्षी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाता है, उसी प्रकार दोनों नयों में से एक भी नय विनष्ट हो जाय तो हमारा अभीष्ट मोक्षपद हमें कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

जो है वह प्रमाण है और जिससे कहा जा रहा है वह नय है। नय अव्यवस्था फैलाने की वस्तु नहीं, अपितु अव्यवस्थित व्यवस्था को व्यवस्थित करने का नाम नय है। वे जीव अज्ञानी हैं, जो नय को न समझकर अव्यवस्था फैला रहे हैं। हम नय को परमात्म पद का हेतु समझ बैठे हैं, परन्तु नय परमेश्वर नहीं, बल्कि परमेश्वर को बताने वाला मार्ग है, कथन करने की शैलियाँ हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी व्यवहार नय की अपेक्षा से कथन करते हैं कि - जीव के कर्म, नोकर्म अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से हैं, कोई अलग से लगाये गये नहीं हैं।' स्वयं बन्ध किया है, अतः स्वयं दुःख भोग रहा है। जो व्यक्ति गरिष्ठ भोजन करता है, छाँछ, भैंस का दूध आदि का सेवन करता है और कहता है कि मुझे नींद बहुत आती है, तो नींद आयेगी ही। उसी प्रकार कर्मबन्ध के अनेक हेतु हैं, इनसे कर्म बन्ध करता है, जैसा बन्ध होगा वैसा ही उदय में तो आयेगा ही।



तृतीय परिच्छेद : स्वशुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय

निश्चय और व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मस्वरूप को अवगमन करने के पश्चात् यह जीव इन्द्रिय और मन के विषयों में रमता नहीं है। समस्त विषयों से उदासीन होकर ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा निज आत्मा में लीन हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि जब तक सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का नाश नहीं होता है तब तक यह जीव पूर्ण रूप से वीतरागता को प्राप्त नहीं हो पाता है। क्योंकि मोहनीय कर्म ही सर्वकर्मों को शक्ति प्रदान करता है। मोहनीय का नाश हो जाने पर शेष कर्मों का नाश सहज ही हो जाता है, क्योंकि मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है। जिस प्रकार राजा के मारे जाने पर सेना का कोई भी माहात्म्य नहीं रहता है, वह स्वयं ही नष्टप्राय हो जाती है, उसी प्रकार राजा मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर शेष घातिया कर्म भी शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं।¹

चारों घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर लोक और अलोक का प्रकाशक, त्रिकाल का ज्ञाता, सर्वोत्कृष्ट शुद्ध केवलज्ञान रूपी सूर्य प्रकटित हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर यह जीव तीनों लोकों में पूज्यता को प्राप्त कर पुनः शेष अघातिया कर्मों का क्षय करके अभूतपूर्व लोक के अग्र भाग का निवासी सिद्ध परमात्मा बन जाता है। यह वह अवस्था है जिसे प्रत्येक जीव प्राप्त करना चाहता है और यही सबका लक्ष्य है।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि जिस जीव को स्व शुद्धात्म की प्राप्ति करना इष्ट है तो उसे स्वगत तत्त्व और परगत तत्त्व की आराधना निरन्तर करते रहना चाहिये, जिससे मोहनीय कर्म का क्षय करने और संसार सागर से तिरने की सामर्थ्य में वृद्धि होती रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह ध्यातव्य है कि जब तक स्वतत्त्व की प्राप्ति न हो जाय तब तक परगत तत्त्व अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी को न भूल जाय। पञ्चपरमेष्ठी की स्तुति पूजन यह जीव इसलिये करता है कि जिससे उसे 'ऐसा ही स्वरूप मेरा है' यह भान होता रहता है। वह परमेष्ठियों की स्तुति पूजन अपने स्वरूप

¹ तत्त्वसार ग। 65

की प्राप्ति करने के लिए करता है, न कि पुण्य प्राप्ति के लिये। आचार्य समन्तभद्र स्वामी इसी सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि -

न पूजयार्थं वीतरागो न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे।

तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥¹

अर्थात् हे देवाधिदेव! हे अरहन्त देव! आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है, आपको निन्दा से कोई प्रयोजन नहीं है, हे प्रभो! आप तो वीतरागी हो, मैं आपके चरणों में आपके लिये नहीं आया हूँ। मैं तो इसलिये आया हूँ कि आपके दर्शन से समस्त प्राणियों के पाप रूपी कलंक धुल जाते हैं, उनकी आत्मा पवित्र हो जाती है, उनका कल्याण हो जाता है। यह जीव प्रभु अरहन्त देव के पास उनकी आराधना करने, पूजन करने, अपना लोभ त्याग करने के लिये आता है, तभी उसे अपने स्वरूप की प्राप्ति होना संभव है। यह जीव भगवान् की प्रतिमा की आराधना इसलिये करता है कि उसमें वह अपनी प्रतिमा को, अपने स्वरूप को देख सके। दर्पण देखने के लिये दर्पण को नहीं देखा जाता अपितु दर्पण में देखने के लिये दर्पण को देखा जाता है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी इसी सन्दर्भ में कहते हैं कि -

जो जाणदि अरहंतं द्रव्यगुणत्त।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्सलयां॥²

अर्थात् जो अरहन्त देव के द्रव्य, गुण और पर्याय को जान लेता है वह अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान लेता है। अतः जिनदेव के दर्शन करना चाहिये, निजदेव के दर्शन के लिये और जिसकी निजदेव के दर्शन के लिये और जिसकी निजदेव के दर्शन की दृष्टि नहीं है, उसका जिनदेव का दर्शन है ही नहीं। वह तो मात्र कुल प्राम्परा का निर्वहण मात्र कर रहा है। जिस प्रकार देवताओं के भवनों में अरिहन्त जिन अकृत्रिम प्रतिमायें विराजमान होती हैं, जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे उन्हें अपना आराध्य मानकर उनकी पूजा अर्चना करते हैं और मिथ्यादृष्टि देव उनको कुलदेवता

स्वयंभूस्तोत्र श्लो. 57

प्रवचनसार गा. 80

मानकर पूजता है। उसी प्रकार यहाँ इस जीव की स्थिति है। अतः ये परगत तत्त्व पञ्चपरमेष्ठी कुल देवता नहीं हैं, ये तो निजात्मदेव की प्राप्ति के साधन हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी का तात्पर्य यह है कि किसी भी भगवान् अथवा प्रतिमा में चमत्कार नहीं होता है अपितु इस जीव के द्वारा की जाने वाली निर्मल एवं शुद्धभावमय भक्ति ही चमत्कारी होती है। कोई भी बाह्य चमत्कार नहीं होता है। अब तो पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति तब तक करना है जब तक कि समस्त सांसारिक पर्याय संतति से भटकना समाप्त न हो जाये और चैतन्य चित् चमत्कार सिद्ध अवस्था न प्राप्त हो जाये।

तुर्थ परिच्छेद : परम लक्ष्य शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी

परम आराध्य परम ध्येय शुद्धात्मतत्त्व सिद्ध परमात्मा का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि-

तिहुवणपुज्जो होउं खविउ सेसाणि कम्मजालाणि।

जायइ अभूदपुव्वो लोयगगणिवासिओ सिद्धो।।'

अर्थात् आचार्य कहते हैं कि जो पञ्चपरमेष्ठी की निःस्वार्थ भाव से भक्ति करते हैं उनको अरिहन्त अवस्था में तीनों लोकों का पूज्य होकर, शेष कर्ममलों का विनाश करके अभूतपूर्व लोकाग्र का निवासी सिद्ध पद प्राप्त हो जाता है। और आगे कहते हैं कि वह जीव गमनागमन से रहित, परिस्पन्दन रहित अव्याबाध सुख में तल्लीन सुस्थिर परम अष्ट गुणों से संयुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाता है। वह निश्चयनय से नहीं अपितु निश्चय से सिद्ध होता है। अब वह कभी असिद्ध नहीं होगा। आचार्य और भी कहते हैं कि वह सिद्ध परमात्मा इन्द्रिय के क्रम से रहित होकर समस्त लोक और अलोक को, अनन्त गुण और पर्यायों से संयुक्त समस्त रूपी और अरूपी द्रव्यों को जानता और देखता है। यहाँ आचार्य का आशय यह है कि वह समस्त पदार्थों को जानता और देखता है परन्तु उनमें राग-द्वेष नहीं करता है। वह सब कुछ जानकर भी मौन रहता है। वह मौन रहते हुए मात्र आत्मचिन्तन करता है, इसलिये सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। मुनि अथवा योगी मौन होते हैं, मूक नहीं होते। जो बोलने की आकांक्षा रखता हो, जो बोलने की भावना रखता हो, फिर भी बोल नहीं पा रहा हो, इसका नाम मौन नहीं मूक है। जो बोलने की सामर्थ्य रखने के उपरान्त भी अपने योग की निर्मलता के लिये, अपने कषायों के शमन के लिये जो वचन-वृत्ति का विसर्जन कर देते हैं, त्याग कर देते हैं, उसका नाम मौन है। इसी को वचन गुप्ति कहा जाता है। इसी प्रकार तीनों गुप्तियों का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर रहते हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त किया है, उन्होंने सारी अवस्थाओं का पालन किया था, वे

1 तत्त्वसार गा. 67

व्रती भी बने थे, वे त्यागी भी बने थे, वे मुनि भी बने थे और मौनी भी बने थे, परन्तु दृष्टि एक ही थी कि मुझे परम लक्ष्य सिद्धावस्था प्राप्त हो।

मुक्त जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है, यह सर्वविदित है। आचार्य कहते हैं कि जैसे समस्त कर्मों से मुक्त हो चुका है ऐसा जीव धर्मादि द्रव्यों के सद्भाव होने पर भी वह नीचे अथवा तिरछा गमन नहीं करता है क्योंकि मुक्तजीव का स्वभाव कुम्हार के चक्र के समान, मिट्टी का लेप हटी हुई तूंबडी, एरण्ड के बीज के समान और अग्निशिखा के समान ऊर्ध्वगमन करना है।¹ उसी सिद्धावस्था की और विशेषतायें बताते हुए आचार्य कहते हैं कि -

असरीरा जीव घणा चरमसरीरा हवंति किञ्चूणा।

जम्मण-मरण-विमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा।²

अर्थात् वे सिद्ध जीव शरीर से रहित अमूर्तिक होते हैं, अब ज्ञान ही उनका शरीर है, बहुत घने हैं अर्थात् एक ही प्रदेश में अनन्त सिद्धों को अवगाहन दिये हुए हैं, अपने अन्तिम शरीर से किञ्चित् ऊन अर्थात् कुछ कम हैं और जन्म एवं मरण से रहित हो चुके हैं, क्योंकि जन्म-मरण तो शरीर का होता है, अब शरीर से रहित होने के कारण जन्म-मरण का अभाव हो गया है। ऐसे समस्त अनन्त चतुष्टयादि से सहित सिद्ध भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ। उन सिद्ध भगवन्तों की तरह हमें भी स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करने के लिये उन्हीं के बताये मोक्षमार्ग पर चलना चाहिये। तभी हम उस परमलक्ष्य सिद्ध परमेष्ठी तक पहुँच सकते हैं।

¹ त. सू. 10/7

² तत्त्वसार गा. 72

पञ्चम परिच्छेद : अन्य दर्शनों में आत्मतत्त्व

लगभग सभी भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व का विवेचन किया है। जितने भी ऋषि-मुनि हुए उन्होंने अपने प्रयत्नों से आत्मा का अन्वेषण किया और उस आत्म साक्षात्कार से जो ग्रहण किया था उसको अपने विचारों से अपने ग्रन्थों में प्ररूपित कर दिया। सभी आचार्यों के परस्पर भेद होने से आत्मा का स्वरूप भिन्न-भिन्न विवेचित किया गया। उन सभी दर्शनों में विश्लेषित आत्म सिद्धान्तों का कैसा साम्य है? क्या विशेषता है? यह यहाँ विवेचित करता हूँ-

चार्वाक दर्शन - चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर में जो चैतन्य परिणाम उत्पन्न होता है वह पञ्चभूतों में से 4 महाभूतों का आकार रूप से जैसी इच्छा होती है वैसे उत्पन्न कर लेता है, यह किसी विशिष्ट हेतु के द्वारा उत्पन्न नहीं होती है। यथा दो या चार पदार्थों के सम्मेलन से मादक शक्ति का अभाव होने पर भी मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों के सम्मिश्रण होने पर चैतन्य का अभाव होने पर भी यदृच्छा से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। और भी कहते हैं कि जैसे बरसात के मौसम में मेढ़क, कीट-पतंगे स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्यादि जीवों में चैतन्य अनायास ही उत्पन्न हो जाता है।

इनके अनुसार शरीर ही आत्मा है, इसके नष्ट होने पर ही आत्मा (चैतन्य शक्ति) भी स्वयमेव नष्ट हो जाती है। ये इनका देहात्मवाद कहलाता है। कुछ चार्वाक आचार्य मन को ही आत्मरूप मानते हैं, क्योंकि मन के बिना शरीर कार्य करने में समर्थ नहीं है और मन ज्ञानदाता है। कुछ इन्द्रियों को आत्मस्वरूप स्वीकार करते हैं। कुछ प्राणों को, कुछ पुत्र को और कुछ लौकिक पदार्थों को आत्मा स्वीकारते हैं। मतैक्य न होने से सामान्य तौर पर भौतिकवाद को ही स्वीकार किया गया है। शरीर के नष्ट होने पर ही आत्मा मुक्त हो जाती है।

बौद्ध दर्शन - बौद्ध दर्शन में आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। भगवान् बुद्ध से पूछने पर वह सर्वदा मौन ही रहे। रीज डेविड्स और ओल्डनवर्ग आदि महोदयों ने अत्यधिक शोध करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि आत्मा नहीं है।

वेद - वेदों की प्राथमिक अवस्था में देवों की उपासना स्तुति आदि से दुःख की निवृत्ति जानकर इन्द्र वरुण आदि देवताओं को ही 'आत्म' रूप से स्वीकृत किया गया है। उपनिषदों के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि - जिस आत्मा का अन्वेषण करने में लोग अनुरक्त हैं, वह आत्मा देवों से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि देवों में देवत्वशक्ति ब्रह्मा से प्राप्त हुई है। अतः आत्मा देवों से भिन्न (पृथक्) है।

उपनिषद् - अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया। उनमें से बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मस्वरूप वर्णित करते हुए कहते हैं - यह आत्मा ब्रह्मविज्ञानमय, मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, धर्म, अधर्म और सर्वमय है।¹ इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहते हैं -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।²

अर्थात् यह आत्मा जिसका वर्णन किया जा रहा है वह आत्मा न प्रवचन के द्वारा, न मेधा (बुद्धि) के द्वारा, न शास्त्रों के द्वारा लभ्य है, क्योंकि उसकी आत्मा तो उसके स्वयं शरीर में विद्यमान है, उसको बाहर खोजने पर वह कैसे प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग सुगन्ध को सारे वन में खोजता है, परन्तु उसको खोज नहीं पाता है, क्योंकि वह सुगन्ध तो स्वयं उसके नाभि से निस्सरित हो रही है।

न्याय दर्शन - न्याय दर्शन के अनुसार जो ज्ञान का अधिकरण अर्थात् आधार रूप है, वही आत्मा है, वह आत्मा द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य और व्यापक है।³ सुख और दुःख में विचित्रता होने से प्रत्येक शरीर में जीवात्मा भिन्न है। वही उस शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता है। मुक्त अवस्था में भी स्वतन्त्र स्वभाव से ज्ञानशून्य होने के कारण जड़त्व स्वभाव वाला होता है। मन के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होने से ज्ञान आत्मा में आने वाला आगन्तुक धर्म है। जीवात्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, तो वह ज्ञान सहित ही प्रवेश करता है, क्योंकि जीव के साथ संस्कार भी जाते हैं और मन भी

1 बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/5

2 कठोपनिषद् 1/2/23

3 न्यायभाष्यम् 1/1/9

अन्य शरीर में प्रवेश करता है। इनके अनुसार यह जीवात्मा 21 प्रकार के दुःखों की अत्यन्त रूप से निवृत्ति होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। गौतम ऋषि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर रागद्वेषादि भावों का भी नाश हो जाता है, उससे प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है; तदनन्तर पुनर्जन्म और दुःखों का अभाव हो जाने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।¹

मीमांसा दर्शन - नैयायिकों की तरह ही मीमांसक भी आत्मा का स्वरूप शरीरादि से भिन्न और एक द्रव्य स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार जो जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है और जो उस लोक से लोकान्तर जाती है वह जीवात्मा ही है।² भट्टमत में कहा गया है कि भोगायतनभूत शरीर, भोग के साधन, इन्द्रियाँ और भोग्य इन्द्रियविषय, इनका सम्पूर्ण रूप से नाश हो जाना मोक्ष है। भट्टमीमांसक के अनुसार प्रपञ्च और सम्बन्ध का विलय हो जाना ही मोक्ष है और प्रभाकर के अनुसार धर्म और अधर्म का सम्पूर्ण रूप से विनाश होने पर देह का आत्यन्तिक विनाश होना ही मोक्ष है। मुक्त जीव को अविनाशी, परम सुखी, बन्ध के कारणों से पराङ्मुख कहा गया है।

सांख्य दर्शन - इनके अनुसार तीन तत्त्व हैं - व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। इनमें व्यक्त और अव्यक्त जड़स्वरूप हैं तथा ज्ञ चैतन्यस्वरूप पुरुष है। वह पुरुष अहेतुमान, नित्य, सर्वव्यापी और त्रिगुणातीत होने से निष्क्रिय भी है। इनके अनुसार शुद्धस्वरूप पुरुष तो एक ही है, परन्तु बद्धपुरुष अर्थात् सांसारिक पुरुष बहुपने को प्राप्त हैं, क्योंकि सांसारिक पुरुषों में जन्म-मरण का और इन्द्रियों के नियत और विभिन्न स्वरूप हैं तथा उनकी प्रवृत्ति भी पृथक्-पृथक् है तथा सत्त्व, रज एवं तमस में भी विषमता पायी जाती है। यदि ऐसा न माना जाय तो एक ही पुरुष का जन्म और एक का ही मरण होगा। इनके अनुसार बद्ध जीवात्मा (सांसारिक) अनादिकाल से ही बद्ध कर्म लिप्त हैं। यह बन्धन अविद्या के अनादि संयोग से है। इनमें पुरुष के तीन प्रकार प्ररूपित किये गये हैं। बद्ध, मुक्त और शुद्ध। ज्ञान से अविद्या का नाश करके विवेक बुद्धि को उत्पन्न करता है। विवेक बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष अपना निर्लिप्त और निःसंग स्वरूप को अनुभव करता है एवं ज्ञान के अतिरिक्त धर्मादि को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मों

¹ न्यायसूत्रम् 1/1/2

² मीमांसाश्लोकवार्तिकम् 1/5, शास्त्रप्रदीपिका 1/1/5

का उपभोग हो जाने से संस्कार के विनाश होने से शरीर भी नष्ट हो जाता है और पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

अद्वैत (शाङ्कर वेदान्त) - इनके अनुसार एकमात्र तत्त्व है वह ब्रह्म (आत्मा) ही है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवस्तु, अज्ञान अथवा माया कहा जाता है। ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थ असत् रूप हैं। यहाँ दो भेद हैं ब्रह्म के - चैतन्यरूप और मायारूप उपाधि। इन दोनों से ही आकाशादि सृष्टि उत्पन्न होती है। यहाँ विज्ञानमय कोष से आवृत्त चैतन्य ही जीव कहा गया है। इसके व्यापक, निष्क्रिय, विभु, सर्वस्थ होने से गमनागमन आदि नहीं होते हैं। अतएव यह विज्ञानमय कोष ही चैतन्य की सहायता से इस लोक से परलोक को गमन करता है। यही जीव कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी होता है। इसमें जीवात्मा का परमात्मा से तादात्म्य है। उपाधि के बल से भेद कल्पना है। इसी उपाधि का विनाश हो जाने पर जीव स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर सभी दर्शनों के समालोचन से यह ज्ञात है कि चार्वाक मतावलम्बी भौतिकीय आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं करते हैं। वे आत्मा की उत्पत्ति किसी सद्भूत पदार्थ के द्वारा ही स्वीकार करते हैं। इस संसार को सत् रूप मानते हुए स्वाभाविक, प्राकृतिक और वास्तविक मानते हैं।

बौद्ध पञ्चस्कन्धात्मक आत्मस्वरूप वर्णित करके आत्मा का कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं कर सके हैं। उनका प्रतीत्यसमुत्पाद केवल विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का आलोडन-विलोडन करते हुए मन को कल्पित वाग्जाल के समान प्रतीत होता है, क्योंकि जब दुःख, सुख, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्षादि का आधारभूत कुछ भी नहीं ठहरता है, तब सुख, दुःख का भोग कौन करेगा?

वैदिक मत में आत्मतत्त्व का वर्णन बहुदेववाद रूप अथवा एक ईश्वरवाद रूप में स्वीकार किया जाता है। इनमें देवों में ही आत्मा की अथवा परमात्मा की कल्पना दिखाई देती है।

उपनिषदों में यह देखा जाता है कि महर्षि रात-दिन तत्त्वों के अनुसन्धान अथवा गवेषणा में संलग्न रहते थे। इनकी समन्वय प्रवृत्ति से यह निश्चित होता है कि यथार्थ में

यह जगत् अनन्तधर्मात्मक है। अतः किसी एक पक्ष के द्वारा समस्त जगत् का विवेचन नहीं किया जा सकता है।

नैयायिकों के अनुसार समस्त दुःखों का अभाव होना ही मोक्ष है। इसमें वे कहते हैं कि मन जो प्रवृत्तिविधायक है, उसके संयोग होने से आत्मा परमात्मा को प्राप्त कैसे हो सकती है? अतः आत्मा की मुक्ति होने पर संसार में कोई विशेष स्थिति नहीं होती है।

मीमांसकों के आत्मविषयक विवेचन से यही कहा जा सकता है कि आत्मा के जड़त्व होने से स्वर्ग से भिन्न अन्य किसी मोक्ष का अभाव होने से यह दर्शन मोक्षत्व का नहीं अपितु सांसारिकत्व का ही विवेचन करता है।

इसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी सत्त्वगुण रूप बुद्धि के मोक्ष में होने से जीवात्मा ज्ञस्वरूप को प्राप्त नहीं होता अपितु प्रकृतिपराङ्मुख होते हुए भी उससे संश्लिष्ट ही रहता है।

अद्वैतवेदान्त में तो सभी ब्रह्मरूप ही है, अतः माया और जगत् का असत् रूप होने से यदि इन दोनों में संश्लिष्ट हो तो इसमें कोई भी हानि नहीं है, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है, कि यह जगत् ब्रह्मस्वरूप है।

इस प्रकार इन सभी दर्शनों में आत्मा और मोक्ष का आंशिक स्वरूप का ही विवेचन किया गया है। अतएव इन सभी दर्शनों में से किसी में भी पूर्णता प्रतीत नहीं होती है।

निष्कर्ष

भारतवर्ष हमेशा से समस्त विश्व का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। इसीकारण से भारत का प्राचीन नाम विश्वगुरु है। विश्व के प्राचीन लिखित ग्रंथ वेद और उपनिषद में पर्याप्त आध्यात्मिक विषय वर्णित है। आचार्य देवसेन स्वामी ने जिनागम के प्रत्येक विषय को छुआ है, अतः अध्यात्म से दूर कैसे रह सकते थे, इसलिये उन्होंने बहुधा अध्यात्मपरक चिन्तन को भी व्यक्त किया, इसीकारण से उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में भगवान् महावीर को मंगलाचरण में नमस्कार किया है, परन्तु उन्होंने अपने आध्यात्मिक ग्रंथ तत्त्वसार में सिद्ध परमात्मा को ही नमस्कार किया है।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि तत्त्व का सामान्य रूप से आशय यह है कि पदार्थ जिस रूप में होता है उसका उस रूप होना ही तत्त्व कहलाता है। सामान्य से पदार्थों के स्वभावगत तत्त्वों की गणना करना चाहें तो वे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। भेदगत दृष्टि से तो तत्त्व सात ही होते हैं। उनका कहना है कि जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती। वह तत्त्वज्ञान सद्शास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से ही संभव हो सकता है, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के आत्मकल्याण होना असंभव है। आचार्य देवसेन स्वामी ने तत्त्व के भिन्न प्रकार से दो भेद किये हैं। स्वगत तत्त्व तथा परगत तत्त्व। उनके अनुसार स्वगत तत्त्व निजात्मा और परगत तत्त्व सभी जीवों के आश्रयभूत पंच परमेष्ठी हैं। इन पंच परमेष्ठी के चिंतवन करने से किस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, तो आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि- उन पंच परमेष्ठियों के वाचक अक्षर रूप मंत्रों का ध्यान करने वाले भव्य जीव बहुत पुण्य का अर्जन करते हैं और उनको परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने इसमें आत्मा को विभिन्न उपमाओं से अलंकृत किया है। शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति का उपाय, परम लक्ष्य शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। अन्त में अन्य दर्शनों में आत्मतत्त्व का विवेचन को प्रस्तुत करके जैनदर्शन में वर्णित आत्मा का मण्डन किया है।



उपसंहार



आचार्य देवसेन स्वामी ने अपनी कृतियों में सत् के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से प्ररूपित किया है। जो अपने गुण पर्यायों में व्याप्त होता है, वह सत् कहलाता है, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् कहा गया है, वही अस्तित्व कहा जाता है। इसी सत् के पर्याय स्वरूप 6 द्रव्यों का विशद वर्णन किया है। इन सबमें परम उपादेयभूत जीवद्रव्य का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। जिसमें जीव को अलग-अलग उपाधियों और अधिकारों द्वारा विवेचित किया गया है। जीव में जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वदेहपरिमाणत्व, संसार में स्थिति, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व गुण विद्यमान होते हैं। जीवत्व के संबंध में आचार्य ने कुछ गाथायें उद्धृत करके विवेचन किया है। जो 10 प्राणों से जीता है वह जीव है। जीव के दो उपयोगों का विशद वर्णन आचार्य ने सारगर्भित 6-8 गाथाओं में करके अपनी प्रखर बुद्धि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनमें पांचों ज्ञानों सहित जीव को भिन्न-भिन्न रूप से कहते हुए ज्ञानों के भेद-प्रभेदों का भी अच्छा विवेचन है। उन ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्ररूपित किया है। इसीप्रकार जीव में स्वभाव से विद्यमान संकोच-विस्तार गुण होने से जीव को स्वदेहपरिमाण वाला सिद्ध किया है और अन्य मतों की विपरीत मान्यताओं को खण्डित भी किया है। निश्चय नय और व्यवहार नय की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् कर्मों का कर्ता और कर्मों के फल का भोक्ता विवेचित किया है। स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला बताते हुए कहा है कि जीव निश्चित रूप से ऊर्ध्वगमन करता है, परन्तु जो कर्म सहित जीव हैं, वे विग्रहगति में चारों विदिशाओं को छोड़कर छहों दिशाओं में गमन करता है तथा शुद्ध जीव ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन ही करता है। इसके अलावा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने भी अन्य आचार्यों के अनुरूप ही कुछ गाथाओं में किया है।

तत्पश्चात् सात तत्त्वों का विशद वर्णन किया गया। उन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से 9 पदार्थ हो जाते हैं। अजीव तत्त्व का वर्णन करते हुए उसके भेदों में पुद्गलादि का वर्णन किया है। आस्रव का स्वरूप सामान्यतया पूर्वाचार्यों के समान ही प्रस्तुत किया है। बंध तत्त्व के वर्णन में उसके चार भेदों को भी स्पष्ट किया है। प्रकृति बंध के अन्तर्गत 8 कर्मों के स्वरूप को भी प्ररूपित किया है। स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध को सामान्य रूप से ही निरूपित किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि

तत्कालीन समय में लोगों को इन विषयों की जानकारी अच्छी रही होगी अथवा आचार्य देवसेन स्वामी को इन सभी विषयों को सूत्र रूप में वर्णन करना इष्ट होगा। संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन भी इसीप्रकार संक्षेप में किया गया है। आचार्य का स्पष्ट कथन है कि संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का उचित साधन है, अन्य कोई विधि से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

द्रव्य की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है। उन गुण और पर्यायों के संबंध में जो वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने किया है, वैसा कहीं अन्य किसी आचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ में नहीं मिलता। द्रव्य के सामान्य और विशेष गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन अपूर्व है। जो गुण सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं वे सामान्य गुण और जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। सामान्य गुण दस हैं और विशेष गुण 16 हैं, जो अलग-अलग द्रव्य के अलग-अलग हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में 6-6 और शेष निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के 3-3 विशेष गुण होते हैं।

गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं अथवा गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। इसके मुख्य रूप से दो भेद अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय हैं। इन दोनों के भेद-प्रभेदों का विस्तृत रूप से वर्णन मात्र आलाप पद्धति ग्रन्थ में ही प्राप्त होता है, जो आचार्य देवसेन स्वामी की विशेषता को दर्शाता है। पर्यायों को एक तालिका के रूप में प्रदर्शित करके इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

अनन्त धर्मात्मक तत्त्व की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमाण तथा नय के आधार पर की गई है। इन दोनों के द्वारा वस्तु को एक और अनेक रूपों में क्रमशः जाना जा सकता है। प्रमाण तथा नय का सम्बन्ध सापेक्ष है। नय को समझे बिना प्रमाणों के स्वरूप का बोध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन नय और प्रमाण द्वारा ही संभव है। नयवाद जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट विचार पद्धति है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के विवेचन में नय का उपयोग होता है। प्रमाण नयों का स्वरूप है। अतः प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिये पहले नयों का ज्ञान करना आवश्यक है। वस्तुस्वरूप को जानने में प्रवृत्त ज्ञानशक्ति जब श्रुतज्ञानात्मक उपयोग वस्तु को परस्पर

विरुद्ध पक्षों में से किसी एक पक्ष के द्वारा जानने में प्रवृत्त होता है तब उसे नय कहते हैं, और जब दोनों पक्षों के द्वारा जानने का प्रयत्न करता है अथवा धर्म-धर्मों का भेद किये बिना वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है, तब श्रुतज्ञानात्मक प्रमाण अथवा स्याद्वाद कहलाता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने नयों का वर्णन करते हुए लिखा है- नयों के मूल दो भेद हैं, जो नय लोक में पर्याय को गौण करके द्रव्य को ही ग्रहण करता या जानता है वह द्रव्यार्थिक नय कहा गया है जो द्रव्यार्थ के विपरीत है अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ही जानता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। इनमें द्रव्यार्थिक नय के 10 और पर्यायार्थिक नय के 6 भेदों के स्वरूप को भी बतलाया है। तत्पश्चात् नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय के स्वरूप और भेदों का वर्णन सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् उपनय के तीन भेद हैं- सद्भूतव्यवहार नय, असद्भूतव्यवहार नय, उपचरितासद्भूतव्यवहार नय। इनमें भी सद्भूतव्यवहार नय के दो भेद, असद्भूतव्यवहार नय और उपचरितासद्भूतव्यवहार नय के तीन-तीन भेद स्वरूप सहित वर्णित किये हैं। इसके बाद नयों और उपनयों के विषयों का वर्णन किया है। सभी नयों का वर्णन करने के पश्चात् वे अध्यात्मभाषा के नयों का वर्णन करते हुए लिखते हैं- नयों के मूल दो भेद हैं- एक निश्चय नय और दूसरा व्यवहार नय। उसमें निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का विषय भेद है। उनमें से निश्चय नय के दो भेद हैं- शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। इनमें भी शुद्ध निश्चय नय का विषय शुद्धद्रव्य है तथा अशुद्ध निश्चय नय का विषय अशुद्ध द्रव्य है।

नयों के स्वरूप को भली-भाँति जानकर के नयों का प्रयोग करके जो अपने कथनों की प्रवृत्ति करता है वास्तविकता में वही विद्वान् है। नय, प्रमाण का ही एक अंश है यह हम पहले भी समझ चुके हैं। नय को समग्र रूप से प्रस्तुत करना एक बहुत बड़ी कला है। उसी प्रकार नयों का योजन विभिन्न स्थानों में भी करना चाहिये। इसीलिए आचार्य देवसेन स्वामी ने एक अलग ही विषय प्रस्तुत किया है, किस-किस द्रव्य में किस-किस नय की अपेक्षा कौन-कौन स्वभाव पाया जाता है।

इसके पश्चात् प्रमाण का स्वरूप और भेद का वर्णन भी आचार्य ने नय के साथ किया है। प्रमाण का लक्षण करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी लिखते हैं कि समस्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है। जिस ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान प्रमाण है। सविकल्प और निर्विकल्प के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिये उपयोग लगाना पड़े वह सविकल्पक ज्ञान है। यह चार प्रकार है। 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्ययज्ञान। जिस ज्ञान में प्रयत्नपूर्वक, विचारपूर्वक या इच्छापूर्वक पदार्थ को जानने के लिए उपयोग नहीं लगाना पड़े वह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसका सिर्फ एक ही भेद है वह है केवलज्ञान।

इस प्रकार नय और प्रमाण का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने दोनों का विशेष रूप से किया है।

जैन आगम में वर्णित गुणस्थान वस्तुतः जैन दार्शनिकों, आचार्यों एवं तीर्थङ्करों की उन असंख्य मौलिक विवेचनाओं में से एक है, जिसे आज तक अन्य जैनेतर दर्शन स्पर्श भी नहीं कर पाये, न शब्दों से न ही अर्थ से। गुणस्थान को प्राथमिक दृष्टि से देखने पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की तरह दिखता है, परन्तु इस शिक्षा प्रणाली से पूर्णतया अलग ही है, न ही इसके प्रत्येक दर्जे पर समान समय लगता है, न ही क्रम से आगे बढ़ने की अनिवार्यता है और न ही सभी जीव इसमें समान रूप से आगे बढ़ सकते हैं। जैन आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों ने गुणस्थान के माध्यम से तीन लोक में व्याप्त समस्त जीवों का वर्गीकरण करके अध्ययन करने का मार्ग पर्याप्त रूप से प्रशस्त किया है। गुणस्थान पद्धति से जीवों के भावों का ज्ञान करना सरल हो गया है। गुणस्थानों में गति आदि की अपेक्षा से संक्षिप्त वर्णन करने से गुणस्थान का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हुआ है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने गुणस्थानों के अन्तर्गत ही सभी विषयों का वर्णन किया है। तत्पश्चात् छोटे-छोटे परिच्छेदों में भाव, लेश्या और ध्यान को गुणस्थान से योजित करके पृथक्-पृथक् वर्णन भी किया है। गुणस्थानों के नामों का उल्लेख करके उनके समयों का निर्धारण, गुणस्थानों में स्थित जीवों की भावों की विविधता विवेचित की है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान के पांच भेदों का वर्णन करते हुए मिथ्यात्व से होने वाली

हानि के विषय में विवेचन किया है। सभी गुणस्थानों के अन्त में उनकी विशेषतायें भी बताई गई हैं। अन्त में गुणस्थानातीत सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी विशेष रूप से प्ररूपित किया है।

जैनागम में गुणस्थान मूलतत्त्व की तरह काम करता है। गुणस्थान के द्वारा प्रत्येक सूक्ष्म विषय का गम्भीरतम तत्त्व भी सार रूप में प्रदर्शित करना जैन आचार्यों और दार्शनिकों की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराता है। वर्तमान काल में सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टि देने पर प्रतीत होता है कि विश्व जनसंख्या का अधिकाधिक हिस्सा प्रथम गुणस्थान के अन्तर्गत हैं। कुछ अंगुलियों में गिनने योग्य मनुष्य ही चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ और सप्तम गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। उत्कृष्ट संहनन का वर्तमान में अभाव होने से उपशम और क्षपक श्रेणी का भी अभाव है। अतः सप्तम गुणस्थान से ऊपर जाना संभव नहीं है। पञ्चम काल में मनुष्य मिथ्यात्व सहित ही उत्पन्न होते हैं, अतः पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार का उपदेश देना ही जैन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य है। गुणस्थान आरोहण की प्रेरणा भी इस उपदेश में गर्भित है।

इस संसार परिभ्रमण से मुक्त होने के लिए जीव को रत्नत्रय रूपी महौषधि का सेवन करना होगा और अपने वास्तविक स्वरूप में लीन होकर आत्मशक्ति से कर्मों का नाश करना होगा। इसमें रत्नत्रय को गर्भित करते हुए तप को जोड़कर चार आराधनाओं का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी द्वारा सहज रूप से किया गया है। आराधक के गुणों और उसकी पात्रता का भी वर्णन किया है। आराधक का विभिन्न लक्षणों और उपमाओं द्वारा प्ररूपण करते हुए आराधना का फल सल्लेखना बताया है। उपसर्ग और परीषहों के आने पर भी सल्लेखना में अडिग रहने का उपदेश देते हुए उपसर्ग विजेता मुनिराजों की कथाओं का उल्लेख भी आचार्य ने किया है।

भारतीय ध्यान परम्परा अतिप्राचीन है। चार्वाक को छोड़कर भारत के प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में ध्यान की सत्ता को स्वीकार किया है। ध्यान में एकाग्रता का होना अत्यावश्यक है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन के ध्यान की अवधारणा में भिन्नता प्रतीत होती है, इसलिए जैनआचार्यों ने ध्यान का स्वरूप अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। ध्यान के भेदों का वर्णन आचार्य देवसेन स्वामी ने मौलिक किया है। आचार्य ने

आर्त्त और रौद्र ध्यान के पश्चात् भद्र ध्यान जो अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं किया है, का वर्णन किया है। वह वास्तव में अपूर्व है। तत्पश्चात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया है। यहां उनका आशय यह है कि गृहस्थ के धर्म्यध्यान की साधना सहज नहीं है, परन्तु वह आर्त्त-रौद्र ध्यान से पाप बंध का अर्जन करता है, उसको अपने सद्ज्ञान और भद्रध्यान से नष्ट करता है। इसके पश्चात् चारों ध्यानों के साथ भद्रध्यान का स्वरूप विशेष रूप से प्रदर्शित किया है। फिर आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए ध्याता, ध्येय और ध्यान का फल प्ररूपित किया है। इसमें ही विशेष रूप से एक शून्य ध्यान का वर्णन किया है जो बिल्कुल शुक्ल ध्यान की ही तरह निर्विकल्पक बताया है, जो अन्य किसी आचार्य के द्वारा प्ररूपित नहीं किया गया। जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं है, किसी भी प्रकार का चिन्तन और धारणा का विकल्प नहीं है वह शून्य ध्यान है। शून्यता और शुद्धभाव में कोई अन्तर नहीं है। यहां शून्य ध्यान से तात्पर्य निर्विकल्पक समाधि है। ध्यानों को गुणस्थानों के अनुरूप ही वर्णित किया है।

आर्त्त ध्यान और रौद्र ध्यान तिर्यच एवं नरक गति का कारण होने से हेय हैं। भद्र ध्यान और धर्म्य ध्यान स्वर्गादि की प्राप्ति एवं परम्परा से मोक्ष का कारण होने से तात्कालिक उपादेय हैं और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण होने से परम उपादेय है, क्योंकि शुक्ल ध्यान, ध्यान की सर्वोच्च कोटि है। ध्येय रूप पंच परमेष्ठियों का वर्णन करते हुए टीकाकार ने आचार्य परमेष्ठी के भिन्न 36 मूलगुणों का वर्णन किया है।

दान के सन्दर्भ में आचार्य ने चार अधिकारों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है - दाता, पात्र, देने योग्य द्रव्य और देने की विधि। आचार्य ने पात्र के दो विशेष भेद किये हैं - वेदमय पात्र और तपोमय पात्र। यहाँ वेद से तात्पर्य सिद्धान्त-शास्त्र है। इसके पश्चात् पात्रदान का फल और महत्त्व, कुपात्रों को दान का फल, नहीं देने योग्य द्रव्य और आहार दान में ही चारों दानों को गर्भित करते हुए अच्छी प्रकार से आहार दान के महत्त्व का वर्णन किया है। अपने द्रव्य को किस प्रकार सदुपयोग में लगाना चाहिये, इसका भी उपदेश दिया ।

पुण्यास्रव के मुख्य कारणों में जिनपूजा का विशेष वर्णन करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी ने पूजा की विधि, पूजा के यन्त्र की विधि, पूजा के फल का विशद रूप से प्ररूपण किया है। इसप्रकार से पूजा की विधि अन्य किसी आचार्य ने वर्णित नहीं की है।

संक्षेप से श्रावकों के अष्ट मूलगुण और अणुव्रत सहित बारह व्रतों का भी वर्णन किया है। शिक्षाव्रत के भेदों में सल्लेखना को भी ग्रहण किया है।

भारत धर्मनिरपेक्ष देश होने के कारण विभिन्न धर्म, दर्शन और सम्प्रदायों का समूह है। प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त पृथक्-पृथक् हैं। समस्त दार्शनिकों अथवा मत प्रवर्तकों का मुखिया आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव का महामोही और मिथ्यात्वी पौत्र मरीचि पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उसने ऐसे विचित्र दर्शन का प्रवर्तन किया कि जिससे कुछ सिद्धान्तों के परिवर्तन से अनेक मतों का प्रवर्तन हो गया। आचार्य देवसेन स्वामी के अनुसार मरीचि सभी मतों का साक्षात् प्रणेता नहीं है, उन मतों में कुछ उतार-चढ़ाव होते रहे और विभिन्न मत प्रचलित हो गये। इनमें सिद्धान्तों का बीज मरीचि का ही है और ये सभी एकान्त को पुष्ट करने वाले होने से सदोष कहलाये। अतः जैनाचार्यों ने स्याद्वाद से इन सभी मतों की समीक्षा की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मरीचि सांख्य और योग का प्ररूपक है, जबकि सांख्य के प्रणेता कपिल और योग के प्रणेता पतंजलि हैं, जो ऋषभदेव के तो काफी वर्षों बाद उत्पन्न हुए हैं।

उन एकपक्षी मिथ्यात्वी मतों को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी पांच भेदों में विभक्त किया है। विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान। इन पांचों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके उनकी सम्यक् समीक्षा की है। इन मतों की उत्पत्ति, उत्पत्तिकर्ता, उनका पालन करने का फल और उनकी संक्षेप में समीक्षा अच्छी प्रकार से की है।

इसी संदर्भ में श्राद्धों को पिण्डदान देना, गोमांस भक्षण, गोयोनि वन्दना आदि का तर्कयुक्त समीक्षण करके इनको विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत वर्णित किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने श्वेताम्बर मत को संशय मिथ्यात्वी कहते हुए उनके सग्रन्थ लिंग से मोक्षप्राप्ति, स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति को और अन्य मान्यताओं को युक्ति संगत तर्कों द्वारा खण्डन करके समीक्षा की है। मस्करीपूरण को अज्ञान मिथ्यात्वी बताते

हुए उसके सिद्धान्तों का भी समीक्षात्मक खण्डन किया है। आचार्य ने विपरीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत तीर्थजल स्नान से आत्मशुद्धि, मांस भक्षण को धर्म और मांस भक्षण कराने से पितरों को तृप्ति तथा गोयोनि वंदना को वर्णित करके उनमें व्याप्त दोषों का निराकरण करके इन मिथ्यात्वों को दूर करने का उपदेश दिया। इन विपरीत मान्यताओं में आश्चर्य प्रकट करते हुए आचार्य कहते हैं कि इनके मानने वाले भ्रान्तिमय तर्कों को प्रस्तुत करके स्वयमेव पाप का बंध करते हैं और अन्य लोगों को भी भ्रमित करते हैं।

भारतवर्ष हमेशा से समस्त विश्व का आध्यात्मिक गुरु माना गया है। इसी कारण से भारत का प्राचीन नाम विश्वगुरु है। विश्व के प्राचीन लिखित ग्रंथ वेद और उपनिषद में पर्याप्त आध्यात्मिक विषय वर्णित है। आचार्य देवसेन स्वामी ने जिनागम के प्रत्येक विषय को छुआ है, अतः अध्यात्म से दूर कैसे रह सकते थे, इसलिये उन्होंने बहुधा अध्यात्मपरक चिन्तन को भी व्यक्त किया, इसी कारण से उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में भगवान् महावीर को मंगलाचरण में नमस्कार किया है, परन्तु उन्होंने अपने आध्यात्मिक ग्रंथ तत्त्वसार में सिद्ध परमात्मा को ही नमस्कार किया है।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि तत्त्व का सामान्य रूप से आशय यह है कि पदार्थ जिस रूप में होता है उसका उस रूप होना ही तत्त्व कहलाता है। सामान्य से पदार्थों के स्वभावगत तत्त्वों की गणना करना चाहें तो वे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। भेदगत दृष्टि से तो तत्त्व सात ही होते हैं। उनका कहना है कि जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती। वह तत्त्वज्ञान सदशास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिन्तन से ही संभव हो सकता है, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के आत्मकल्याण होना असंभव है। आचार्य देवसेन स्वामी ने तत्त्व के भिन्न प्रकार से दो भेद किये हैं। स्वगत तत्त्व तथा परगत तत्त्व। उनके अनुसार स्वगत तत्त्व निजात्मा और परगत तत्त्व सभी जीवों के आश्रयभूत पंच परमेष्ठी हैं। इन पंच परमेष्ठी के चिंतन करने से किस प्रकार के फल की प्राप्ति होती है, तो आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि- उन पंच परमेष्ठियों के पंचक अक्षर रूप मंत्रों का ध्यान करने वाले भव्य जीव बहुत पुण्य का अर्जन करते हैं और उनको परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने इसमें आत्मा को विभिन्न उपमाओं से अलंकृत किया है। शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति का उपाय, परम लक्ष्य शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप भी अत्यन्त सुन्दरता से वर्णित किया है। अन्त में अन्य दर्शनों में आत्मतत्त्व का विवेचन को प्रस्तुत करके जैनदर्शन में वर्णित आत्मा का मण्डन किया है।

इसप्रकार आचार्य देवसेन स्वामी ने जैनागम के प्रत्येक सिद्धान्तों को अपनी दार्शनिक दृष्टि से स्पर्श करने का सफलतम प्रयत्न किया है जो निश्चित रूप से उनको दसवीं शताब्दी का महान् आचार्य द्योतित करता है। आचार्य ने ऐसे कई विषयों का विवेचन किया है जो अन्य किसी भी आचार्य ने वर्णित नहीं किये हैं। ये इनकी विशेषता ही है कि इनका इतने सारे विषयों पर समान अधिकार है।



परिशिष्ट

प्रथम परिच्छेद : जिनकल्प और स्थविरकल्प

जिनेन्द्र भगवान् ने श्रमण परम्परा में दो धर्मों का निरूपण किया है। मुनिधर्म और श्रावकधर्म, इनके अलावा कोई भी तीसरा अन्य मार्ग अथवा धर्म नहीं है। जो शिथिलाचारी साधु अपने शिथिलाचार को छुपाने के लिए विभिन्न कल्पनाओं की रचना करते हैं और कहते हैं कि हम तो स्थविरकल्पी हैं, इसलिए हमको कंबल, दण्ड, वस्त्र, सोना आदि रखने में कोई दोष नहीं है। जबकि उनके परिणाम संशय और मिथ्यात्व आदि से सहित होते हैं। उनको फटकार लगाते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि कंबल आदि रखना स्थविरकल्प नहीं बल्कि गृहस्थकल्प है, क्योंकि ये सब रखना तो गृहस्थों का कार्य है। साधुओं को तो सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग बताया गया है। यह परिग्रह तो सर्व पापों का कारण है, यह स्वर्ग और मोक्ष का कारण कैसे हो सकता? अर्थात् कभी नहीं हो सकता है।

जो लोग जिनकल्प और स्थविरकल्प के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं तो उनको इनका वास्तविक स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि-

दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तम संहणणधारिस्स॥

अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र ने जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दोनों प्रकार के मार्ग दिखलाये हैं। इनमें से जो उत्तम संहनन को धारण करने वाले महामुनि हैं, वे जिनकल्पी मुनि कहलाते हैं।

इनके ही स्वरूप को और भी विशेष रूप से वर्णित करते हुए कहते हैं- ये महामुनि पैर में कांटा अथवा नेत्रों में धूलि पड़ जाने पर अपने हाथ से दूर नहीं करते। यदि कोई अन्य पुरुष निकाल देता है तो चुप रहते हैं। ये विपत्ति आने पर विषाद और दूर होने पर हर्ष न करते हुए दोनों अवस्थाओं में समान भाव रखते हैं। ये महामुनि वर्षा ऋतु आने पर गमन बन्द करके 6 माह तक कायोत्सर्ग धारण करके निराहार एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं। वे जिनकल्पी मुनिराज ग्यारह अंग के पाठी, धर्म्य अथवा शुक्लध्यान में लीन, सर्वकषायों के त्यागी, मौन व्रती और गुफाओं आदि में रहते हैं। ये मुनिराज जिनकल्पी अर्थात् जिनेन्द्र के समान क्यों कहलाते हैं, इसका स्पष्टीकरण देते हुए

आचार्य कहते हैं कि ये मुनि सर्वसंगरहित, परम वीतरागी होते हैं। ये यतीश्वर जिनेन्द्रदेव के समान सदाकाल विहार करते रहते हैं, इसलिए ये जिनकल्पी कहलाते हैं।

अब स्थविरकल्पी मुनियों के स्वरूप को कहते हैं-

स्थविरकल्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।

पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं॥

अर्थात् भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए स्थविरकल्पी का स्वरूप कहा है- जो मुनि पांचों प्रकार के वस्त्रों (सूत, रेशम, ऊन, चर्म और वृक्षों की छाल के बने वस्त्र) का सर्वथा त्याग करके आकिंचन व्रत धारण करते हैं और पीछी रखते हैं, ऐसे मुनिराज स्थविरकल्पी कहलाते हैं। यहां विशेष यह जानना चाहिए कि जो पीछी मृदु हो, छोटी हो, धूल-मिट्टी को ग्रहण न करती हो, वही प्रशंसनीय है।

ये मुनिराज साधुओं के 28 मूलगुण पांच महाव्रत, पांच समिति, छह आवश्यक, पंचेन्द्रिय विजय और सात शेष गुण, इनका निरतिचार पालन करते हैं। वे यथासमय उत्तरगुणों का पालन, अनुप्रेक्षाओं का चिंतन, दशधर्मों का पालन, परीषहजय, चारित्रपालन और तपश्चरण आदि को सहज भाव से पालते हैं। जिनदेव के समान आचरण करने से स्थविरकल्प मुनि कहलाते हैं। इस दुःषमा काल में शरीर का हीन संहनन होने से ये मुनिराज किसी गांव, नगर अथवा पुर में रहते हैं। ये संयम का उपकरण पीछी, शुद्धि का उपकरण कमण्डलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र किसी के द्वारा भेंट किये जाने पर ग्रहण कर लेते हैं।

इस पंचमकाल में वे स्थविरकल्प मुनि एकल विहारी न होकर समुदाय में विहार करते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार जिनधर्म की प्रभावना करते हैं। भव्य जीवों को यथायोग्य अर्थात् श्रावकों को प्रतिमा रूप और परम विरक्त श्रावकों को मुनि दीक्षा देकर अपने-अपने पद के अनुसार चारित्र का पालन कराते हैं तथा निरन्तर सबको धर्म में दृढ़ रखते हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी उन स्थविरकल्प मुनियों की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि इस पंचमकाल में हीन संहनन और मन अत्यन्त चंचल होने पर भी यह आश्चर्य है कि वे धीर-वीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करके उत्साहित होते हैं और चतुर्थकाल में

जिन कर्मों को मुनि हजारों वर्षों में नष्ट करते थे, उन्हीं कर्मों को स्थविरकल्पी मुनि एक ही वर्ष में क्षय कर डालते हैं।

इसप्रकार आचार्य कहते हैं कि ये दो प्रकार के मुनि ही जिनेन्द्रदेव ने बतलाये हैं। इनके अतिरिक्त जो कल्प की कल्पना की गई है, वह निश्चित रूप से पाखण्डियों ने ही की है। जो तपश्चरण से भ्रष्ट हो गये हैं, परीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं हैं और दुःख का अनुभव करते हैं, ऐसे लोग अपनी दुष्प्रवृत्ति को संसार के अज्ञानी लोगों के समक्ष व्याख्या करके ठगते हैं। यह अत्यन्त दुःख की बात है।

तीय परिच्छेद : विभिन्न संघों की उत्पत्ति

वर्तमान में जैनधर्म में बहुसंघों का प्रचलन हो रहा है। जो भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् के हैं। ई.पू. 5वीं शती में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। अनन्तर 5वीं शती ई.पू. में भद्रबाहु स्वामी के समय तक एक ही निर्ग्रन्थ संघ का प्रचलन चल रहा है। दुर्भाग्य से भद्रबाहु स्वामी के समय 12 वर्ष का दुर्भिक्ष आने पर उनकी समाधि के पश्चात् श्वेताम्बर संघ तथा दिगम्बर संघ में निर्ग्रन्थ संघ के दो भाग हो गये। ये दोनों संघ कुछ समय तक अविच्छिन्न रूप से चलते रहे, इसके पश्चात् इन संघों में भी मतभेद होना प्रारंभ हो गये। जिससे इन संघों के भी उत्तर संघ स्थापित हुए।

कालान्तर में निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर संघ से काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, माथुरसंघ आदि संघों की उत्पत्ति हुई। इन संघों के साधु यद्यपि एकान्त-अचेल मुक्तिवादी थे, तथापि इन्होंने अपने सिद्धान्तों में कुछ ऐसा परिवर्तन कर लिया कि इन्हें जैनाभास घोषित कर दिया गया तथा ईसा की पांचवीं शती के प्रारंभ में श्वेताम्बर श्रमण संघ से यापनीय संघ का आविर्भाव हुआ। यह दिगम्बरों के समान अचेललिंग तथा श्वेताम्बरों के समान अचेललिंग दोनों पर विश्वास करता था। यह संघ श्वेताम्बर आगमों में चर्चित स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति आदि का पूर्ण समर्थक था।

द्रविड संघ

इन संघों के वर्णन करने में आचार्य देवसेन स्वामी ने सर्वप्रथम द्राविड संघ का कथन इस प्रकार किया है- विक्रम सम्वत् 526 में दक्षिण मथुरा नगर में आचार्य पूज्यपाद स्वामी का शिष्य वज्रनन्दि द्राविड संघ का उत्पन्न करने वाला हुआ। यह समयसारादि प्राभूतों का ज्ञाता और महान् पराक्रमी था। मुनिराजों ने सदोष होने के कारण सचित्त चनों को खाने से रोका, क्योंकि इसमें दोष होता है, परन्तु वह न माना और बिगड़कर विपरीत रूप प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों की रचना कर ली। उसके अनुसार बीजों में जीव नहीं होते हैं, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है और मुनियों को खड़े-खड़े भोजन करने की विधि नहीं है। वह कोई सावद्य भी नहीं मानता था और गृहकल्पित अर्थ को भी नहीं गिनता था।

उसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनिजन यदि रोजगार करावें, खेती करावें, वसतिका बनावें और जल में स्नान करें तो कोई दोष नहीं है।

यापनीय संघ

यापनीय संघ के विषय में आचार्य देवसेन स्वामी ने अधिक विवेचन न करके मात्र इसकी उत्पत्ति का समय और जनक का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कल्याण नामक नगर में वि.सं. 705 और अन्य प्रति में 205 में श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु से यापनीय संघ की उत्पत्ति हुई। पं. नाथूराम जी प्रेमी ने इस संघ की कुछ विशेष मान्यताओं का वर्णन किया है, जो निम्नलिखित हैं-

यापनीय संघ की मान्यताएँ

25वीं गाथा में यापनीय संघ का उल्लेख मात्र है, परन्तु उसके सिद्धान्त आदि बिल्कुल नहीं बतलाये हैं। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में श्रीकलश नाम के आचार्य कोई हुए हैं या नहीं, जिन्होंने यापनीय संघ की स्थापना की, पता नहीं लगा। अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इस संघ के साधु नग्न रहते थे; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय को जो दो बातें मान्य नहीं हैं- एक तो स्त्रीमुक्ति और दूसरी केवलिभुक्ति, उन्हें यह मानता था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों को भी शायद वह मानता था, ऐसा शाकटायन की अमोघवृत्ति के कुछ उदाहरणों से मालूम होता है। आचार्य शाकटायन अथवा पाल्यकीर्ति इसी संघ के आचार्य थे। उन्होंने 'स्त्रीमुक्तिकेवलिभुक्तिसिद्ध' नाम का एक ग्रन्थ बनाया था। यापनीय को 'गोप्यसंघ' भी कहते हैं।

आचार्य हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नकृत टीका के चौथे अध्याय की प्रस्तावना में दिगम्बर सम्प्रदाय के (द्रविड संघ को छोड़कर) संघों का इस प्रकार परिचय दिया है-"दिगम्बर नग्न रहते हैं और हाथ में भोजन करते हैं। इनके चार भेद हैं- काष्ठासंघ, मूलसंघ, माथुर और गोप्य। इनमें काष्ठसंघ के साधु चमरी के बालों की और मूलसंघ तथा यापनीय संघ के साधु मोर के पंखों की पिच्छिका रखते हैं; परन्तु माथुर संघ के साधु पिच्छिका बिल्कुल ही नहीं रखते हैं। पहले तीन वन्दना करने वाले को 'धर्मवृद्धि' देते हैं और स्त्रीमुक्ति-केवलीभुक्ति तथा वस्त्रसहित मुनि को मुक्ति नहीं मानते हैं। गोप्यसंघ वाले 'धर्मलाभ' कहते हैं और स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति को मानते हैं। गोप्य संघ को योपनीय भी कहते हैं। चारों ही संघ के साधु भिक्षाटन में और भोजन में 32 अन्तराय और 14 मलों को टालते हैं। इसके सिवाय शेष आचार में तथा देवगुरु के

विषय में सब श्वेताम्बरों के ही तुल्य हैं। उनमें शास्त्र में और तर्क में परस्पर और कोई भेद नहीं है” इस उल्लेख से यापनीय संघ के विषय में कई बातें मालूम हो जाती हैं और दूसरे संघों में भी जो भेद हैं, उनका पता लग जाता है।

काष्ठासंघ

इस संघ की उत्पत्ति को वर्णित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- श्री वीरसेन स्वामी की परम्परा में आचार्य जिनसेन के शिष्य विनयसेन नामक मुनि के शिष्य कुमारसेन ने वि.सं. 753 में काष्ठा संघ की उत्पत्ति की। उनके शिष्य के विषय में दर्शनसार में इस प्रकार कहते हैं कि-

आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिविखयओ।

सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिविखओ जादो।।33।।

अर्थात् नन्दीतट नगर में विनयसेन मुनि के द्वारा दीक्षित हुआ कुमारसेन नाम का मुनि था। उसने संन्यास से भ्रष्ट होकर फिर से दीक्षा नहीं ली और मयूरपिच्छी को त्याग कर तथा चँवर (गौं के बालों की पिच्छी) ग्रहण करके उस अज्ञानी ने सारे बागड़ प्रान्त में उन्मार्ग का प्रचार किया। उसने स्त्रियों को दीक्षा देने का, क्षुल्लकों को वीरचर्या का, मुनियों को कड़े बालों की पिच्छी रखने का और रात्रिभोजन त्याग नामक छट्ठे गुणव्रत का विधान किया। इसके सिवाय उसने अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित्त ग्रन्थों का कुछ और ही प्रकार के रचकर मूर्ख लोगों में मिथ्यात्व का प्रचार किया।

इस तरह उस मुनिसंघ से बहिष्कृत, समय मिथ्यादृष्टि, उपशम को छोड़ देने वाले और रौद्र परिणाम वाले कुमारसेन ने काष्ठासंघ का प्ररूपण किया।

माथुर संघ

मथुरा में वि.सं. 953 में रामसेन नामक मुनि ने माथुर संघ का प्रादुर्भाव किया। उसने यह उपदेश दिया कि मुनियों को न मोर की पिच्छी रखने की आवश्यकता है और न ही बालों की उसने पिच्छी का सर्वथा ही निषेध कर दिया। उसने अपने और पराये प्रतिष्ठित किये हुए जिनबिम्बों की ममत्व बुद्धि द्वारा न्यूनाधिक भाव से पूजा वंदना करने, मेरा गुरु यह है दूसरा नहीं है इसप्रकार के भाव रखने, अपने संघ का अभिमान करने

और दूसरे संघों का मान भंग करने रूप सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व का उपदेश दिया। साथ ही यह भी कहा कि विदेह क्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर दिव्य ज्ञान प्राप्त करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी यदि उपदेश न देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जान पाते और पुष्पदंत, भूतबलि ने जो मार्ग बताया है वही सच्चे धर्म का स्वरूप है।

भिल्लक संघ

आचार्य देवसेन ने अपनी कृति दर्शनसार में भिल्लक संघ की उत्पत्ति के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं कि विक्रम संवत् 1800 में दक्षिण में विन्ध्यपर्वत के समीप पुष्कर नामक ग्राम में वीरचन्द्र नामक मुनि ने भिल्लक संघ की स्थापना की। जो अपना एक भिन्न संघ बनाकर विभिन्न विवाद उत्पन्न करेगा तथा जैनधर्म का विनाश करेगा। तथा पंचम काल के अंत में सच्चे मुनियों का नाश होगा। केवल एक ही वीरांगज नामक मुनि मूलगुणों का धारी होगा जो अल्पश्रुत का धारक बनकर भगवान के समान लोगों को उपदेश देगा।

इस परिच्छेद में पांच संघों का वर्णन किया गया है जिसमें - द्राविड़ संघ की उत्पत्ति आचार्य पूज्यपाद स्वामी के शिष्य वज्रनन्दि ने की। ये वज्रनन्दि आचार्य समयसार आदि प्राभृत ग्रन्थों के ज्ञाता तथा जिनवाणी के सिद्धान्त ग्रन्थों को मानने वाले थे। परन्तु आहारचर्या के विषय में इनकी मान्यता भिन्न थी। ये सदोष आहार ग्रहण करते थे और जब इन्हें सदोष आहार ग्रहण करने से रोका गया तो इन्होंने सदोष आहार को निर्दोष बताने के लिये विपरीत रूप प्रायश्चित्तादि शास्त्रों की रचना की। विक्रम संवत् 526 में अर्थात् 469 ई. में मथुरा नगर में द्राविड़ संघ की उत्पत्ति हुई।

काष्ठा संघ की उत्पत्ति आचार्य वीरसेन की परम्परा में पांचवीं पीढ़ी में जिनसेन मुनि के पश्चात् विनयसेन मुनि आचार्य हुए, इनसे दीक्षित कुमारसेन मुनि हुए जिन्होंने संन्यास से भ्रष्ट होकर फिर से दीक्षा नहीं ली। इन्होंने विक्रम संवत् 753 अर्थात् 696 ई. में काष्ठा संघ की उत्पत्ति की।

माथुर संघ की उत्पत्ति विं. सं. 953 अर्थात् 896 ई. में मथुरा में हुई। इसकी उत्पत्ति रायसेन मुनि ने की जो पिच्छी रखने का निषेध करते थे। इन संघों के अतिरिक्त

भिल्लक संघ उत्पन्न हुआ, जो वीरचन्द्र मुनि के द्वारा संचालित हुआ। इसने अपना एक भिन्न गच्छ बनाकर भिन्न प्रतिक्रमण विधि बनायी। इसकी उत्पत्ति वि. सं. 1800 अर्थात् 1743 ई. में हुई। ये चारों संघ निर्ग्रन्थ संघ से निकले। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर संघ में दिगम्बर संघ तथा श्वेताम्बर संघ दोनों की मान्यता का अवधारक यापनीय संघ हुआ।

इस प्रकार दिगम्बर मत के सिद्धान्त को मानने के कारण यापनीय संघ को कथञ्चित् दिगम्बर संघ का भेद भी कह सकते हैं।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

1. अमितगति श्रावकाचार - आचार्य अमितगति, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, द्वितीयावृत्ति, 1958
2. आदिपुराण - आचार्य जिनसेन स्वामी, सम्पादन-अनुवाद- डॉ. पत्रालाल जी, साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण सन् 1988, प्रथम संस्करण, सन् 1950
3. आराधनासार - आचार्य देवसेन, संस्कृत टीका आचार्य रत्नकीर्तिदेव, सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार पं. पत्रालाल जैन, प्रकाशक श्री शान्तिवीर दिग जैन संस्थान, महावीरजी (राज.) प्रथम संस्करण 1971
4. आराधना कथा प्रबन्ध - प्रभाचन्द्रकृत, भाषा-अनु. रमेशचन्द्र, आचार्य शान्तिसागर स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना (उ.प्र.), 1990
5. आवश्यक निर्युक्ति - आचार्य भद्रबाहुकृत, संपा. समणी कुसुम प्रज्ञा, जैन विश्वभारती, एवं शोध-संस्थान, जबलपुर, 2002
6. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) - नेमिचन्द्राचार्य, कर्णाटक वृत्ति-संस्कृत टीका, जीवतत्त्वप्रदीपिका, श्रीमद् केशवणविरचित, सम्पादक, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980
7. णयचक्को - श्री माइल्लधवल, सम्पादन-अनुवाद, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1971, द्वितीय संस्करण, सन् 1999
8. तत्त्वार्थराजवार्तिक - आचार्य अकलङ्कस्वामी, सम्पादन-महेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम भाग, छठवाँ संस्करण 2001, द्वितीय भाग 2001
9. तत्त्वसार - आचार्य देवसेन, व्याख्याकार-मुनि विशुद्ध सागर, सम्पादक-मुनि विश्ववीर सागर, प्रकाशक-सम्यग्ज्ञान वाचना प्रकाशन समिति, विदिशा (मध्यप्रदेश), प्रथम संस्करण, सन् 2004

10. तत्त्वार्थसूत्र - आचार्य उमास्वामी, सम्पादक-फूलचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-श्रीगणेश प्रसाद वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, नरिया, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1991
11. तत्त्वार्थानुशासन - आचार्य रामसेन, वीर सेवा मन्दिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथमावृत्ति, 1963
12. दर्शनसार - आचार्य देवसेन, सम्पादक-पं. नाथूराम जी 'प्रेमी' प्रकाशक-जैन ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय-हीराबाग, बम्बई (महा.), प्रथम संस्करण, सन् 1917
13. दर्शनसार - आचार्य देवसेन, सम्पादक-प्रो. कमलेश कुमार जैन, प्रकाशक-प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), प्रथम संस्करण, सन् 2007
14. दशवैकालिकं - वाचना प्रमुख, आचार्य तुलसी, सम्पादक-मुनि नथमल, प्रकाशन-जैन विश्वभारती, लाडनू (राज.), द्वितीय संस्करण, 1974, प्रथम संस्करण, 1964
15. देशीनाममाला - आचार्य हेमचन्द्र विरचित, सम्पा. आर. पिशेल, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1989
16. धर्मामृत (अनगार) - पं. आशाधर, ज्ञानदीपिका संस्कृत पंजिका तथा हिन्दी टीकासहित, सम्पादक-कैलाशचन्द्र शास्त्री, चतुर्थ संस्करण, 2000
17. धर्मामृत (सागार) - पं. आशाधर, ज्ञानदीपिका संस्कृत पंजिका तथा हिन्दी टीका सहित, सम्पादन-अनुवाद-श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2000 (प्रथम संस्करण, 1978)
18. नन्दी-वाचना प्रमुख - आचार्य तुलसी, सम्पादक-विवेचक-आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक-जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनू (राज.), प्रथम संस्करण, 1997

19. पउमचरिउ - स्वयंभूकृत, सम्पा. एस.सी. भायाणी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वि.सं. 1989
20. पञ्चास्तिकाय - आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, तत्त्वप्रदीपिका-तात्पर्यवृत्ति-बालबोधभाषेति टीकात्रयोपेतः, प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, पंचम संस्करण, वि. सं. 2054, प्रथम संस्करण, वि. सं. 1961
21. पदमसिरिचरिउ; धाहिलकृत, सम्पा. एच.सी.भायाणी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, वि.सं. 2005
22. परमात्म प्रकाश - पुष्पदंतकृत, सम्पा. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बम्बई, 1937
23. प्रवचनसार - आचार्य कुन्दकुन्द, तत्त्वदीपिका तात्पर्यवृत्ति हिन्दी बालबोधिनी भाषा चेति टीकात्रयोपेता, सम्पादक-आ. ने. उपाध्ये, प्रकाशक-श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगास, चतुर्थ संस्करण, 1984 (प्रथम संस्करण, 1968)
24. पाहुड दोहा, मुनि रामसिंहकृत, सम्पा. हीरालाल जैन, जैन सिरीज, कारंजा, 1933
25. प्राकृत पैंगलम्, सम्पा. भोलाशंकर व्यास, प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, 1956
26. प्राकृत व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्रकृत, सम्पा. श्री ज्ञानमुनि महाराज, आचार्यश्री आत्माराम जैन, मॉडल स्कूल, कमला नगर, दिल्ली-7, 1974, भाग 1-2
- बृहद्द्रव्यसंग्रह - नेमिचन्द्राचार्य, संस्कृत टीका, ब्रह्मदेवसूरि, हिन्दी टीका, जवाहरलाल शास्त्री, प्रकाशक-श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगास, पंचम संस्करण, 1989 (प्रथम संस्करण, 1963)
- वसंग्रह - आचार्य देवसेन, हिन्दी टीका-पं. लालाराम शास्त्री 'मैनपुरी', प्रकाशक-ब्र. चांदमल चूड़ीवाल, नागौर (राज.) प्रथम संस्करण, सन् 1956

29. मरणकण्डिका - आचार्य अमितगति, टीकाकर्त्री, विशुद्धमतीजी, सम्पादन-चेतन प्रकाश पाटनी, प्रकाशक-श्रुतोदय ट्रस्ट, श्री क्षेत्र सिद्धान्त तीर्थ संस्थान, धरियावाद, उदयपुर (राज.), प्रथम संस्करण, 2004
30. महापुराण, पुष्पदन्तकृत, मूल सम्पा. पी.एल. वैद्य, सम्पा. देवेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, (भाग-1,2,3,4,5), 2001
31. मूलाचार - श्रीमद् वट्टकेराचार्य, संस्कृत टीका, वसुनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती, सम्पादन-कैलाशचन्द्र शास्त्री, जगन्मोहनलाल शास्त्री, पन्नालाल जैन साहित्याचार्य प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पंचम संस्करण, 2002
32. रत्नकरण्डक श्रावकाचार - आचार्य समन्तभद्र, संस्कृत टीका, प्रभाचन्द्र आचार्य, पद्यानुवाद (रयणमंजूषा), आचार्य विद्यासागर जी, हिन्दी रूपान्तरकार एवं सम्पादक-पन्नालाल शास्त्री, प्रकाशक-श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति सागर (म.प्र.) छठवाँ संस्करण, 1998
33. लब्धिसार - आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथमावृत्ति, 1916
34. श्रावकाचार संग्रह (चतुर्थ भाग) - सम्पादन-हीरालाल शास्त्री, प्रकाशक-जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (महा.) प्रथम संस्करण, 1979
35. सर्वार्थसिद्धिः - आचार्य पूज्यपाद स्वामी, सम्पादन-अनुवाद- पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, ग्यारहवाँ संस्करण, 2002
36. स्वयम्भूस्तोत्र - आचार्य समन्तभद्र स्वामी, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा जि. सहारनपुर, प्रथम संस्करण, 1961
37. सांख्यकारिका - महर्षि ईश्वरकृष्ण, निर्णय सागर मुद्रणालय, मुम्बई, प्रथम संस्करण, 1912
38. सांख्यकारिका - सम्पादक - देशमोहन चतुर्वेदी, प्रकाशक-नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 1988

39. हरिवंश पुराण, जिनसेनकृत, सम्पा. पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1962
40. ज्ञानार्णव आचार्य शुभचन्द्र श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण, 1907

आधुनिक समालोचनात्मक ग्रन्थ

41. आचार्य विद्यासागर महाराज - पद्यानुवाद, कुन्दकुन्द का कुन्दन, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसार ग्रंथमाला, श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर, जयपुर (राज.) तृतीय संस्करण, 2004 (प्रथम संस्करण, 1998)
42. कासलीवाल कस्तूरचन्द्र एवं जोहरापुरकर विद्याधर - वीरशासन के प्रभावक आचार्य, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975
43. गांग सुषमा - आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि, प्रकाशन-भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1082
44. जैन, जगदीश चन्द्र - प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्रकाशक-चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, (उ.प्र.), (प्रथम संस्करण, 1961), द्वितीय संस्करण, 1985
45. जैन, जिनेन्द्र - जैन काव्यों का दार्शनिक मूल्यांकन, प्रकाशक - राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2001
46. शास्त्री, परमानन्द जैन - जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग-2), प्रकाशक-रमेशचंद्र जैन, पी. एस. जैन मोटर कम्पनी, राजपुर रोड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वीर निर्वाण संवत् 2500
47. शास्त्री, नेमिचंद्र - तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-2), प्रकाशक-आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रंथमाला, पो. बुढ़ाना, जि. मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), (प्रथम संस्करण, 1974, द्वितीय संस्करण, 1992)
48. समणी, मंगलप्रज्ञा - जैन आगम में दर्शन, प्रकाशक-जैन विश्वभारती, लाडनूं, प्रथम संस्करण, सन् 2005

49. साध्वी, संधमित्रा - जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, प्रकाशक - जैन विश्वभारती, लाडनू (राज.), सम्पादक-साध्वी ललित प्रभा, साध्वी शीलप्रभा (प्रथम संस्करण, सन् 1979), तृतीय संस्करण, सन् 1994

कोश ग्रंथ

50. अमरकोश, अमरसिंह, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
51. कुन्दकुन्द शब्दकोष - उदयचन्द्र जैन, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वीर निर्वाण सं. 2517
52. जैन लक्षणावली - बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, प्रकाशक-वीरसेवा मंदिर दिल्ली, खण्ड-1, 1972, खण्ड-2, 1973, खण्ड-3, 1979
53. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग-1-4)- सम्पादक-क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण, सन् 1971), तृतीय संस्करण, सन् 1992, भाग-1, (प्रथम संस्करण, सन् 1970), तृतीय संस्करण 1990, भाग-2 तृतीय संस्करण, 1992, भाग-3, तृतीय संस्करण 1971, भाग-4 चतुर्थ संस्करण, 1993
54. देशीशब्द कोश, प्रधान सम्पा. आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ, सम्पा. मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती, लाडनू, 1988
55. पाइअ-सद्द-महण्णवो, हरगोविन्ददास विक्रम सेठ, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, 1963
56. संस्कृत हिन्दी कोष - वामन शिवराम आप्टे, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1969 (प्रथम संस्करण, 1966)
57. हिन्दी विश्वकोश, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1973

पत्र-पत्रिकाएँ

58. अनेकान्त, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

59. अपभ्रंश, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, जयपुर
60. जैन विद्या, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, जयपुर
61. तुलसीप्रज्ञा, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ, राजस्थान
62. प्राकृत विद्या, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
63. श्रमण, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस



